UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186683

UNIVERSAL
LIBRARY

भारत सरकार की ओर से भेंट

धर्म-निरपेक्ष राज्य

[सिक्युलर स्टेट]

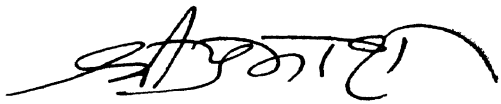
लेखक

रघुनाथसिंह एम० पी०

प्राक्कथन



भूमिका



प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्रा० लि०, प्रयाग

१९६१

मूल्य ६·५० नये पैसे

प्रकाशक
बी० एन० माथुर
इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

Checked 1969

मुद्रक
पी० एल० यादव
इण्डियन प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

प्रस्तावना

मेरे सहयोगी श्री रघुनाथसिंह ने गैर-मामूली तरह की एक किताब लिखी है। मैंने उसे पूरा तो नहीं पढ़ा, फिर भी सरसरी निगाह से देख जरूर गया हूँ। जितना देख गया हूँ, उसका स्वागत करने के लिए उतना ही काफी है; क्योंकि उसमें एक ऐसे विषय का विवेचन है जिसके संबंध में काफी भ्रम फैला हुआ है।

हम भारत में प्रायः 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य की चर्चा करते रहते हैं। शायद 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द अँगरेजी के सेक्युलर (Secular) शब्द का भाव ठीक तरह से व्यक्त नहीं करता। कुछ लोग यह समझते हैं कि यह धर्म के खिलाफ कोई बात है। जाहिर है कि ऐसा समझना गलत है। इसका मतलब यह है कि यह एक ऐसा राज्य है जो सब तरह के धर्मों और मजहबों का एक-सा आदर करता है और उन्हें फलने-फूलने का एक-सा मौका देता है। राज्य की हैसियत से वह किसी धर्म की तरफदारी नहीं करता; क्योंकि ऐसी हालत में वह धर्म उस राज्य का धर्म बन जाता है।

जब किसी राज्य के बहुत से लोग एक ही धर्म के माननेवाले होते हैं, तब सिर्फ इसी वजह से उस राज्य के सांस्कृतिक वातावरण पर किसी हद तक उस धर्म की रंगत चढ़ जाती है। लेकिन इतना होने पर भी एक राज्य के रूप में वह राज्य किसी खास धर्म से बिलकुल अलग रह सकता है।

एक मानी में यह बहुत कुछ आज-कल के जमाने का खयाल या विचार-धारा है। धर्म के मामलों में भारत बहुत दिनों से सहनशीलता दिखाता आया है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का यह एक पहलू है, उसका पूरा या सारा रूप नहीं। भारत जैसे देश में, जहाँ बहुत से धर्म और मजहब हैं, धर्म-निरपेक्षता की बुनियाद पर ही सच्ची राष्ट्रीयता कायम की जा सकती है--और किसी तरह नहीं। अगर कोई संकीर्ण दृष्टि रखी गई तो लाजिमी तौर पर जनता का कोई न कोई हिस्सा उससे अलग या बाहर रह जायगा; और उस हालत में राष्ट्रीयता का जो ठीक-ठीक मतलब होना चाहिए, वह पूरा नहीं होगा--उसका दायरा बहुत कुछ कम या छोटा रह जायगा। उस हालत में भारत में हमें हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, सिक्ख राष्ट्रीयता या ईसाई राष्ट्रीयता का खयाल रखना पड़ेगा, भारतीय राष्ट्रीयता का नहीं।

असल बात यह है कि ये संकीर्ण राष्ट्रीयताएँ पुराने जमाने की बातें हैं; और आज-कल के जमाने में ठीक नहीं बैठतीं। ये पिछड़े हुए और पुराने जमाने के नक्शे हैं। आज-कल भी जो सांप्रदायिक लड़ाइयाँ और झगड़े होते हैं, उनमें हम यही दिखलाते हैं कि सामाजिक वर्गों के रूप में हम कितने पिछड़े हुए हैं।

हमारे संविधान में यह कहा गया है कि हमारा राज्य धर्म-निरपेक्ष है। लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि हमारी जनता के रहन-सहन और विचारों में यह बात पूरी तरह से नहीं दिखाई देती। इँगलैण्ड जैसे देश में, वहाँ के संविधान के अनुसार राज्य का एक खास धर्म से सम्बन्ध है; और वह धर्म 'चर्च आफ इँगलैण्ड' कहलाता है, जो ईसाई धर्म का एक संप्रदाय है। फिर भी वह राज्य और वहाँ के रहनेवाले, धर्म-निरपेक्षता की दृष्टि से देश का काम करते और राज-काज चलाते हैं। इसी लिए इस बात में इँगलैण्ड का समाज भारत के समाज से बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ है; चाहे इस मामले में भारत का संविधान उनके संविधान से आगे बढ़ा हुआ ही क्यों न हो।

हमें अपने संविधान में बतलाये हुए आदर्शों के अनुसार अपना रहन-सहन ही नहीं बनाना चाहिए, बल्कि उन्हें अपने विचार और जीवन का अंग बना लेना चाहिए; और इस प्रकार ऐसा राष्ट्र बनाना चाहिए जो सचमुच अच्छी तरह गठा हुआ हो। मैं फिर यह बतला देना चाहता हूँ कि इसका यह मतलब नहीं है कि हम धर्म या मजहब को बिलकुल छोड़ ही दें; बल्कि धर्म को हम अपने रोज-मर्रा के राजनीतिक और सामाजिक जीवन से अलग स्तर पर रखें। अगर अपने देश में हम किसी और तरह से काम चलाना चाहेंगे तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जायगा।

आचार्य विनोबा भावे इधर कुछ दिनों से कहने लगे हैं कि राजनीति और धर्म दोनों पुराने जमाने की चीजें हैं, आज-कल के जमाने की नहीं। फिर भी हम सब लोग जानते हैं कि विनोबा जी बहुत ही धार्मिक पुरुष हैं। हाँ, उनका धर्म संकीर्ण नहीं है। इसी लिए उन्होंने यह भी कहा है कि आज-कल की दुनिया में उस संकीर्ण धर्म या खोटी राजनीति की जरूरत नहीं है, बल्कि विज्ञान और आध्यात्मिकता की जरूरत है। ये दोनों चीजें हैं तो अलग-अलग स्तरों पर, फिर भी हैं हम सब लोगों को मिलाकर एक करनेवाली और हमारे विचारों को उदार बनानेवाली। हर ऐसी चीज जो हमें मिलाकर एक करनेवाली और हमारी निगाह का दायरा बढ़ानेवाली होगी, हमारी शारीरिक गठन

बनानेवाली भी होगी; और इसी लिए अच्छी और रचनात्मक होगी। जो बात हमारी दृष्टि को संकीर्ण करनेवाली और हममें भेद-भाव लानेवाली होगी, वह कभी अच्छी नहीं होगी; क्योंकि वह हमें फलने-फूलने और आगे बढ़ने से रोकेगी और हमें एक तंग घेरे में बंद कर रखेगी।

आगे चलकर तो राष्ट्रीयता भी हमें संकीर्ण बनानेवाली ही साबित होगी। हम सब लोग एक ऐसे संसार के नागरिक बनेंगे, जिसकी दृष्टि सचमुच अंतर्राष्ट्रीय होगी। अभी यह बात ज्यादातर लोगों और ज्यादातर देशों की समझ में शायद नहीं आ सकेगी। भारत में हमें एक ऐसी सच्ची राष्ट्रीयता का रूप खड़ा करना है जो हमारे देश के भिन्न-भिन्न अंगों, संप्रदायों और धर्मों को मिलाकर एक कर सके। असली अंतर्राष्ट्रीयता लाने से पहले हमें राष्ट्रीयता की जड़ मजबूत कर लेना जरूरी है। जब तक सच्ची राष्ट्रीयता की बुनियाद न पड़ ले, तब तक अंतर्राष्ट्रीयता का रूप धुँधला, गोल-मोल या बे-ठिकाने का होगा; और वह अर्थ-हीन या बे-मानी होगा। लेकिन भारत में हम जो राष्ट्रीयता खड़ी कर रहे हैं, उसके दरवाजे और खिड़कियाँ अंतर्राष्ट्रीयता के लिए खुली रहनी चाहिएँ।

नई दिल्ली
२२-४-१९६१

जवाहरलाल नेहरू

भूमिका

श्री रघुनाथसिंह को मैं उनकी बाल्यावस्था से ही जानता हूँ। मेरी तरह वे भी काशी के ही निवासी हैं। इनके हृदय में देशसेवा का भाव बहुत छोटी अवस्था से रहा, और ये ११ वर्ष के ही रहे होंगे, जब इन्हें पहली जेलयात्रा करनी पड़ी। ये सदा से ही बड़े साहसी और उत्साही रहे। राजनीति में सक्रिय योगदान देते हुए इन्हें साहित्य से भी बहुत प्रेम रहा, और कितनी ही उपयोगी पुस्तकें इन्होंने लिखीं और समाचार-पत्रों में अपने लेखों से सार्वजनिक शिक्षा का भी अच्छा काम किया।

वे इधर वर्षों से लोकसभा के माननीय सदस्य रहे, और वहाँ प्रस्तुत कितने ही विवादग्रस्त विषयों पर उन्होंने निर्भीकता से अपना मत प्रदर्शित किया। विभिन्न विदेशों में भी भ्रमण कर उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव का विस्तार किया है। आज वे 'धर्म-निरपेक्ष राज्य'* नाम की पुस्तक हमें दे रहे हैं। इसके लिए मैं उन्हें बधाई देता हूँ। विषय रोचक और आवश्यक है, क्योंकि अभी तक हममें से बहुतों ने अपने शासन-विधान के मौलिक आदर्शों और आधारवत् सिद्धांतों को नहीं समझा है। हमने अपने राज (स्टेट) को लौकिक (सेक्यूलर) घोषित किया है। जैसा प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, हिन्दी में 'सेक्यूलर' शब्द का अनुवाद करना संभवतः दुष्कर है। हमारे सुयोग्य पुस्तक-रचयिता ने 'धर्म-निरपेक्ष' वाक्य से इसका वर्णन किया है। मेरी समझ में यदि 'लौकिक' शब्द का व्यवहार किया जाय तो अनुचित अथवा अप्रासंगिक न होगा। थोड़े में इसका अर्थ यह होता है कि राज अपने नागरिकों अथवा जन-साधारण के लौकिक हितों पर ध्यान रखना अपना प्रधान कर्तव्य समझता है। वह व्यक्ति अथवा समुदाय विशेषों के परलोक संबंधी विचारों पर कोई मत नहीं रखता। उस तरफ से वह पूर्ण रूप से उदासीन अर्थात् पक्षपात-रहित है।

---

*अँगरेजी में 'नेशन', 'स्टेट' और 'गवर्नमेंट', इन तीनों शब्दों का राजनीति में बहुत प्रयोग होता है। मेरी समझ में यदि हिन्दी में इनका पर्याय क्रमशः 'राष्ट्र', 'राज', और 'राज्य' रखा जाय तो सर्वथा उचित और शुद्ध होगा।

यदि संसार के देशों पर हम दृष्टिपात करें तो हम पावेंगे कि साधारणतः किसी देश-विशेष में प्रधानतः कोई एक संप्रदाय रहता है। राज की तरफ से उसे सहायता भी मिलती है। राज का वह आध्यात्मिक संप्रदाय माना जाता है। उस संप्रदाय-विशेष के उपासनागृहों की स्थापना और रक्षा राज की तरफ से होती है। उसके पंडे पुरोहितों (क्लर्जी) की नियुक्ति होती है, और उनका काम निर्धारित किया जाता है, और उसे करने के लिए उन्हें पुरस्कार भी दिया जाता है। इस सब प्रबंध को थोड़े में 'एस्टैबलिष्ट चर्च' अर्थात् 'राज में मान्य संप्रदाय का संघटन' कहा जाता है। अन्य संप्रदायों के जो विविध अल्पमत होते हैं, वे अपनी तरफ से अपने पारलौकिक विश्वासों का प्रचार और अपनी रक्षा का प्रबंध स्वयं करते हैं। इन्हें राज से किसी प्रकार की सहायता का अधिकार नहीं होता, न साधारणतः उन्हें अपने काम में राज कोई बाधा पहुँचाती है यदि उसका कार्यक्रम राजविरोधी नही होता।

अपने देश में हम ऐसा नहीं करना चाहते। यहाँ पर जितने संप्रदाय हैं उन सबकी रक्षा करना, सबको ही पूर्ण रूप से स्वतंत्रता देना, और सबके अनुयायियों को देश में समान स्थान देना, हमारा लक्ष्य रहा है। हमारे देश को काटकर जो नया देश (राष्ट्र या राज) पाकिस्तान के नाम से स्थापित हुआ है, वहाँपर उन्होंने अपने को इस्लामी राज का नाम दिया है। मैं नहीं कह सकता कि अँगरेजी में जिस प्रकार से हम अपने को 'सेक्यूलर' राज कहते हैं, उस प्रकार से ऐसे राज को क्या कहा जा सकता है। कुछ लोग संभव है 'एक्लेजियास्टिक' अथवा 'थियोलौजिकल' राज कहना पसंद करें। 'रिलीजस' राज तो नहीं ही कह सकते क्योंकि 'रेलिजन' का अर्थ तो दूसरा ही हो जायगा। हिन्दी में संभवतः सांप्रदायिक राज कहा जाय तो अनुचित न होगा। इस प्रसंग में 'आध्यात्मिक' शब्द का भी प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि इसमें 'नैतिकता' का आभास है जो साम्प्रदायिकता में अनिवार्य नहीं है। प्रायः वह इससे बहुत दूर रहता है। हमारे लेखक ने जब अपनी पुस्तक को 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' का नाम दिया है, तो उन्होंने इस बात की स्पष्ट सूचना की है कि हम साम्प्रदायिक विचारों के संबंध में निरपेक्ष हैं।

'धर्म' शब्द यद्यपि साधारण प्रकार से 'रिलिजन' के अर्थ में प्रयोग होता है, पर मुझे स्वयं इसमें आपत्ति है। हमारे यहाँ 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। कितनी ही बातों में हम 'धर्म' शब्द प्रयोग करते रहते हैं। साधारण से साधारण रीति-रस्म भी धर्म है। कर्तव्य भी धर्म है। सांप्रदायिक आचार-

विचार भी धर्म है। नैतिक आचरण, शिष्टाचार आदि भी धर्म है। इस कारण मेरी समझ में यदि 'रिलिजन' का अनुवाद 'संप्रदाय' शब्द से किया जाय तो उपयुक्त हो। जिस जीवन-प्रणाली को हम हिन्दू धर्म कहते हैं, उसे अपने पुराने शास्त्रों में इस नाम से कहीं भी नहीं सूचित किया गया है। इसे मानव धर्म, वैदिक धर्म, आर्य धर्म, सनातन धर्म, वर्णाश्रम धर्म नाम से विविध स्थानों पर वर्णित किया गया है। इसमें न कोई एक धर्म प्रवर्त्तक माना गया है, न सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में कोई विचार-विशेष का प्रतिपादन किया गया है। न सबके लिए किन्हीं संस्कार की विधि निर्धारित है, न सबके लिए और सब दशाओं में एक ही नैतिक आचरण का ही आदेश और उपदेश है। जो अन्य सम्प्रदायों की विशेषताएँ हैं उनमें से एक भी इसमें नहीं है। यह मानव मात्र के लिए प्रचलित हुआ है। इसमें सभी लोगों का समावेश हो सकता है।

यहाँ पर धर्म का अर्थ जीवन-प्रणाली है। किस प्रकार से हमें अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए, यह बतलाया गया है। मानव धर्म का अर्थ है कि यह मनुष्य मात्र के लिए है। वैदिक धर्म का अर्थ है कि यह मनुष्य की नैसर्गिक बुद्धि के आधार पर स्थापित है। आर्य धर्म का अर्थ है कि यह सुसंस्कृत लोगों का आचार-विचार बतलाता है। सनातन धर्म का अर्थ है कि मनुष्य की प्रकृति के अनुसार इसके होने के कारण यह सदा से चला आया है और सदा चला जायगा। न इसका आरंभ है, न इसका अंत है। वर्णाश्रम धर्म का यह अर्थ है कि मनुष्य का समाज विविध व्यक्तिगत प्रकृतियों के अनुसार इसने विभाजित किया है, और व्यक्तिगत जीवन को लौकिक और पारलौकिक आवश्यकताओं के अनुसार विविध भागों में निर्धारित किया है। यही कारण है कि हमारे देश में जिसे धर्म या संप्रदाय कहते हैं, उसके नाम पर कोई जोर-जबरदस्ती नहीं की गयी। कोई मार-काट नहीं हुई। सहिष्णुता हमारी विशेषता सदा रही है। भगवान् श्रीकृष्ण के वचनानुसार 'जिस ही मार्ग पर मनुष्य चलता है, वह ईश्वर के ही पास उसे पहुँचाता है। जितने मार्ग हैं वह सब मनुष्य को ईश्वर के ही पास ले जाते हैं। किसी दूसरी जगह कोई जा ही नहीं सकता।'* जिसे हिन्दू समाज कहा जाता है उसमें सैकड़ों संप्रदाय मौजूद हैं। उसमें सदा विचारों की स्वतंत्रता रही है और आज भी है। इस कारण कोई किन्हीं दूसरों के ऊपर अपना मत लादने के लिए बल प्रयोग नहीं करता।

---

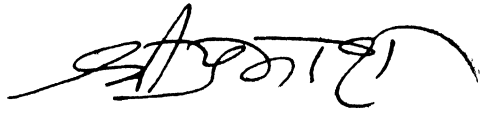
*उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः, आत्मैव रिपुरात्मनः ॥--भगवद्गीता। ६।५

ऐसी स्थिति में हमारे शासन-विधान के निर्माताओं ने अपने राज को लौकिक (सेक्यूलर) राज घोषित किया। यह न किसी संप्रदाय का विरोध करता है, न अपनी शक्ति को किसी संप्रदाय के पक्ष में प्रयोग करता है। यह सबको सम दृष्टि से देखता है और सबको यह स्वतंत्रता देता है कि बिना किसी दूसरे के धर्म या संप्रदाय पर आघात पहुँचाए, अपने साम्प्रदायिक और आध्यात्मिक विचारों, आदर्शों, सिद्धांतों, प्रेरणाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करें। इस बात पर जोर देते रहना बहुत आवश्यक है क्योंकि कुछ लोगों ने यह समझ रक्खा है कि जब हम लौकिक (सेक्यूलर) राज के नागरिक हैं, तो हमें पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक विषयों से, कोई संबंध ही नहीं है। हमें परंपरागत नैतिक विचारों के अनुसार आचरण करने की भी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई ईश्वर में विश्वास करता है अथवा उनकी प्रार्थना करता है, मंदिर, गिरजा, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि में जाता है, तो वह विधान के सिद्धांतों के विरुद्ध आचरण करता है। राज यदि संप्रदाय के संबंध में निरपेक्ष है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह यह नहीं चाहता कि कोई परलोक पर विश्वास ही न करे या अपने कुटुम्ब और समुदाय के परंपरागत विचारों के अनुसार कार्य न करे।

मुझे हर्ष है कि श्री रघुनाथसिंहजी ने इस आवश्यक विषय पर पुस्तक लिखकर हम सब लोगों को स्थिति समझायी है, उसके मूल सिद्धांतों की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, और समुचित रूप से सच्चे भारतीय नागरिक का कर्त्तव्य पालन करने की तरफ प्रवृत्त किया है। उन्होंने राज में लौकिक विचारों के विकास को समझाने के लिए प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक राज्यों के संविधानों के मूल सिद्धांतों, विचारशैलियों और कार्यप्रणालियों का भी सुंदर और विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है। इनसे हमें अपनी स्थिति को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी और हम अपने संविधान की उत्तमता का अनुभव कर उसके अनुसार अपने सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन को निर्धारित करने में सहर्ष प्रवृत्त होंगे। जो इस संबंध की नाना प्रकार की शंकाएँ हमें कष्ट दे रही थीं, उनका इस पुस्तक द्वारा समाधान होना चाहिए। हम इस पुस्तक के अवलोकन के बाद अवश्य ही अनुभव करेंगे कि अपने संप्रदाय विशेषों से संबंध रखते हुए, उसके निर्धारित आचार-विचार पर निष्ठा बनाये हुए, हमें अपनी संकुचित परिधि से बाहर निकलना है, और सर्वोपरि हमें अपने को भारतीय समझना है। देशभक्ति की जो हममें बहुत कमी रही है, उसे अपने में लाना है। बाह्य अनेकता में हमें आंतरिक एकता देखनी

है, और इस प्रकार से अपनी स्वतंत्रता को बराबर अक्षुण्ण बनाये रहकर हमें संसार के सामने यह उदाहरण उपस्थित करना है कि एक ही देश और एक ही राज में किस प्रकार परस्पर सौहार्द और शांति के साथ भिन्न-भिन्न संप्रदायों के अनुयायी, भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले, भिन्न-भिन्न रीति-रस्म के अनुसार चलनेवाले लोग रह सकते हैं। संसार के विकास में यही हमारा अनुदान है, और मेरी समझ में इससे बढ़कर मनुष्य के वास्तविक कल्याण के लिए हम कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकते। इस कार्य में हमें किसी प्रकार से त्रुटि न आने देनी चाहिए। इसे समझने और करने में मेरे मित्र श्री रघुनाथसिंह की पुस्तक हमें प्रेरणा देती है और हमारा मार्ग प्रदर्शन करती है। मुझे पूरी आशा है कि इससे उस उद्देश्य की सिद्धि होगी जिसके लिए हमारे सुविज्ञ लेखक ने इसे हमें दी है।

महाराष्ट्र-गवर्नर्स कैंप,
(महाबालेश्वर)
२२ मई १९६१



यह पुस्तक

यह पुस्तक मौलिक है। सूत्रवत् प्रतीत होगी। विषय नवीन है। छः वर्षों के कठिन परिश्रम का फल है। विश्व की किसी भाषा में सैद्धांतिक, विवेचनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से इस विषय पर अभी पुस्तक नहीं लिखी गयी है। कह सकता हूँ, विश्व-साहित्य में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है।

राजनीतिक क्षेत्र में जगत् ने अनेक शासकीय प्रयोग किये हैं। अनेक शासन-पद्धतियों का दर्शन पुराकाल से अब तक मिलता है। लौकिक राज मानवीय प्रयोग की एक कहानी है। भारत लौकिक राज एवं शासन पद्धति का प्रयोग कर रहा है। इस दिशा में बढ़ रहा है। राजनीतिक जगत् में यह एक अभिनव प्रयोग है। भारतीय जनता के लिए लौकिक राज के विचारों को समझना तथा उसका परिणाम क्या हो सकता है; जान लेना आवश्यक है।

समय-समय पर अनेक देशों ने, अनेक जातियों ने, लौकिक राज एवं शासन पद्धतियों का प्रयोग किया है। अपने समाज की नींव लौकिक विचारधारा पर रखने का प्रयास किया है। विश्व इतिहास में उनकी झलक मिलती है। इस दृष्टि से विश्व इतिहास का अध्ययन किया गया है। यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि जब लौकिक भावना का उदय होता है तो सहिष्णुता, उदारता, एकता, मानवता, विचारस्वातंत्र्य तथा लोकतंत्रीय भावनाएँ जड़ पकड़ती हैं। अन्धकार से प्रकाश में आया जाता है।

भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि पर विशेष जोर दिया गया है। भारतीय संविधान में लौकिक विचारों का किस प्रकार समन्वय हुआ है, इसे दिखाने की चेष्टा की गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दी में श्री होली ओक ने इस प्रसंग में बहुत कुछ लिखा है। वे लौकिक आन्दोलन के प्रवर्तक थे। उनकी बहुत-सी पुस्तकें अप्राप्य हैं। उनकी पुस्तक 'ओरिजिन तथा नेचर आफ सिक्युलरिज्म' विश्व के किसी भी पुस्तकालय में प्राप्य नहीं है। उसे प्राप्त करने का संसदीय पुस्तकालय ने बहुत प्रयास देश तथा विदेशों में किया। किन्तु मिल न सकी। उनकी पुस्तकों का एक संग्रह मुझे काशी विद्यापीठ पुस्तकालय में मिल गया। अतएव श्री ओक की जो भी कुछ पुस्तकें प्राप्य हैं, उनके आधार पर उनके विचारों के विषय में विनिश्चित किया गया है।

विश्व के प्रायः सभी बड़ पुस्तकालयों से इस विषय की पुस्तकें प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। संसदीय पुस्तकालय द्वारा विशेष सहायता मिली है। संसदीय पुस्तकालय का मैं आभारी हूँ। बिना उसकी सहायता के पुस्तक का प्रस्तुत रूप होना सम्भव नहीं था। अपने अन्य पुस्तकों तुल्य इस पुस्तक की भी आलोक पुस्तिका मैंने संसदीय पुस्तकालय में बनायी थी। तत्पश्चात् पुस्तक का प्रारूप तैयार किया। प्रारूप में बहुत कुछ संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन तथा न्यूनीकरण किया गया।

पुस्तक का प्रस्तुत रूप आस्ट्रेलिया के भ्रमण-काल सन् १९५९ में दिया गया। उस महाद्वीप में काफी समय बिताना था। वहाँ पुस्तकालय बहुत बड़े हैं। लाख दो लाख पुस्तक किसी पुस्तकालय में होना साधारण बात है। मैं प्रारूप साथ लेता गया। होटलों में जो समय मिला उसी में पुस्तक साफ किया। पुस्तक को शुद्ध हवाई जहाजों की लम्बी यात्रा में किया। छपाई की सुविधा के लिए पुस्तक आमूल संसदीय कांग्रेस दल कार्यालय के श्री अर्जुन-राव द्वारा टंकणित किया गया तथा श्री विष्णु शर्मा, वाराणसी ने टंकणित प्रति ठीक किया। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक का नाम "लौकिक राज" रखा गया था। मेलबर्न में डा० श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या मिले। उनसे विचार-विनिमय हुआ। उनका विचार हुआ कि लौकिक शब्द प्रचलित नहीं है। बोधगम्य नहीं है। सर्वसाधारण को पुस्तक का भाव समझने में कठिनाई होगी, अतएव नाम "धर्म-निरपेक्ष" रखना उचित होगा। यह शब्द प्रचलित है। सिक्यूलर के लिए प्रयुक्त होने लगा है। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज का भी यह मत था। अतएव पुस्तक का नाम "लौकिक राज्य" के स्थान पर "धर्म-निरपेक्ष राज्य" रखा गया।

सिक्यूलर शब्द के लिए सम्पूर्ण पुस्तक में लौकिक शब्द का ही प्रयोग किया गया है। पं० जवाहरलाल जी ने अपने प्राक्कथन में ठीक ही कहा है कि हिन्दी में अभी कोई उपयुक्त शब्द सिक्यूलर के लिए नहीं निकल पाया है। शब्द कालान्तर में अपना रूप तथा भाव पकड़ लेते हैं अतएव लौकिक शब्द का प्रयोग सिक्यूलर के अर्थ में किया गया है।

मुझे आशा है कि भविष्य में राजनीतिज्ञ विद्वान् कुछ लिखकर इस विषय को पूर्ण करने तथा उसे प्रकाश में लाने का प्रयास करेंगे। यह पुस्तक यदि नींव की छिपी ईंट तुल्य ही रह जाय तो मुझे इससे सन्तोष होगा। पुस्तक एक आदर्श तथा विचार के प्रकाश निमित्त लिखी गयी है। इस विचार से विश्व

कितना लाभ उठा सका है, यह इतिहास की सामग्री रही है और कितना विश्व तथा भारत भविष्य में उठा सकेगा, यह भी इतिहास की सामग्री बनकर रहेगी।

पं० जवाहरलाल जी ने अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों तथा विचारों में पड़े रहने के बावजूद समय निकालकर जो प्राक्कथन लिखा है, हम उसके लिए आभारी हैं। भारत में लौकिक विचार उनकी देन है। यह विचार प्रगतिशील है। पुस्तक का अन्त भी मैंने उनके ही लाल किले के भाषण से किया है। उन्होंने समयाभाव के कारण अँगरेजी में प्राक्कथन लिखा है उसका अनुवाद यहाँ दिया गया है। मैं श्री श्रीप्रकाश जी को धन्यवाद देता हूँ जिनका बाल्यकाल से ही मुझ पर स्नेह रहा है। उन्होंने सदा धर्म-निरपेक्ष भावना की ओर मुझे जेल में तथा बाहर चलने के लिए प्रोत्साहित किया है। उन्होंने भी समय निकालकर भूमिका लिखा इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। अन्त में मैं इंडियन प्रेस के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री एच० घोष तथा उसके बनारस शाखा के व्यवस्थापक श्री ए० के० बोस को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने उत्साह और प्रेम से पुस्तक प्रकाशन में योग दान दिया है। मै उन सभी ज्ञात तथा अज्ञात जनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जो ज्ञात किंवा अज्ञात, परोक्ष किंवा प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार सहायक सिद्ध हुए है।

—रघुनाथसिंह

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

प्राचीन जगत्

विषय					पृष्ठ
बेबलोन, सुमेर	..	..	..	..	१
मिस्र	..	..	..	..	६
चीन	..	..	..	..	१४
घुमन्तू जातियाँ	..	..	..	..	१८
यहूदी	..	..	..	..	२१
यूनान	..	..	..	..	२५
रोम	..	..	..	..	३२

द्वितीय खण्ड

ईसाई जगत्

यूरोप में लौकिक राज्य—मध्य-युग	..	..	..	४५
यूरोप—मध्ययुग से उन्नीसवीं शताब्दी	..	..	..	५२

तृतीय खण्ड

मुस्लिम जगत्

मुस्लिम राज्य सिद्धान्त	..	..	..	..	६९
खलीफा और खिलाफत	..	..	..	..	७८
जिहाद-क्रुसेड-धर्मविजय	..	..	..	..	९७
मुसलिम भारत और लौकिकता	..	..	..	..	१०९
मुगल काल में लौकिकता	..	..	..	..	१२४

चतुर्थ खण्ड

आधुनिक जगत्

धर्म और लौकिकता	..	..	..	१५७
लौकिक आन्दोलन	..	..	..	१७२
आजकल	..	..	..	१८४
भारत	..	..	..	२०६
भारतीय संविधान	..	..	..	२१८

प्रथम खण्ड

प्राचीन जगत्

——बेबलोन, सुमेर
——मिस्र
——चीन
——घुमन्तू जातियाँ
——यहूदी
——यूनान
——रोम

बेबलोन, सुमेर

अनन्त काल से जगत् लोक और परलोक के बीच उलझा रहा है। कभी लोक की ओर झुकता है, कभी परलोक की ओर चलता है । इनमें कभी सन्तुलन होता है, कभी सन्तुलन बिगड़ जाता है। बिगड़ जाने पर संघर्ष होता है, बनने पर शान्ति आती है। इस सन्तुलन को कायम रखने के लिए समय-समय पर महान् आत्माओं का आविर्भाव होता है। वे समाज को देखते हैं। मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं। आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करते हैं। समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उन पर काबू पाने के लिए प्रयास करते हैं। लोक को अनुप्राणित करते है। नेतृत्व बुद्धिबल से करते हैं। व्यष्टि अथवा समष्टिवादी शक्ति से करते है। अपनी कल्पना साकार करना चाहते हैं। उनके इन महाप्रयासों की कहानियाँ क्रान्ति है। विप्लव है। विद्रोह है। सुधार है। विकास है। शान्ति है। अशान्ति है। उन्हीं का परिणाम इतिहास है। और इतिहास का परिणाम राज्य है।

एक बात और है। वह है स्वयं मनुष्य। उसमें आत्मा है, शरीर है। वह दोनों का समुच्चय है। आत्मा अव्यक्त है। शरीर व्यक्त है। किन्तु कुछ प्रज्ञावादी है। कुछ लोकायत हैं। कुछ उग्रवादी हैं। वे शंका करते हैं, आत्मा के अस्तित्व में। भगवान् बुद्ध के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। उन्होंने इस विषय को अव्याकृत कहकर टाल दिया। आगे बढ़ गये। झमेलों में पड़ना न चाहा। महात्मा गान्धी ने इस शंका का दूसरे प्रकार से समाधान किया है।

मानना होगा। व्यक्त और अव्यक्त के प्रश्न ने अनेक विचारधाराओं को जन्म दिया है। अनेक धर्मों की परम्पराएँ स्थापित हुई हैं। अनेक पन्थों का प्रवाह प्रवाहित हुआ है। ज्ञान-विज्ञान का उदय हुआ है। दर्शनों का स्रोत चला है।

मानव चिन्तनशील हुआ। मानव मननशील हुआ। मानव अनेक विचार-प्रवाहों से प्रभावित हो उठा। कहीं विवेक ज्योति में वह दुनिया को देख उठा। कहीं अविवेक अन्धकार में उसकी आँखें बन्द हो गयीं। कहीं उसकी मानवता मुसकुरा उठी। कही उसमें बैठा पशु गुर्रा उठा।

विचारों की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। अव्यक्त का प्रभाव बढ़ने पर विचार रूढ़ होने लगते हैं। उनमें जड़ता आने लगती है। धार्मिक कुसंस्कारों का रूप ले लेते हैं। धर्म साध्य न होकर साधन मात्र रह जाता है। वह किसी सामाजिक, आर्थिक किंवा राजनीतिक प्रयोजन-सिद्धि का निमित्त बन जाता है। लोक में विषमता उत्पन्न होती है। राजनीतिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उलझनें पैदा होने लगती हैं। असहिष्णुता संध्या गम्भीर होती है। अनुदार तिमिर घनीभूत होने लगता है। अन्धकार व्याप्त हो जाता है। मानव शाश्वत मार्ग भूल जाता है। स्वतंत्रता संकुचित हो जाती है। मानसिक स्वतंत्रता कुम्हला जाती है। विचार कुंठित होने लगते है। अन्ततोगत्वा मानव दिमागी आजादी खो बैठता है।

अवश्यम्भावी फल होता है—स्नेह के स्थान पर घृणा अट्टहास करती है। मित्रता के स्थान पर शत्रुता आती है। मुक्त मानव अपनी सीमा बना लेता है। सैद्धांतिक मर्यादा बना लेता है। गोत्र बना लेता है। जाति बना लेता है। वर्ग बना लेता है। वंश-परम्परा में, जाति-परम्परा में, धर्म-परम्परा में अनजाने बँध जाता है। मानव अपने लिए संस्कारों की बेड़ियाँ रच-रच कर बनाता है। उसे गर्व से पहन लेता है।

चिल्लाने लगता है—फँस गया। काटकर निकलना चाहिए। मोह से वह काट नहीं सकता। स्वाधीनता खो बैठता है। लगता है प्रयास करने। अपनी ही रचना मिटाने का। मानव के इस प्रयास का इतिहास साम्राज्यों के उत्थान-पतन, राज्यों के उतार-चढ़ाव, महान् सेनानियों, राजाओं अथवा राजन्य वर्ग की रोचक कहानियों से अधिक महत्त्व रखता है।

पौराणिक किंवा पुराकाल की गाथाओं को चाहे कपोलकल्पित मान लें, फिर भी विश्व का छः हजार वर्षों का इतिहास उपलब्ध है। इतिहास की इस तुला पर मानव के विवेक की कहानियों को तौलना है। इसलिए तौलना है कि वह तौल अपनी तौल करने में सहायक होगा।

इतिहास साक्षी है। लगभग छः हजार वर्ष पूर्व सुमेरु जाति ने कीलकाकार लेख-पद्धति अपनायी थी। आज से पाँच हजार वर्ष पहले मिस्र में चित्र-लिपि (हेरोग्राफिक) लेख-पद्धति प्रचलित थी। चीन में लेख चार हजार वर्ष पूर्व के मिलते हैं। उत्तरी शामी (सेमेटिक) लिपि सीरिया अर्थात् शाम में चार हजार से तीन हजार पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में आ गयी थी। कहा जाता है, इस लिपि से ही फोनीशिया, यूनान तथा रोम की लिपियाँ निकली थीं।

भारत में लिपि-प्रथा कब आरम्भ हुई कहना कठिन है। किन्तु उसकी प्राचीनता कुछ कम नहीं है।

कहा जाता है, बेबलोन का इतिहास आरम्भ होता है सुमेरु जाति से। सुमेरु शब्द भारतीय साहित्य में बहुत आया है। सुमेरु की कल्पना बहुत सुन्दर की गयी है। सुमेरु पर्वत देव पर्वत माना गया है। कहना कठिन है। यह ऐतिहासिक सुमेरु तथा भारतीय वर्णित सुमेरु एक ही हैं अथवा भिन्न। इतना स्पष्ट है कि सुमेरु लिपि शामी अर्थात् सेमेटिक नहीं है, आर्य है। यह विषय इतिहास का है। ऐतिहासिकों पर छोड़ देना ही उचित है। प्रस्तुत विषय के लिए इतना ही अलम् है।

यह निर्विवाद है। सुमेरु जाति बेबलोन में पूर्व-उत्तर दिशा से आयी थी। यह दिशा भारत की ओर ही थी। छः हजार वर्ष पूर्व मुसोपोटामिया के दक्षिणी भाग में आबाद हो गये। उनपर सेमेटिक अर्थात् शामी संस्कृति तथा सभ्यता का प्रभाव पड़ा। वे दो भागों में विभक्त हो गये अर्थात् दक्षिण तथा उत्तर में आबाद हो गये। बेबलोन तथा अक्कद दो स्थानों के कारण उनमें भिन्नता मानी गयी। आज से पाँच हजार नौ सौ वर्ष पूर्व सुमेरु में राजतन्त्र का प्रमाण मिलता है।

पाँच हजार वर्ष के पूर्व मरगन (श्रीगण ?) तथा नरेम सेन (नरसिंह ?) दो ऐतिहासिक राजाओं का पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो चुका है। उनका राज्य-विस्तार, इरिद्, उर, लग्श, लर्स, इरेच, निपुर, वोर सेवा, किश, कुथा, अगदे, सिप्यर तथा नैनवह तक था। सुमेरु ध्वंसावशेष इन स्थानों में बिखरे पड़े हैं।

सुमेरु संस्कृति तथा सभ्यता का ह्रास बेबलोन का अक्कद पर अधिकार होने के पश्चात् होने लगा। एक नवीन सभ्यता ने दो सभ्यताओं के मिलने पर जन्म लिया। बेबलोन का सामाजिक विचारों के विकास में बड़ा भाग रहा है। उन्होंने खोज निकाला। विचारों की सरलता तथा उनका बोधगम्य प्रचार उनके प्रकट करने की शैली पर अधिक निर्भर करता है। लिपिबद्ध भाषा का उच्चारण उसी प्रकार होना चाहिए जैसी वे लिखी जाती हैं। स्वर व्यंजन का उच्चारण लिपि के अनुसार होना चाहिए। यह विशेषता इस समय केवल देवनागरी लिपि में है।

बेबलोन सभ्यता अपनी पूर्ण गरिमा में चार हजार वर्ष पूर्व राजा हम्मुरवी (ओं रबि या शम्भु रवि ?) के समय में पहुँच गयी थी। एक बेसरिलीफ में दिखाया

गया है। राजा हम्मुरवि भगवान् भुवनभास्कर सूर्य से संहिता प्राप्त कर रहे हैं। जिस पाषाणखंड पर यह घटना उत्कीर्ण है वह ८ फुट लम्बी तथा ७ फुट चौड़ी है। बाइबिल की प्रथम पुस्तक में वर्णित अमरफेल को ही राजा हम्मुरवी माना जाता है। बाइबिल की सृष्टि-रचना का सिद्धान्त कहा जाता है कि बेबलोन की गाथा पर आधारित है। हम्मुरवी का काल आज से ४०८३ वर्ष से ४०४० वर्ष पूर्व माना जाता है।

हम्मुरवी शिला लेख कहता है—"मैंने उन पर शासन किया—समृद्धि और लक्ष्मी के साथ किया—मैंने उन्हें शान्तिपूर्वक निवास निमित्त आवास दिया है—पृथ्वी पर न्याय निमित्त, अवांछनीय तथा आततायियों के शमन निमित्त मत्स्य न्याय तिरोहित निमित्त, जगत् के प्रकाश निमित्त—लोक-कल्याण निमित्त-संहिता बना रहा हूँ।

विश्व में लौकिक राज्य किंवा लौकिक विचारधारा का यह प्रथम ऐतिहासिक प्रमाण है। हम्मुरवी अपनी संहिता में स्वीकार करता है—दैवी शक्ति द्वारा शासन तथा राज्य करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। हम्मुरवी की विचारधारा वही थी जो अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप तथा विश्व में दैवी राज्य सिद्धान्त के नाम से मान्यता प्राप्त करती रही है।

उसका लौकिक राज्य का सिद्धान्त विश्व के अठारहवी शताब्दी के लौकिक राज्य सिद्धान्त से मिलता है। वह कहता है—राज्य अपने पिता तथा परमात्मा से प्राप्त किया है। वह अपना उत्तराधिकार लोक और परलोक दोनों से प्रमाणित करता है। वह मान्यता लौकिक तथा पारलौकिक दोनो को देता है। यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी में भी अनेक स्थानों पर मान्यता-प्राप्त है और आज भी कही गौण रूप से माना जाता है।

राजा हम्मुरवी निरंकुश राजा नहीं था। उसके संहिता तथा लेखों में परिषद तथा सभा का उल्लेख मिलता है। उनके सम्मुख राजा उपस्थित होता था। अपने कार्यों के लिए उनके सम्मुख उत्तरदायी होता था। कानूनी दृष्टि से वह निरंकुश था। व्यावहारिक दृष्टि से वह भारतीय राजाओं के तुल्य उत्तरदायी था। वह लोक वाणी परिषद तथा सभा में सुनता था। साधारण विधि अर्थात् देशाचार (कामन ला) द्वारा शासन करता था। उसने कानून तथा संहिता को लिपिबद्ध किया। उन्हें सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाया।

उसने वर्ग विशेष को मान्यता नहीं दी। जाति विशेष के लिए विशेषाधिकारों की शृंखला नहीं उपस्थित की। लौकिकता इससे प्रकट होती है कि

एक दास किसी भी स्वतंत्र नारी से विवाह कर सकता था। उसका पुत्र दास नहीं, स्वतंत्र नागरिक समझा जाता था। उस काल में गुलामी प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा का लोप ब्रिटेन ने उन्नीसवीं शताब्दी में कानून बनाकर किया है। उसके समाप्ति-निमित्त अमेरिका का गृहयुद्ध हुआ। राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को जान से हाथ धोना पड़ा था। आज भी एपरथीड अर्थात् रंग-भेद विश्व के अनेक सुसभ्य कहे जानेवाले देश एवं समाज में वर्तमान है।

हम्मुरवी ने एक-पत्नीव्रत का कानून बनाया। स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिया। मुसलिम जाति में बहुपत्नी प्रथा अब भी प्रचलित है। हिंदुओं में भी प्रचलित थी। भारत ने सन् १९५७ में कानून बनाकर एक-पत्नी-व्रत प्रथा स्वीकार की है। आधुनिक जगत् ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आकर स्वीकार किया है। किन्तु हम्मुरवी ने अपने कानून के अनुसार स्त्रियों के व्यापार आदि करने, स्वयं सम्पत्ति की अधिकारिणी होने, रखने, बेचने, देने, मुकद्दमा लड़ने, पुत्र या पुत्री गोद लेने का अधिकार आज से चार हजार वर्ष पूर्व दिया था। मुसलिम जगत् तथा ईसाई जगत् में यह सब अधिकार आज भी स्त्रियों को पूर्णतया प्राप्त नहीं है। जगत् ने गत चार हजार वर्षों में समानता के सिद्धान्त को लागू करने में कितनी प्रगति की है, इसी से स्पष्ट है।

बेबलोन धर्म-निरपेक्ष राज्य था। वह व्यवहारतः लौकिक राज्य था। बहुदेव पूजा प्रचलित थी। हम्मुरवी के लेखों में धर्म अथवा सम्प्रदाय पर कहीं जोर नहीं दिया गया है। धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर नागरिकों में अथवा प्रशासन और राजकार्य में कहीं भी किसी के प्रति पक्षपात अथवा नागरिक में भेद नहीं किया गया है। प्रसंगवश कहीं-कहीं धर्म का नाम हम्मुरवी के लेखों में आ गया है।

बेबलोन का दृष्टिकोण लौकिक था। इस जगत् की, इस लोक की ओर विशेष ध्यान था। लोक की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के हल की बात सोचते थे। उन्हें हम विश्व के लौकिक अथवा धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदि ऐतिहासिक जनक कह सकते हैं।

मिस्र

मिस्र की अपनी कहानी है। उसे समझने के लिए मानवप्रकृति पर दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया है। आदि-काल का मानव सरल-चित्त पापहीन था। दोषहीन था। बाइबिल में आदम और हौवा के दृष्टान्त द्वारा इसे अच्छे ढंग से समझाया गया है। मानव सरल था। उसमें लज्जा नही थी। वह पाप-विहीन था। उसमे पशुता किंवा शैतानियत नही थी। शैतान के संगदोष के कारण हौवा ने विहित विरुद्ध कार्य किया। उसने आदम से भी वही कार्य करवाया। दोनों में लज्जा का प्रवेश हुआ। मानव मे पाप ने प्रवेश किया। मानव का पतन हुआ। बाइबिल के अनुसार उस पाप का प्रायश्चित्त मानव जगत् को करना है। पतन तथा पाप के इस सिद्धान्त ने यूरोप के राजनीतिक इतिहास को बहुत कुछ प्रभावित किया है।

इसका एक दूसरा रूप और भी है। सरल मानव सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कर्म, संस्कार आदि के झंझटों से मुक्त था। प्रकृति उस पर हावी थी। वह प्राकृतिक शक्तियों से प्रभावित था। प्रकृति से भयभीत था। वर्षा ठीक समय से हो, बिजली गिरकर मनुष्य, वृक्ष तथा पशु का नाश न करे, महामारी के मनुष्य तथा पशु शिकार न बनें, सूर्य की अकृपा के कारण सूखा न पड़े, आँधी, तूफान तथा ओलों से फसल अथवा फलों का संहार न हो आदि दुर्बल मनोवृत्ति के कारण वह प्राकृतिक शक्तियों का मुखापेक्षी हो गया। उनमे अलौकिक शक्ति का अनुभव करने लगा। उसकी कृपा उस पर बनी रहे अतएव प्रकृति की अनेक शक्तियों अथवा रूपों की पूजा होने लगी। यहाँ तक कि वन-देवी, वृक्ष-देवता आदि के अस्तित्व की स्तुति की गयी।

बात यहीं नहीं समाप्त हुई। गृह-देवता, ग्राम-देवता, नगर-देवता तथा राष्ट्र-देव की भी कल्पना की गयी। प्रकृति तथा उसका देवता अथवा देवी नामधारी शक्तियाँ मानव तुल्य आचरण करती है। उनकी किसी पर कृपा तथा किसी पर अकृपा होती है। वे एक का साथ दूसरे के नाश अथवा उत्थान निमित्त देते हैं। यूनानी गाथाओं तथा महाभारत में स्पष्ट कथानक आते है जहाँ अपने उपासकों अथवा कृपापात्रों का साथ एक देवता दूसरे देवता के विरुद्ध देता है।

परिणाम यह हुआ। प्रकृति देवता अथवा अन्य देवी-देवता अथवा शक्ति आदि की कृपा प्राप्त करनेवालों का एक वर्ग समाज मे बन गया। इस वर्ग का प्रथम रूप ऐन्द्रजालिकों के रूप मे प्रकट होता है। आज भी अफ्रीका मे पानी बरसानेवाले का स्थान आदिम अफ्रीकावासी मे प्रमुख है। भारत में इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओ को प्रसन्न करने, उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए यज्ञ किया जाता है। पर्वो पर गृह-देवता, ग्राम-देवता, नगर-देवता की पूजा की जाती है।

अतएव, उपासक, पुरोहित, ऐन्द्रजालिक, भगवान् और मनुष्य के बीच मध्यस्थता करनेवाले वर्ग का उदय हो गया। इस वर्ग का समाज के विकास तथा ह्रास में हाथ रहने लगा।

ऐन्द्रजालिको का महत्त्व पर्वतीय वनवासी, खानाबदोशों तक सीमित हो गया, जैसे-जैसे मानव कृषि-प्रधान होता गया। कृषिजीवी होने पर उसे पशु संचय करने, समाज बनाने, फसल को पशु तथा मनुष्यों से रक्षा करने तथा सरोवरों अथवा नदी-नालों को बाँधकर सोचने की समस्या उत्पन्न हुई। कृषि की वृद्धि सामयिक वर्षा, ऋतु आगमन, वायु तथा धूप आदि प्राकृतिक साधनों पर पूर्णतया निर्भर हो गयी। कृषक अपने परिवार तथा जीवन के लिए कृषि पर निर्भर हो गया।

प्राकृतिक साधन अव्यक्त शक्तियों के हाथों में है। सरल कृषक ने यही समझा। कोई पानी बरसाता है। कोई हवा बहाता है। कोई ऋतु लाता है। कोई सूर्य को चमकाता है। कोई इस जगत् का उसी प्रकार बनाने वाला है जैसा वह अपने घर तथा फसलों को बोने, निराने, काटनेवाला है। अस्तु वह अव्यक्त शक्ति पर विश्वास करने के लिए बाध्य हो गया।

आवश्यकता बढ़ने लगी। एक ही काम सब नही कर सकते। कार्य विभाजन जरूरी था। इस जरूरत ने परिवहन तथा यातायात जारी किया। कृषक अपना सामान देकर बदले में कुछ लेने लगा। धीरे-धीरे व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन में परिणत हो गया। विश्वास ने भी व्यक्तिगत न होकर समष्टि अथवा समाज के विश्वास का रूप ले लिया। व्यष्टिवादी सम्बन्धों के स्थान पर समष्टिवादी सम्बन्धों का महत्त्व बढ़ने लगा। ऐन्द्रजालिक आदि का सम्बन्ध व्यक्ति से था। वे व्यक्ति विशेष का लाभ कर सकते थे। सामाजिक भावना बढ़ने के साथ समष्टिवादी विश्वास जड़ पकड़ने लगा। इस विश्वास ने धर्म, सम्प्रदाय किंवा पन्थ का रूप ले लिया।

आज से छः हजार वर्ष पूर्व मिस्र में यह प्रक्रिया आरम्भ हुई। नील नदी में समय से बाढ लानेवालों, प्रकृति पर किसी प्रकार का अधिकार रखनेवालों, प्राकृतिक शक्ति से सम्पर्क स्थापित करनेवालों, प्राकृतिक शक्तियों को मानव जीवन के अनुकूल बनानेवालों का एक विशिष्ट स्थान समाज में हो गया। उनका काम उपासना से अथवा अन्य साधनों से प्राकृतिक देवताओं अथवा देवियों को प्रसन्न करना था। उन्हें मानव के अनुकूल बनाना था।

अतएव देवताओं की प्रसन्नता निमित्त कविता बनने लगी। कविता के साथ संगीत का उदय हुआ। इससे भी एक कदम और आगे बढ़कर कुछ देकर बदले में कृपा प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हुई। एतदर्थ बलि प्रथा प्रचलित हुई। बलि की आत्मा अव्यक्त के पास पहुँचकर आकांक्षी की आकांक्षा रख सके। उसकी कृपा प्राप्त करा सके। किन्तु, बलि किया गया जीव कभी लौटकर आया नहीं।

देवता तथा मानव के बीच कड़ी स्थापित करनेवाले नबियों, पैगम्बरों, अवतारों, देवदूतों की बात उठी। पुरोहितों, पाजकों, उपासकों, देवताओं के ठेकेदारों, एजेण्टों का उदय हुआ। समाज में एक वर्ग विशेष बन गया। उसका एकमात्र कार्य समाज के लिए दैवी कृपा प्राप्त कराना था।

यह वर्ग समाज का नेता बन गया। अपनी जाति का नेता बन गया। अपने गोत्र का नेता बन गया। कालान्तर में देवों की अकृपा से रक्षा के साथ-ही-साथ आततायियों से भी समाज की रक्षा का भार उठा लिया।

बात इस तरह चली। समाज में दुष्ट पैदा हुए। अनाचारी पैदा हुए। शक्तिशाली दुर्बलों की दुर्बलता का लाभ उठाकर और शक्तिशाली होने लगा। कोई संघटित शक्ति उन्हें दण्ड देने की नहीं थी। उनका दमन किसी एक व्यक्ति के बूते की बात न थी। अतएव लौकिक के स्थान पर पारलौकिक अथवा अव्यक्त शक्ति का आश्रय लिया गया। आततायियों के दण्ड निमित्त दैवी कोप का लाना सरल उपाय समझा गया। वह शाप के रूप में हो सकती थी।

यह व्यवस्था कारगर न हुई। इसमें विलम्ब होने लगा। कुव्यवस्था फैलने लगी। दैवी अकृपा अथवा दण्ड पर भरोसा करना कठिन होने लगा। अव्यवस्था रोकने के लिए तुरन्त दण्ड देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। देव के नाम पर दण्ड देने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। अतएव देव के मध्यस्थता तथा दण्ड देने का कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में आ गया। लौकिक एवं पारलौकिक दोनों का संचालक एक ही समूह अथवा व्यक्ति बन गया।

मिस्र में यह बात उसके इतिहास के उषाकाल से ही देखने में आती है। मिस्र की दुनिया को सबसे बड़ी देन उसका राजतन्त्र है। मिस्र में राजतंत्र का संघटन अत्यन्त सुव्यवस्थित तथा संघटित था। केवल मिस्र को ही वह गर्व प्राप्त है कि उसमें तीन हजार वर्षों तक निरन्तर राजतन्त्रीय शासन कायम रहा। इतने समय तक विश्व में कहीं भी किसी अवस्था में राजतन्त्र स्थापित नहीं रह सका।

मिस्र में राजा धर्म एवं राज्य किंवा लोक दोनों का नेता था। पुरोहित की हैसियत से लोक और सूर्य भगवान् के बीच मध्यस्थता करता था। सूर्योपासना तथा सौर पंचांग का उदय मिस्र के प्रसिद्ध नगर हेलिपोलिस में हुआ था।

यूनानी तथा रोम के इतिहासकारों ने मिस्र के लिए बहुत ही आदरणीय शब्दों का प्रयोग किया है। बाइबिल में मिस्र के सम्बन्ध में अनेक आख्यायिकाएँ आती हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि बाइबिल के कथानक और महात्मन् मूसा तथा यहूदी जाति के वास्तविक इतिहास का आरम्भ ही मिस्र से होता है। मिस्र की संस्कृति से यूनानी अनुप्राणित हुए थे। मिस्र की यूरोप को राजव्यवस्था तथा राजतंत्र की सबसे बड़ी देन है। रोम ने अपने राज संघटन में मिस्र की शासन-व्यवस्था से बहुत कुछ लिया है। मिस्र राजतंत्र तीन हजार वर्षों तक बिना किसी विशेष व्यवधान के किस प्रकार कायम रहा? इसका अध्ययन राजनीतिक विद्यार्थी के लिए हितकर होगा। इसमें मिस्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी सहायक थीं।

मिस्र पर नुबिया अर्थात् अबीसीनिया के अतिरिक्त किसी और भूभाग से आक्रमण होना सम्भव नहीं था। पूर्व में सिनाई का उजाड़ मरुस्थल था। अबीसीनिया और सिनाई प्रायः जनहीन थे। वहाँ सभ्यता, संस्कृति अथवा राज-संघटन होना कठिन था। भूमि उर्वरा नहीं थी। जनपद स्थापित होना सरल नहीं था। यातायात तथा परिवहन ऊँट के अतिरिक्त और किसी के लिए सम्भव नही था। उत्तर में भूमध्य सागर तथा पश्चिम में भी उजाड़ प्रदेश था। चारों ओर ऐसी भौगोलिक स्थिति थी कि उस पर सुगमतापूर्वक आक्रमण करना कठिन था। अतएव मिस्र को प्रकृति ने अपने ढंग से समृद्धिशील, प्रगतिशील, विकासशील होने में पूरी सहायता दी।

मिस्र में एक ही सभ्यता तथा संस्कृति कायम रही। यह बात सुमेर, बेबलोन, अक्कद, फिलस्तीन, सीरिया तथा भारत के लिए नहीं कही जा सकती। इन स्थानों पर सभ्यताएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती रहीं, जाती रहीं।

जातियाँ भी आती रही, जाती रही। जातियाँ आत्मसात् करती रहीं, और होती रही। सभ्यताओं तथा जातियों की सीमाएँ मिली रहने के कारण आक्रमण होते रहे। अतएव मध्य पूर्व तथा भारतादि देशों में अनेक प्रकार की सभ्यताओं, राज्य प्रणालियों तथा विचारों का उदय-अस्त होता रहा है।

यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस ने लिखा है—मिस्र का प्रथम राजा मेनस् था। उसके समय में उत्तरी तथा दक्षिणी मिस्र मिलकर एक राज्य बन गया था। उसने मिस्र की राजधानी मेम्फिस नगर में स्थापित की। मिस्र के प्रथम तीन राजवंशों का इतिहास प्रायः अप्राप्य है। सप्रमाण कहा जा सकता है कि मिस्र में पिरामिड का निर्माण इस समय आरम्भ हुआ था। तृतीय वंश के समय मेदम (Meydum) में एक पिरामिड का निर्माण हुआ था। इसका काल ४६००-४७५० वर्ष पूर्व रखा जा सकता है। गिजा अथवा गाजा के तीन पिरामिड इसी समय बने थे। राजा खुफू (Cheops) का पिरामिड ४८० फिट ऊँचा तथा १३ एकड़ भूमि में बना है। समुद्री जहाजों का यहाँ सर्वप्रथम प्रमाण मिलता है।

मिस्र के बारहवें वंश (४०००-३७४८) के पूर्व का काल उस देश का प्राचीन (classical) काल कहा जाता है। इस समय, क्रीट, सीरिया, फिलस्तीन आदि पूर्वीय उत्तरीय देशों से व्यापार आरम्भ हो गया था। आज से लगभग ३७०० वर्ष पूर्व हैक्सोस (Hyksos) ने मिस्र पर आक्रमण किया था। आक्रमणकारी पूर्व से आये थे। उन्होंने नगरों को नष्ट किया, मन्दिरों को अपवित्र किया। आज से ३५०६ वर्ष पूर्व मिस्र ने आक्रमणकारियों से सत्ता पुनः अपने हाथों में ले ली। इस समय से मिस्री इतिहास का स्वर्ण युग आरम्भ होता है।

अठारहवें वंश के फरोहा ने थीब्स में अपनी राजधानी स्थापित की। थुतमोस तृतीय (ईसा पूर्व १४८२-१४५०) मिस्र का नेपोलियन कहा गया है। मिस्र की शक्ति (ईसा पूर्व ११५०) के पश्चात् कुछ घटने लगी। आठवीं शताब्दी ईसा के पूर्व अबीसीनिया ने उस पर विजय प्राप्त कर लिया। ईसा के पूर्व ५२५ में मिस्र परसिया अर्थात् ईरानी साम्राज्य का एक प्रदेश बन गया। सिकन्दर ने मिस्र विजय किया। अपने एक सेनापति प्तोलिमी को देश का राज्यपाल नियुक्त किया। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त ईसा पूर्व ३२३ से उसने मिस्र पर शासन किया। ईसा पूर्व ३० में सीजर के पुत्र अक्टेवियस सीजर ने क्लियो पार्टा की आत्महत्या के पश्चात मिस्र को रोम साम्राज्य

का एक प्रदेश बना लिया। मिस्र की अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा मौलिकता का यहाँ पटाक्षेप होता है।

मिस्र का इतिहास पवित्र लेख चित्रलिपी में मिलता है। मिस्री राजाओं तथा सामन्तों का विचार लौकिक था। एक सामन्त ने अपनी समाधि पर उत्कीर्ण कराया था—"जो कुछ मैंने दिया है उसमें ऐसा नहीं था कि बड़े लोगों को छोटों के ऊपर रखा है।" एक स्थान पर पिता अपने पुत्र को राजसिंहासन आरोहण के पूर्व उपदेश देता है—"किसी कुलीन और साधारण वर्ग की सन्तानों में भेद न मानना। दोनों को एक ही व्यक्ति का कार्य मानकर उन्हें समान समझो।" वजीर शायद मिस्री शब्द है। इसका प्रयोग वहाँ मिलता है। वजीर बनने के समय प्रतिज्ञा ली जाती है—अपरिचितों के साथ तथा परिचितों के साथ एक समान व्यवहार करो। साथी के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, दूरवाले, अनजाने के साथ भी वही व्यवहार करो।

न्याय का रूप देवी मत तुल्य पवित्र माना जाता था। प्रत्येक जज मत-देवी की प्रतिमा पहनता था। माता की सुवर्ण प्रतिमा उत्तरी भारत में पहनने की प्रथा है। बालकों की माता की पूजा अथवा माता की बीमारी फैलने पर पहनाया जाता है। विदेशी यदि मिस्र में दिवंगत होता था तो उसकी सम्पत्ति आदि उसके देश में घरवालों के पास भेज दी जाती थी।

मिस्र में मातृ सत्तात्मक कौटुम्बिक प्रथा थी। विश्व में मिस्र की व्यवस्था अधिक संघटित, अनुशासित तथा सबसे अधिक लम्बी अवधि तक चलनेवाली सभ्यता तथा परम्परा थी। मिस्र में क्रान्ति तथा आन्तरिक कलह की गन्ध नहीं मिलती। धर्म का अर्थ विधर्मियों पर अत्याचार, विभिन्न व्यवहार, तथा बलपूर्वक उस पर अपना धर्म तथा धार्मिक अनुशासन नहीं लादना था। आर्थिक सुव्यवस्था के कारण मिस्र में क्रान्ति उर्वर भूमि अपने लिए प्राप्त नहीं कर सकी। मिस्री बहुदेववादी थे। बहुदेवपूजक थे। गृह-देवता, ग्राम-देवता, नगर-देवता आदि अनेक देवताओं की परम्परा भारत-तुल्य प्रचलित थी। एमोन थीब्स नगर का देवता था। जैसा कि काशीपति विश्वनाथ काशी के देव माने जाते हैं। मिस्र की राजधानी हटी और थीब्स में आई। नगर-देव एमोन ने राष्ट्रदेव का रूप ले लिया। सूर्योपासना मिस्र का सार्वजनिक धर्म कहा जा सकता है। बेबलोन की अपेक्षा मिस्र में स्त्रियों को और भी अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों का जीवन-स्तर मिस्र में बहुत ऊँचा था।

सूर्य का प्रधान उपासक तथा पुजारी अथवा पुरोहित मिस्र का राजा था। राजा की पूजा से सूर्य प्रसन्न होता है। राजा इन्द्र की उपासना से जल बरसा सकता है। नदियों में बाढ़ ला सकता है। अतएव राजा में देव अंश माना जाने लगा। दैवी राज्य सिद्धान्त अर्थात् राजा ने अपने राजत्व का अधिकार देवता से प्राप्त किया है, प्रचलित हो गया। होली रोमन साम्राज्य तथा मध्य-युगीय यूरोप में यह सिद्धान्त खूब प्रचलित था।

राजा साधारण मानव न होकर दैवी पुरुष हो गया। शक्ति-सम्पन्न माना जाने लगा। भारत में भी मनु आदि स्मृतिकारों ने राजा में ईश्वरांश माना है। अकबर के लिए दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा का सम्बोधन भारत के मध्य युग में प्रचलित कर दिया गया था। सूर्यवंश, चन्द्रवंश आदि इस बात के द्योतक हैं कि मनुष्य अपनी वंशावली प्राकृतिक शक्तियों से जोड़ने लगा। जापान के राजा भी अपने को सूर्यवंशी कहते है। यह बाते यहाँ तक बढ़ गयी कि मिस्र के समान चीन और जापान के राजा भी कुछ धार्मिक क्रियाओं के करने का एकमात्र अधिकारी हो गया। पंचमवंशीय मिस्र का फरोहा हैली पोलिस का प्रधान पुरोहित था। उसने राज्य के दैविक अधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

राजा यदि देवांश है तो किसी सर्वसाधारण की कन्या से विवाह नही कर सकता। उसकी पत्नी में भी देवांश होना आवश्यक है। इस समस्या का हल मिस्र में राजा ने अपनी सगी बहन से विवाह कर हल कर लिया। यदि मिस्र के राजा का पुत्र देव है तो कन्या भी देवी होगी। दक्षिण अमेरिका की 'इनका' जाति के राजा भी अपने को देवांश मानते थे। अतएव मिस्र के समान वहाँ भी राजा अपनी सबसे बड़ी बहन से विवाह करता था। इनके राजा भी अपने को सूर्यवंशी कहते थे।

राजा साधारण जन से बड़ा समझा जाने लगा। वह संहितादायक, न्याय-स्रोत, अनुशासक तथा पवित्र माना गया। मिस्र में ओसरिस देवता द्वारा देवत्व प्रदत्त फरोहा ओसरिस का एक प्रकार से रूप ही माना जाता था। मिस्र में इस अलौकिकता तथा पारलौकिकता की बाढ़ ने मिस्री जनता को जड़ बना दिया। उनका जीवन जैसे सूख गया।

लौकिक भावना के लोप के साथ मिस्र का गौरवशाली साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया। जनता में नेतृत्व का लोप हो गया। फल अवश्यम्भावी पतन था। सीजर, एंटोनियो और अगास्टस सीजर के सम्मुख मिस्र ने सर झुका दिया।

उनकी पराधीनता मान ली। प्रतिरोध की भावना तक न रही। यह ह्रास इस स्थिति को पहुँच गया कि मिस्री जनता के गुलाम बनानेवाले सीजर तथा आगस्टस सीजर मिस्र में देवत्व की कल्पना कर पूजे जाने लगे। जापान तथा चीन में भी प्राचीन काल में राजा को देवांश मानकर पूजा करने की प्रथा चल पड़ी थी।

भारत में चाहे राजा को किसी प्रकार अथवा किसी काल में देवांश माना भी गया हो परन्तु उसे देवता मानकर उसकी पूजा नहीं की गयी। भारत में लौकिक भावना का कभी भी लोप नहीं हुआ। उसकी जड़ भारतीय जनता में बहुत गहरी जम चुकी है। राजा के जीवित अथवा मृत्यूपरान्त उसकी कभी पूजा भगवान्-स्वरूप नही की गयी। लौकिक और धार्मिक दोनों ही विषयों को एक में मिलाकर उलझन पैदा नहीं की गयी। राजा के लिए कोई बन्धन नही रखा कि वह अपने देवांश को अपने देवत्व को कायम रखने के लिए केवल अपने वंश में विवाह करे। राजा किसी भी कन्या से विवाह कर सकता था। उससे मानव की समानता का भाव कभी भी गौण नहीं होने पाया। इस समानता को उदार रूप देने के लिए, उसे क्रियात्मक बनाने के लिए मातृपक्ष, पितृपक्ष तथा गोत्र तक में विवाह करना वर्जित कर दिया गया। यह था भारतीय विचारधारा की लौकिकता के प्रति अपार प्रेम। जिसने लौकिक तथा पारलौकिक विषयों को अलग रखा।

चीन

अब तक उन सभ्यताओं के विषय में लिखा है जो मिट गयी हैं। उन सभ्यताओं के विषय में कुछ कहना आवश्यक है जो जीवित है। जिनका इतिहास-प्रवाह अभी सखा नहीं है। जिन्होंने अपने जीवन के एक अध्याय को बन्द कर दूसरा पूर्णतया नवीन अध्याय नहीं खोला है। जिन्होंने अपने खंडहरों को छोड़ सर्वथा नवीन दिशा में भवन-निर्माण नहीं किया है। बल्कि अपने आवास को सदा-सर्वदा सजाते, सँवारते, मरम्मत करते, जीर्णोद्धार करते चले आ रहे हैं। उन सभ्यताओं में चीन तथा भारतीय सभ्यताएँ ही बच रही हैं।

पश्चिमी एशिया तथा यूरोप ईसाई धर्मागमन के पूर्व कुछ और ही था। ईसाइयों के आगमन के साथ नये स्लेट पर नवीन इतिहास पुराना भुलाकर लिखा जाने लगा। पहले क्या था उसे स्मृति से ओझल कर नवीन रूप, नवीन गति तथा नवीन धारा प्रवाहित की गयी। यही न्यू टेस्टामेण्ट था।

बाइबिल के अनुशासन पर लोगों को अनुशासित किया गया। बाइबिल के विनय पर मानव जीवन को ढाला गया। पुराना साँचा उठाकर फेंक दिया गया। नवीन साँचा बनाया गया। उसमें पुरानी बातों, पुरानी प्रथाओं तथा पुराने सदाचार के लिए स्थान नहीं था। पुराना इतिहास पगान कहकर संचय योग्य न माना गया। एशिया को छोड़कर विश्व इस प्रभाव में आ गया।

रोम, यूनान तथा अन्य देशों की जनता अपने इतिहास, परम्परा, सभ्यता तथा संस्कृति को भूल गयी। वे अपने पूर्वजों के गौरव को भूल गये। कला-कृतियाँ या तो जमीन के अन्दर कालान्तर में अपनी कहानी कहने के लिए दब गयीं अथवा वे नष्ट हो गयीं। शताब्दियों ने पुरातन पर नवीन आचार-संहिता के साथ परदा डाल दिया। पुरातन की ओर देखना और विचार करना अवांछनीय समझा जाने लगा। उसकी झलक लेना भी अपराध की सीमा में आ जाता था। उन्हें पगान की संज्ञा देकर भूल जाने की क्रिया आरम्भ की गयी।

इस स्थिति से यूरोप गुजरा है। मध्य युग में चर्च के विरुद्ध जब आन्दोलन खड़ा हुआ तो पुरानी बातें सोची जाने लगीं। ईसाई जगत् स्वयं रोमन कैथोलिक, ग्रीक सनातनी चर्च तथा प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय के अनेक पन्थों में बँट गया।

ज्ञान-पिपासा जागृत हुई। लोग विचार-स्वातंत्र्य, उसके विकास तथा अनजाने को जानने की जिज्ञासा से ओतप्रोत होने लगे। पुरानी बातें पढ़ी जाने लगीं। सुकरात, प्लेटो, अरस्तू का अध्ययन हुआ। पुराना इतिहास खोजा गया। भूमि में समाधिस्थ मूर्ति कलाएँ पश्चिमी कला को स्फूर्ति देने के लिए कब्रों से जैसे निकल पड़ीं। यह बात भारत तथा चीन में बहुत हद तक न हो सकी। उसकी धारा बहती ही रही। कभी अविच्छिन्न नही हुई। उसमें बाढ़ आती रही। सूखे मे जल घटता रहा परन्तु धारा की गति कभी बन्द न हो सकी।

चीनी सभ्यता का उदय पीत नदी की उपत्यका में हुआ था। जब से उसका उदय हुआ तुषार-प्रसवित सरिता तुल्य वह किसी भी ऋतु में, किसी भी काल में सूख न सकी। उसका इतिहास प्राप्य है। उसे खंडहरों में खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह विश्व की उन सभ्यताओं में से है जिसे गर्व है कि तूफान, अन्धड़, सूखा, जल-प्लावनों ने उसकी शाश्वत धारा बदली नहीं। धारा टटी भी नही। भारतीय सभ्यता मुसलिम तथा अंग्रेजी शासन में कुंठित हो गयी थी। यह बात चीन के इतिहास के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। चीन को कभी पराधीन होकर अपने इतिहास को कलंकित करने का अवसर नहीं मिला। वहाँ विचार आते रहे। जाते रहे। विचारों के साथ वह खेलता रहा। दौड़ता रहा। उठता रहा। गिरता रहा। गिरकर फिर उठता रहा।

चीनी सभ्यता का क्रमबद्ध इतिहास ईसा पूर्व ८०० से प्राप्त है। उसने बाहरी सभ्यताओं तथा विचारों से संघर्ष नहीं किया है, उन्हें अनुकूल बनाने का सर्वदा प्रयास किया है। उसने अपना दृष्टिकोण सर्वदा उपयोगी बनाये रखा। मैं समझता हूँ कि इस बात से समस्त चीन का इतिहास समझने में सुविधा होगी।

सम्राट येयू का काल २३५७-२२५८ ईसा पूर्व तक था। उसने चीन राज्य का संघटन किया। इस इन वंश के पश्चात् चौ वंश का शासन १२२२-२४९ ईसा पूर्व तक कायम रहा। कन्फ्यूसस का उदय ५५१-४७९ ईसा पूर्व में हुआ। वह भगवान् बुद्ध का समकालीन था। उसके तथा उसके समकालीन विचारकों के लेखों से चीनी राज्य-व्यवस्था तथा दृष्टिकोण पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

चीनी जनता तथा उसके दार्शनिकों का दृष्टिकोण लौकिक था। चीनी धर्म एकेश्वरवाद में विश्वास नहीं करता था। कनफ्यूसस ने राज्य की एक

बड़े कुटुम्ब से उपमा दी है। शासन का आधार बल नही, किन्तु अनुनय माना है। राजा को शासन में वही अधिकार प्राप्त था जो कुटुम्ब के कर्ता को प्राप्त हुआ करता है। यह कर्ता जिस प्रकार अपने कुटुम्बीय परम्परा, स्नेह, लोगों की माँग, तथा उनकी पूर्ति आदि की विकट परिस्थितियों के कारण स्वच्छन्द व्यवहार नहीं कर सकता उसी प्रकार राजा भी निरंकुश नहीं हो सकता था। वह कहता है—यदि कोई स्वयं अनुशासन में नहीं बँध सकता तो वह कैसे दूसरों को अनुशासित कर सकता है। जनता के सम्बन्ध में कहता है—जनता का समर्थन प्राप्त होने पर राज्य जीवित रहता है। उसका समर्थन हटते ही राज्य नष्ट हो जाता है।

कन्फ्यूसस राज्य-प्रणाली के सम्बन्ध में कहता है—वह परहितेच्छु तथा उदारमति होना चाहिए। राज्य किंवा प्रशासन शासितों के कल्याण निमित्त है। शासक अपना वैधानिक अधिकार जनता की अनुमति से प्राप्त करता है। शासकों में पैतृक-प्रेम, सद्गुण, पितृसत्ताक भाव तथा आचरण होना आवश्यक है। शासक ऐसा हो जिसका पथानुगमन किया जा सके।

कन्फ्यूसस राज्य-सिद्धान्तों के विवाद में नहीं पड़ता है। वह राज्य के व्यावहारिक गुणों पर अधिक जोर देता है। कहता है—यदि शासक स्वयं ठीक है तो शेष बातें स्वतः ठीक हो जायेंगी। यदि वह स्वयं ठीक नहीं है तो अनुचित आदेश दे सकता है। अनुचित आदेश का जनता कैसे समर्थन करेगी? उसका उल्लंघन होना अनिवार्य है।

उसने राज्य संचालक के सद्गुण तथा चरित्र पर बहुत जोर दिया है। शासन प्रणालियों को गौण माना है। कन्फ्यूसस कहता है—जगत् में पार्थिव मृत्यु मानव की सामाजिक उपयोगिता को शरीर के समान नष्ट नहीं करती। वह अपने स्नेहियों तथा कुटुम्बियों के बीच अपनी स्मृति के साथ जीवित रहता है। उसके स्नेही तथा उसके कुटुम्बी उसके उन सद्गुणीय कार्यों को करते रहते हैं जिनके निमित्त वह निष्ठापूर्वक जीवनपर्यन्त कार्य करता रहा है। जमीन केवल उसकी हड्डियाँ गाड़ रखती है। वह सदा सर्वदा जीवित रहता है अपने पवित्र सुकर्मों के कारण।

कन्फ्यूसस के शिष्य कुंग ने उससे पूछा—क्या कोई ऐसा शब्द है जो जीवनपर्यन्त के लिए चरित्र का दिग्दर्शन कराता रहे? उसने उत्तर दिया—कुंग! क्या सहानुभूति वह शब्द नहीं है? अपने लिए जिस काम को न करना

चाहो उसे दूसरों के लिए भी न करो। अन्त में वह कहता है—मानव का तौल स्वयं मानव है।

मेनसस ने भी विचार प्रकट किया है—शासन का अस्तित्व जनता के लिए है। यदि जन-कल्याण में शासन असफल हो तो जनता का परम कर्तव्य है कि उसे बदल दे।

चीनी राज-शास्त्र का मूलाधार लौकिक है। उन्होंने लौकिक राज्य शासन मे केवल विश्वास ही नहीं किया। उसे व्यवहार में उतारा भी। उनमें धार्मिकता किंवा साम्प्रदायिकता की गन्ध नही आती। उनका दृष्टिकोण लौकिक एव व्यावहारिक था। वे साम्प्रदायिकता के संकुचित विचारों में नहीं पड़े। उन्होंने प्रत्येक समस्या का हल लौकिक ढंग से करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि चीन कभी पराधीन नही हुआ। उसकी जीवन-धारा कभी सूखी नहीं। वह शक्ति-सम्पन्न रहा है और होता जायगा।

घुमन्तू जातियाँ

उन लोगों के सम्बन्ध में अब तक लिखा गया है जिनकी सभ्यता का उदय हो चुका है। वे ग्रामों में, जनपदों में, अथवा राष्ट्रों में निवास करते थे। उनके दार्शनिकों, तत्त्वविदों ने सुगठित राज्य तथा राष्ट्र का चित्र उनके सम्मुख रखा था। उनकी ऐतिहासिक परम्परा थी। धार्मिक परम्परा थी। नागरिक जीवन मे विशेष सम्बन्ध था।

इस जगत् में पशु-पालक जीवी समाज भी था। पशु-पालन उनके निर्वाह का एकमात्र साधन था। पशुओं के साथ घूमा करते थे। कहीं निश्चित आवास नहीं था। गरमी में ठण्डे पहाड़ों अथवा भूभागों में चले जाते थे। हिमपात अथवा शीत ऋतु मे गरम स्थानों में घर-गृहस्थी तथा ढोरों के साथ आ जाते थे।

सभ्यता का प्रकाश कन्दील में रखे दीपक तुल्य झंझावात या तूफान में भी प्रकाश देता है। यही बात सभ्यता के विषय में भी कही जायगी। नगरों तथा मकानों में रहने की व्यवस्था के साथ ही साथ सभ्यता का विकास हुआ है। वह बढी है; व्यापार किंवा परिवहन और यातायात की सुविधाओं के प्रसार के साथ। तम्बुओं, खेमों, डेरों में घुमन्तू लोगों की मनोवस्था सर्वथा भिन्न होती है।

अपने साथ घर-गृहस्थी तथा ढोरों को लेकर घूमने के लिए, भार ढोने के लिए, कुछ व्यवस्था का होना आवश्यक था। गदहा सबसे पहले आदमियों के अधीन अपनी सिधाई तथा परिश्रम के कारण आया। उसके पश्चात् ऊँट और घोड़ों पर मनुष्यों ने काबू पा लिया। वे परिवहन के साधन बन गये। भारतीय जंगलों मे भारी सामान ढोने के लिए हाथी को लोगों ने पालतू बनाया।

बेबलोन तथा सुमेर में ऊँटों का प्रयोग आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व मिलता है। उससे पहले या साथ ही साथ मोसोपोटामिया में घोड़ों का प्रयोग आरंभ हो गया था। गदहों, घोड़ों तथा ऊँटों का प्रयोग सामान लादने के लिए किया गया। जीविका उपार्जन के लिए गाय, बैल, बकरी-बकरे, भेड़ आदि पाले गये। रुई का प्रारंभिक काल में प्रयोग उतना नहीं मिलता जितना आज है।

अतएव भेड़ ऊनी कपड़ों के लिए, गाय दूध के लिए और बकरियाँ खाने के लिए प्रयुक्त हुईं। इस प्रकार घुमन्तू जाति की दैनिक आवश्यकता केवल पशु पर अवलम्बित हो गयी। इसमें उन्हें किसी प्रकार की असुविधा न हुई।

घुमन्तू लोग अकेले चलने में खतरा समझते थे। समूह में वे अपनी सुरक्षा, सहायता तथा जीवनोपयोग के लिए रहने लगे। कबीलों में संघटित हो गये। उनकी जाति, उनका गोत्र अपने कबीले तक सीमित हो गया। कबीलों का वृन्द छोटा बना। वंश तथा रक्त सम्बन्ध ने उन्हें संघटित कर उनमें वृन्द-जीवन उत्पन्न कर दिया। कबीले अनेक टुकड़ियों में बँट गये।

चरागाहों, जलस्थानों तथा पशुओं की अदला-बदली, चोरी, छीना-झपटी आदि साधारण बातों पर संघर्ष होना स्वाभाविक था। वे लड़ाकू प्रवृत्ति के हो गये। यदि कृषि जीवन शान्तिप्रिय था, तो कबीला किंवा गोत्रीय जीवन संघर्षमय बन गया।

ग्रामों, नगरों, जनपदों आदि के निवासियों की अपेक्षा खुले मैदानों में रहने के कारण उन्हें सर्वदा आक्रमण का भय रहता था। हमेशा प्रतिरक्षा की भावना ने उन्हें कठोर तथा युद्धप्रिय और युद्ध पारंगत बना दिया था। वे सभ्य जगत् के मनुष्यों की अपेक्षा बली थे। पुरानी बाइबिल इस प्रकार के कबीलों के इतिहासों एवं उनके संघर्षों से भरी पड़ी है।

अरिस्टाटल कहता है कि पशुपालक जाति युद्ध निमित्त अपनी शक्ति, अपने शारीरिक बल तथा संघर्षप्रियता के कारण उपयुक्त थी। कबीलेवालों में देवता की भी कल्पना उनकी रुचि के अनुसार विचित्र की गयी थी। उनके देवतागण उनकी सहायता करते थे। वे उन्हें विजयी तथा पराजित करा सकते थे। एक कबीले का देवता दूसरे कबीले के देवता से सामना करने की सामर्थ्य रखता था। फल यह हुआ कि एक देवता दो कबीलों का नहीं हो सकता था। प्रत्येक कबीले का देवता अलग था। अरब इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि देवताओं की छीना-झपटी होती थी। एक कबीला दूसरे कबीले पर आक्रमण कर देवता छीन ले जाता था। उन्हें छीन कर अपना देवता बना लेता था। बाइबिल में राहेल जब जाने लगी तो अपने कुल-देवता को चोरी से लेती गयी।

बेबलोन के समीप अमोराइत कबीले का राज्य स्थापित हुआ। मिस्र पर २१०० ईसा पूर्व में आक्रमण किया। मिस्र वाले बोल उठे—भगवान् हमारे

विरुद्ध है। मिस्र वालों को घोड़ों और अश्वारोहियों के साथ युद्ध करना नहीं आता था। अश्वयुद्ध से वे चकित हो गये। उनका मनोबल इस विचित्र पशु तथा पशु चालित मनुष्य को देखकर टूट गया। उसे उन्होंने देवताओं का काम समझा। वे पराजित हो गये। हैक्सो का राजवंश मिस्र में स्थापित हो गया। मिस्रवालों ने अश्वों का प्रयोग किया। रहस्य प्रकट हो गया। शत्रु शक्ति देव नहीं, मानवीय कर्म था। उन्होंने पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

पशुपालक व्यवस्था में लौकिक भावना के लिए स्थान न था। उनकी प्रशासन व्यवस्था आनुवंशिक और दैवी थी। जहाँ व्यवस्था अथवा भावना का आधार दैवी शक्ति की भावना पर आधारित होगा वहाँ लौकिक राज्य की स्थापना की ही नहीं जा सकती। अतएव पशुपालक जगत् तथा कबीलों वाली जाति में लौकिक राज्य पनप नही सकता। यही कारण है कि घुमन्तू जाति कभी अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा सुगठित राष्ट्र स्थापित करने में सफल नही हो सकी है।

यहूदी

यहूदियों का काल मिस्रियों के बहुत बाद का है। फिर भी राजनीतिक इतिहास के विकास में यहूदी जाति का काफी हाथ रहा है। पुरातन बाइबिल अथवा ओल्ड टेस्टामेन्ट यहूदियों की कथा-कहानियों तथा उनकी गाथा और धार्मिक विचारों से भरे पड़े हैं। बाइबिल के नवीन सुसमाचार प्रभु ईसामसीह के उपदेश तथा चरित्र हैं जिसे उनके चार शिष्यों ने लिखा है।

होली लैण्ड अर्थात् पवित्र भूमि का बाइबिल में बहुत वर्णन मिलता है। इस भूखण्ड को कनाना कहते थे। यूनानियों ने उसकी संज्ञा पेलेस्टाइन से दी है। यह शब्द फिलस्तीन का अपभ्रंश है। यार्दन नदी इस भूमि की जीवन-रेखा है। आधुनिक लेबनान गणतंत्र के हरमोन पर्वत से प्रसवित होकर गेलेली सागर में गिरती है। गेलेली सागर से पुनः निकलती है। सर्पाकार बहती मृतसागर अर्थात् डेड सी में गिरती है। मृतसागर भूमध्य सागर की सतह से १३०० फुट नीचा है। इस सागर के पानी का कहीं निकास नहीं है। वह अत्यन्त खारा है। यदि उसमें कोई वस्तु गिर जाय तो उसे डूबने में अन्य सागरों की अपेक्षा अधिक समय पानी के भारीपन के कारण लगेगा। यार्दन नदी की उपत्यका तीन मील से चौदह मील चौड़ी है। वर्ष में केवल चार इंच पानी बरसता है। यहूदी तथा ईसाई जगत् में इस नदी का वही महत्त्व है जो भारत में गंगा नदी का भारतीयों के लिए है।

इस देश के दक्षिण, अरब की मरु-भूमि है। फिलस्तीन की नाममात्र की हरियाली तथा उपज अरब के बद्दुओं तथा खानाबदोशों के लिए सर्वदा आकर्षण की सामग्री रही है। अरब में जल की कठिनाई है। फिलस्तीन में पहाड़ी झरनों आदि के होने के कारण अरब उसे आदर्श देश मान लेते थे। फिलस्तीन में गेहूँ, जौ, अंगूर, अंजीर, जैतून, शहद आदि होता था। पुरातन बाइबिल वर्णित और आज के विकसित फिलस्तीन में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। फिलस्तीन के उजाड़ खण्डों में आज प्रासाद तथा आधुनिक प्रसाधनों से युक्त नगर आबाद हो गये हैं। सहकारी खेती का सफल प्रयास किया गया है।

हिब्रू अथवा यहूदी जाति फिलस्तीन में कहाँ से आकर आबाद हुई थी निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। कुछ लोग उनका मूल स्थान उत्तरी अफरीका तथा कुछ काकेशश बताते हैं। इस जाति की वंशावली तथा परम्पराओं में अनेक नबियों, पैगम्बरों, महान् राजाओं, दार्शनिकों की मणियाँ गुथी मिलती हैं। उन्हें ईसाई तथा मुसलमान किंचित् भिन्नता के साथ मान्यता देते हैं। इसी जाति में दाऊद अर्थात् डेविड के वंश में मेरी किंवा मरियम के गर्भ से प्रभु ईसामसीह का जन्म हुआ था। हिब्रू जाति का वर्णन बेबलोन, मिस्र, यूनान तथा रोम के इतिहासों में मिलता है।

यहूदियों का रक्त तथा वंश सम्बन्ध अत्यन्त कठोर था। कबीलों अथवा गोत्रीय सम्बन्धों के कारण उन्हें एक राज्य में संघटित करना अत्यन्त कठिन कार्य था। हिब्रू अथवा यहूदी जाति एक राजतन्त्र में कभी सुसंगठित हुई नही। केवल महात्मन् सुलेमान का समय अपवाद कहा जायगा। साल जिसे प्रथम राजा कहा जा सकता है, का निर्वाचन सेमुयल ने एमोनाइट के विरुद्ध युद्ध करने के लिए नेता स्वरूप किया था। शत्रु के भय से, न कि राजतन्त्र के सिद्धान्तों से, यहूदी जनता इस कार्य-सम्पन्नता के लिए आकर्षित हुई थी। राजा का कार्य युद्ध से था। उसका सम्बन्ध जनता से नही था। युद्ध में विजेता राजा होने की योग्यता रखता था। साल के मृत्यूपरान्त डेविड (दाऊद) का चुनाव इस-राइल कबीलों के मुखियों ने किया था। विद्रोह के अधिकार की मान्यता प्राप्त थी। दाऊद ने साल के विरुद्ध आवाज उठायी। डेविड के विरुद्ध उसके पुत्र ने विद्रोह किया।

यहूदियों का विश्वास है कि वे भगवान् की चुनी जाति हैं। मानव में भगवान् ने केवल उन्हीं की जाति को अपना समझ कर चुना है। अतएव वे अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं। उनका अस्तित्व उनकी जाति और भगवान् के बीच हुए संविद अथवा इकरार के कारण हुआ है। इसराइल जाति का यह चरित्र रहा है कि किसी काम की असफलता पर वे स्वयं अपने को दोष देते हैं। शत्रु का दोष अथवा किसी और कारण से कार्य असफल हुआ यह न कहकर कहते हैं कि असफलता का कारण उनका पाप है। अपने संघटित न होने का दोष भी अपने कभी के किये पाप को देते हैं। उनके पाप के कारण ही भगवान् ने उन्हें बिखेर दिया था। उन्हें एक राष्ट्र में संघटित होने नहीं दिया। यह उनकी धारणा है।

हिब्रू कल्पना के अनुसार आदर्श शासन-व्यवस्था देवाधिराज (थियोक्रैसी) अर्थात् धार्मिक राज्य है। राजतंत्र समय की माँग के कारण समयानुकूल माना जा सकता है। वह एक प्रकार की व्यवस्था मात्र है। प्रयोग सिद्ध होने पर तोड़ा जा सकता है। पुरातन बाइबिल में भगवान् ने कहा है—मैंने राज तुम्हें अपने क्रोध के कारण दिया है। दैवी कानून, बाइबिल वर्णित अनुशासन तथा नियमों का पालन करना आदर्श माना गया है। यहूदी जगत् एक ही प्रकार के कानून तथा न्याय की कल्पना करता है।

मिस्र-बेबलोन आदि लौकिक राज्य सिद्धान्त मानने वाले देशों के सम्पर्क में रहने पर भी यहूदी दृष्टिकोण लौकिक न हो सका। वे चुने लोग हैं। उनके कानून भूत, वर्तमान, भविष्य, सर्वदा के लिए पुरानी बाइबिल में लिख दिये गये हैं; यह ऐसे विचार थे जिनके कारण लौकिक भावना का उदय होना सम्भव नहीं था। कानून तथा न्याय के विषयों में वे शुद्ध न्याय के पक्ष-पाती थे। वे चीन, मिस्र और बेबलोन के ठीक उल्टे विचार राजनीति में रखते थे।

सबसे अलग रहने की प्रवृत्ति ने उनकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित कर दी थी। वे उदार न हो सके। लोकतन्त्रीय नहीं हो सके। उनमें मुक्त विचारधारा प्रवाहित न हो सकी। उनका धर्म ईसाई, मुसलमान तथा बौद्धों के समान मिश-नरी धर्म नहीं था। वे अपने रक्त-शुद्धि के चक्कर में नवीन रक्त, नवीन लोगों को सम्मिलित करने में असमर्थ रहे। हिन्दुओं के तुल्य धर्म की एक मर्यादा बना ली। उनका धर्म प्रवाहित धारा की तरह न होकर सरोवर का रुका पानी हो गया। सरोवर से पानी निकलने पर सरोवर स्वतः सूखने लगता है। यही बात हिन्दू तथा यहूदियों के लिए वस्तुतः चरितार्थ हुई।

देवाधिराज अर्थात् थियोक्रेसी की सफलता के लिए एक मिशन तथा आदर्श का होना आवश्यक है। उस मिशन किंवा आदर्श पर लोगों को चलाने के लिए आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्ति होनी चाहिए। इतनी ताकत हो कि विवेक के असफल होने पर शक्ति से बात मनवायी जा सके। यहूदी लौकिकता का आश्रय ग्रहण कर इस लोक की समस्या हल करना तो दूर रहा, दूसरी जातियों की आँखों पर चढ़ गये। परिणाम यह हुआ कि लौकिक भावना के अभाव में उनका राजतंत्र सफल न हो सका। देवाधिराज तन्त्र भी जहाँ का तहाँ रह गया।

समय आया कि बिना देश, बिना घर-बार के वे विश्व में बिखर गये। घुमन्तू हो गये। अन्य धर्मावलम्बियों अर्थात् ईसाइयों और मुसलमानों के सम्मुख अपराधी तुल्य उनके शिकार बन बैठे। लगभग दो हजार वर्षों के पश्चात् उनके पुराने घर फिलस्तीन में उन्हें पुनः स्थान मिला है। उनका दृष्टिकोण वह नहीं है जो पूर्व में था। आधुनिक जगत् लौकिक भावना से प्रभावित है। अतएव वे शक्तिशाली हो गये हैं। उन्होंने अपने पुराने धर्म को न त्यागते हुए आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप अपने को बना लिया है।

यूनान

आधुनिक जगत् यूनान का ऋणी है । विश्व की राजनीति उनसे प्रभावित है। यूनान ने राजनीतिक दिशा में अनेक प्रयोग किये हैं। उनका प्रयोग सदा और सर्वदा मानव जगत का पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। वे दार्शनिक थे। विचारक थे। उन्होंने मानव-विकास निमित्त सभी कुछ किया जो कर सकते थे। बड़े साम्राज्य बनाने में, उन्हें स्थायी रखने में समर्थ नहीं हो सके, परन्तु उनका विवेक, उनकी विचार-शैली इतनी परिष्कृत थी कि वह आज भी हमें अनुप्राणित करती है।

आधुनिक जगत् ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, ललित कला, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, स्थापत्य तथा वास्तु और मूर्ति कला के लिए यूनान का ऋणी है। राजनीति में विभिन्न प्रकार के तन्त्रों का प्रयोग, उनका विश्लेषण, उनका विवेचन राजनीतिज्ञों की बाइबिल रही है। युगों से उन्होंने मानव को प्रभावित किया है और करते रहेंगे। उसने सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकों को जन्म दिया है। उसने आदर्श शासकों सोलोन तथा पेरीक्लीज को पैदा किया है। साहित्यिक जगत् में सफ्फो एसचाइलस, सोफोक्लीज, यूरी पाइडस अरिस्टोफेन्स जैसे महान् विभूतियों की शब्दावलियों में विश्व विमुग्ध हो उठा है। प्लेटो ने ठीक कहा है—यूनानी ज्ञान से प्रेम करते थे और फोनीशियन धन से।

हेलेनिक काल अथवा युग ७७६ ईसा पूर्व से प्रारम्भ होता है। इस वर्ष यूनान के सभी भागों के लोग ओलम्पिक गेम में भाग लेने आये थे। सबके एकत्रित होने पर एक हेलेनिक विचार का उदय हुआ। हेलेन शब्द थेसली निवासी एक जाति के लिए प्रयुक्त होता था। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में केवल यूनान के ही लोग नहीं, आसपास के लोगों में भी पारस्परिक सम्बन्ध आदान-प्रदान के कारण एक भाषा तथा एक प्रकार का आचार-व्यवहार फैल गया।

नवीन संस्कृति तथा सभ्यता का उदय हुआ। वे एक सूत्र में बँधा अनुभव करने लगे। यूनानियों की एक जाति बन गयी। उनका एक जगत् बन गया।

यह विकास विकसित होता रहा। इस विकास का अन्तिम अध्याय बन्द होता है। सन् ३३८ ईसा पूर्व में अलेक्जेण्डर के पिता मेसिडोनिया के राजा फिलिप ने यूनान पर अधिकार कर लिया। यूनानी लोकतंत्र समाप्त हुआ। वह साम्राज्य का एक भाग बन गया।

एथेन्स में सर्वप्रथम देववंशीय राजाओं का शासन था। वे अपने को देवताओं का उत्तराधिकारी मानते थे। रोम में राजतन्त्र का लोप क्रान्ति द्वारा हुआ। एथेन्स में यह प्रक्रिया शिथिल रही। राजा के स्थान पर उसका उत्तराधिकारी राजवंश से चुना जाने लगा। इस प्रकार आनुवंशिक पैतृक उत्तराधिकार के स्थान पर निर्वाचित उत्तराधिकार की परम्परा कायम हुई। एकवंशीय उत्तराधिकार के स्थान पर गोत्रीय उत्तराधिकार प्रचलित किया गया। दूसरी प्रक्रिया राजा के अधिकारों के नियन्त्रण निमित्त हुई। सेनापति तथा जजों की एक परिषद् राजा की मन्त्रणा के लिए बनायी गयी। जजों का भी पद, जिन्हें आरकन कहते थे, कुलीन वर्ग के लिए पूर्णतया सन् ७२५ ईसा पूर्व में खोल दिया गया। उनके पद की अवधि दस वर्ष से घटा कर एक वर्ष कर दी गयी। तीसरा लोकतन्त्रीय पद नौ व्यक्तियों की परिषद् स्थापना कर उठाया गया। इस परिषद् की स्थापना के पश्चात् राज्य की पूरी शक्ति कुलीन किंवा अभिजात वर्ग के हाथों में आ गयी। एथेन्स में सन् ६८३ ईसा पूर्व में अभिजात तंत्र अथवा अरिस्टोक्रेसी की स्थापना हो गयी।

यूनानी अभिजात तन्त्र का आधार धर्म अथवा सम्प्रदाय नहीं था। उनके विचार संकुचित नहीं थे। किसी भी उत्तम व्यवस्था तथा विचारों का आदर करते थे। उन्होंने फोनीशियन लिपि स्वीकार कर ली। फोनिशियन व्यापारी थे। व्यवसाय उनका मुख्य उद्यम था। किसी से भी विचार-विनिमय तथा हिलने-मिलने-जुलने में संकोच नहीं करते थे। यूनानियों में भी इन गुणों का बाहुल्य हो गया।

यूनान अत्यन्त उर्वर प्रदेश नहीं था। पर्वतीय देश था। उपज कम होती थी। बहुत धनी लोग नहीं थे। उनका जीवन सादा तथा विचार ऊँचे थे। यूनान में अभिजाततन्त्रीय गणतन्त्र ७५० ईसा पूर्व से ६०० ईसा पूर्व तक कायम रहा। आरकन सोलोन ने ५९४ ईसा पूर्व यूनान में गणतन्त्र का ढाँचा खड़ा किया। उसने गरीब और अमीर के बीच अपने नवीन सुधारों के द्वारा सन्तुलन स्थापित किया। क्लीस्थनीज ने ५२५ ईसा पूर्व आदर्श गणतन्त्र की रचना की। यह गणतन्त्र सन् ३३८ ईसा पूर्व तक कायम रहा। पेरीक्लीज के समय प्रभु-

सत्ता पूर्णतया इकलीसिया अर्थात् स्वतंत्र नागरिकों के परिषद् में निहित हो गयी। यूनान में लगभग २०० ईसा पूर्व तक किसी न किसी रूप और कहीं न कहीं गणतन्त्र की दीप-शिखा टिमटिमाती मिलती है।

यूनानी दार्शनिकों की विश्व को सबसे बड़ी देन उनका स्वतंत्र विचार तथा जिज्ञासा है। उन्होंने प्राच्य के अलौकिक किंवा पारलौकिकवाद के स्थान पर तर्क तथा विवेक को स्थान दिया। दर्शन उनके लिए तात्त्विक विवेचन मात्र नहीं था। दर्शन को उन्होंने जीवन में उतारा भी। उसका सामाजिक प्रयोग भी किया। लोगों में वैज्ञानिक प्रवृत्ति उत्पन्न की।

एथेन्स का राज्य-दर्शन दो बातों पर आधारित था। स्वतंत्रता तथा कानून के लिए महान् आदर। नागरिकों की स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर थी। उसमें कितनी बौद्धिक क्षमता है। वह किसी को अपने तर्कों तथा विचारों से सन्तुष्ट कर सकता है या नही ? स्वयं दूसरों से सन्तुष्ट होने की क्षमता रखता है या नहीं ? समाज में अपने विवेक, तर्क तथा विचारों का आश्रय लेकर स्वतंत्रतापूर्वक रह सकता है या नही ?

पेरीक्लीज एथेन्स के नागरिकों के विषय में कहता है—वह अपने निजी कर्मों की चिन्ता के साथ-ही-साथ सार्वजनिक जीवन में भाग लेता है—वह राज्य की उपेक्षा इसलिए नहीं कर सकता कि उसे अपने घर-गृहस्थी की चिन्ता रहती है। हम लोगों में से वे सभी लोग जो कारोबार में लगे हैं राज्य का यथेष्ट ज्ञान रखते है। हम उन नागरिकों को बेकार समझते हैं जो राज्य के कार्यों में रुचि नही रखते। उन्हें हम केवल सीधा-सादा ही नहीं मानते बल्कि निरर्थक चरित्रवाला मानते हैं। हम लोगों में चाहे कुछ लोग किसी नीति के जनक क्यों न हों, साथ ही साथ उस नीति के स्वयं निर्णायक, आलोचक और विचारक भी हैं।

यूनानी बहुत पहले से ही राज्य के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि राज्य की प्रभुसत्ता राजवर्ग किंवा राज्य करनेवालों में नहीं अपितु कानून में स्थित रहती है। नागरिक की स्वतंत्रता का अर्थ उसके समझने की स्वतंत्रता, बहस करने की स्वतंत्रता, योग देने की स्वतंत्रता में है, जिन्हें वह राज्य के लिए दे सकता है।

लौकिक राज्य सिद्धान्त का आज भी यही आधार है। यही आधार सर्वदा से रहा है। भविष्य में रहेगा। स्वतंत्रता तथा कानून के प्रति लोक की श्रद्धा

यदि हटा दी जाय तो यूनानियों की दृष्टि में न तो वह गणतन्त्र होगा और न लौकिक राज्य। उसका रूप क्या हो सकता है इसका निश्चय तत्कालीन परिस्थितियाँ ही करने या बताने में समर्थ हो सकती हैं।

'स्वतंत्र नगर में स्वतंत्र नागरिक' यूनानी राज-शास्त्र का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। वे ऐसी स्वतंत्रता की कल्पना नहीं करते थे जिसमें कर्तव्यहीन, अकर्मण्य, निरर्थक नागरिक हों। उनकी स्वतंत्रता की कल्पना नागरिकों के कर्तव्यों से सम्बन्धित थी। कर्महीन नागरिक समाज पर भार होता है। यह यूनानी दार्शनिकों के महत्त्वपूर्ण कार्यों से स्पष्ट झलकता है।

यूनानी राज्य का स्वरूप नागरिक जीवन के समस्वर में सभी नागरिकों का स्वर सम्मिलित करना था। यूरिपाइडस कहता है—समानता एक मित्र को दूसरे मित्र, एक नगर को दूसरे नगर तथा एक मित्र-देश को दूसरे मित्र-देशों की सुमिरनी मे गूँथती है। सोफिस्ट दार्शनिकों का दृष्टिकोण लौकिक था। वे मानव हितवाद में विश्वास करते थे। प्रोटोगोरस कहता है—मानव ही प्रत्येक वस्तु किंवा विचार का माप-दण्ड है। मानव का वास्तविक अध्ययन स्वयं मानव है। जो कुछ है वह स्वयं है। और जो कुछ वह नही है, वह कुछ नहीं है।

पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में सोफोक्लीज के शब्दों में—मानवीय कानून के प्रति आदर और कर्तव्य तथा दैवी कानून और कर्तव्यों के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ था। अलमी दमस ने कहा था—भगवान् ने मानव को स्वतंत्र बनाया है। प्रकृति ने किसी भी व्यक्ति को दास नहीं बनाया है। थसाडाइडस कहता है—देवों में हम विश्वास करते है। मानव को जानते हैं। वे प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक कानूनों के अनुसार उन सभी स्थानों पर शासन करते है जहाँ वे कर सकने में समर्थ होते हैं। पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्राकृतिक विधि तथा रुढ़ि की दो विभिन्न धाराएँ बह निकली थी। इस समय एथेन्स निवासियों की मनोवृत्ति उपयोगितावादियों के तुल्य थी।

गुण ही ज्ञान है। सुकरात के विचार ने यूनानी राजनीतिक विचार-धारा को बहुत प्रभावित किया। सुकरात यूनान का महान् दार्शनिक हुआ है। स्वतंत्र विचार तथा शुद्ध आलोचना उसकी देन है। मृत्युदण्ड के समय उसके शिष्य प्लेटो की आयु केवल २८ वर्ष की थी। आठ वर्षों तक सुकरात के चरणों में रहकर उसने तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। उसके विचारों पर गुरु के विचार तथा चरित्र का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। प्लेटो में फिर भी मौलि-

कता है। उसके अपने स्वयं के विचार हैं। यह मानना ही पड़ेगा। राज्यार्थ बिना शर्त आत्म-समर्पण कर देना प्लेटो के राज्य सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु है।

प्लेटो (४२७ ईसा पूर्व) ने राज्य की तुलना अतिकाय मनुष्य से की है। उसने दार्शनिक शासक की बात उठायी। उसने व्यष्टि, समष्टि तथा समाज की अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि व्यष्टि तथा राज्य की नैतिकता में अन्तर माना है। उसकी विचारधारा तथा उसके समाज का स्वरूप भारतीय वर्ण व्यवस्था के समीप पहुँच जाता है।

वह कर्मणा वर्ण पर विश्वास करता था न कि जन्मना पर। वह मानता था। जन्मना वर्ण कुसंस्कार, संकुचित दृष्टिकोण तथा जड़ परम्परा उत्पन्न करता है। कर्म के आधार पर उसका मानवीय वर्गीकरण वैज्ञानिक है। वह वैज्ञानिक मनीषी था। उसने पारलौकिक, अलौकिक, धार्मिक, स्वर्गीय किंवा दैवी राज्य के सिद्धान्तों को नहीं माना है। वह लोकतन्त्र का प्रतिपादक था। ऐसा लोकतन्त्र चाहता था जो कुसंस्कारी अथवा चरित्रहीन नेताओं के हाथों में न रहकर गुणी, चरित्रवान्, विज्ञ-लोक-नेताओं द्वारा नियंत्रित तथा परिचालित हो।

निजी सम्पत्ति का प्लेटो विरोधी था। वह कुटुम्ब तथा वंश-परम्परा मिटा देने का पक्षपाती था। उसने विवाह-प्रथा भी समाप्त कर देने की बात उठायी है। इस प्रकार उसकी विचारधारा कम्युनिज्म के समीप पहुँच जाती है। उसका कहना है, राज्य की एकता के मार्ग में कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति रोड़े हैं। सम्पत्ति तथा विवाह-प्रथा को मिटा देने पर वर्गहीन—शोषक तथा शोषित विहीन समाज बन सकता है। प्रत्येक मनुष्य को उसके अनुरूप कार्य देना अथवा उसके मनोवृत्ति के अनुसार काम लेना या देना ही न्याय है। उसने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

उसने अपनी पुस्तक "ला" में स्पष्ट कहा है। धर्म को शिक्षा के समान राजकीय प्रशासकीय नियन्त्रण में रखना चाहिए। धर्म का स्थान राज्य से ऊपर नहीं है। शिक्षा के समान राजकीय व्यवस्था के अन्तर्गत है। उसने धर्म की मान्यता राजकीय कानून तथा प्रक्रियाओं के ऊपर नहीं मानी है। धार्मिक व्यवस्था राज्य के कार्यों को प्रभावित करेगी यह कल्पना प्लेटो ने की ही नहीं है। उसका राज्य सिद्धान्त लौकिक राज्य सिद्धान्त का उत्कृष्ट उदाहरण है।

प्लेटो कहता है—लोग अनेक विषयों का अध्ययन करते हैं। उसी प्रकार धर्म भी अनेक विषयों में एक विषय है। अपनी रुचि-अनुसार उसका अध्ययन अन्य विषयों के समान किया जा सकता है। शिक्षा तथा अन्य विषयों के हेतु

राज्य नियमादि बनाता है। उसी प्रकार धर्म के लिए भी बना सकता है। भारत लौकिक राज्य है। उसने हिन्दू धर्म के सुधार निमित्त यदि कानून बनाया तो वह लौकिक राज्य के सिद्धान्त में हस्तक्षेप करना नहीं कहा जायगा। प्लेटो ने आज से २४ सौ वर्ष पहले इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अच्छी तरह अपनी पुस्तक "ला" में किया है। आदर्श लौकिक सिद्धान्त को मानकर कहता है—अंततोगत्वा किसी भी अच्छे राज्य में राज्य की प्रभुसत्ता संविधान में निहित रहती है, न कि किसी व्यक्ति विशेष में, चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

अरिस्टाटल अर्थात् अरस्तू (३८४–३२२ ईसा पूर्व) विश्व का महान् राजनीतिक विचारक हुआ है। वह एथेन्स से लगभग २०० मील दूर मेसोडेनिया के स्टेगरिया स्थान में पैदा हुआ था। उसका प्रपिता सिकन्दर के पिता फिलिप का राजवैद्य था। उसकी स्त्री उससे २० वर्ष आयु मे छोटी थी। फिलिप ने अपने पुत्र सिकन्दर का शिक्षक उसे नियुक्त किया था। सुकरात सन् ३३५ ईसा पूर्व में एथेन्स में आया। वहाँ उसने एक स्कूल लाइसियम आरम्भ किया। अपनी ६२ वें वर्ष की आयु में वह दिवंगत हुआ।

अरिस्टाटल अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रसिद्ध सूत्र से करता है—मानव सामाजिक प्राणी है। केवल समाज में व्यष्टि अच्छी तरह रह सकता है। केवल समाज में ही रहकर वह अपनी आजादी का उपभोग कर सकता है। केवल समाज में ही रहकर उसकी सर्वतोमुखी उन्नति किंवा विकास हो सकता है। उसका कहना है कि राज्य की मानव जीवन के अस्तित्व हेतु उत्पत्ति हुई है। उसकी स्थिति मानव के कल्याण निमित्त है।

अरस्तू ने तत्कालीन १४८ राज्यों के संविधानों तथा उनकी संहिताओं का अध्ययन किया था। प्लेटो का वह समर्थन करता है। व्यष्टि को समष्टि में मिल जाना चाहिए। राज्य के लिए पूर्ण आत्मसमर्पण कर देना मानव का कर्तव्य है। इस समर्पण का हेतु वह उपस्थित करता है। मानव का आत्मसमर्पण उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। उसने राज्य प्रणालियों में राजतंत्र, अभिजात तंत्र, संवैधानिक लोकतंत्र, तथा डिमोक्रेसी पर विचार प्रकट किया है। उसने इन तन्त्रों के विकृत रूपों का भी वर्णन किया है। राजतन्त्र का विकृत रूप अधिनायक तन्त्र किंवा तानाशाही है। अभिजात तन्त्र का विकृत रूप कुलीन तन्त्र है। गणतन्त्र का विकृत रूप डिमोक्रेसी है।* उसका मत है कि प्रत्येक

---

* डेमो का अर्थ है जनता। यहाँ पर इसका प्रयोग अनुशासनहीन जनता तथा जनतंत्र के लिए किया गया है।

शासन-प्रणाली आन्तरिक तथा बाह्य देशिक स्थिति के कारण परिवर्तित होती रहती है।

उसने राज्य की तुलना शरीर रचना से की है। वह प्लेटो की बहुत-सी बातों का समर्थन करते हुए कहता है—पूर्णता प्राप्त करने पर मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी हो जाता है। यदि कानून तथा न्याय का लोप कर दिया जाय तो वह सबसे निकृष्ट प्राणी प्रमाणित होगा। उसने राज्य का लक्ष्य नैतिकता की प्राप्ति अथवा नैतिक प्रयोजन माना है। उसने उदार लोकतंत्र को आदर्श राज्य शासन कहा है। वह संवैधानिक उदार लोकतन्त्र में मानव के पूर्ण विकास की कल्पना करता है। उसका सिद्धान्त पूर्णतया लौकिक राज्य सिद्धान्त है।

यूनानी इपिकुरियन दार्शनिकों ने भौतिकता पर अधिक जोर दिया है। मानवीय संस्थाओं के विकास की आधार-शिला वे भौतिकवादी सिद्धान्तों पर रखते है। उनका सिद्धान्त मध्यकालीन राज-शास्त्री हौब्स से अधिक मेल खाता है। इन दार्शनिकों ने लौकिक राज्य सिद्धान्त का समर्थन किया है।

काइनिक यूनानी दार्शनिक उन्नीसवीं शताब्दी के लौकिक दार्शनिकों के समान नास्तिकता की ओर झुके थे। शून्यवादी तुल्य थे। वे कल्पनाशील दार्शनिक थे। वे कहते थे—धनी, निर्धन, यूनानी, बर्बर, नागरिक-विदेशी, स्वतंत्र-दास, कुलीन तथा अकुलीन सब समान हैं। क्योंकि सभी एक निर्पेक्ष सामान्य स्तर पर उतर आते हैं। इन्हीं दार्शनिकों की विचारधारा से यूनानी स्टोइक अर्थात् आत्मसंयमी किंवा सुख सुखापेक्षी दर्शन का उदय हुआ है।

स्टोइक कहते हैं—मानव प्रेक्षावान् किंवा बुद्धिमान् है। वे भाग्यवादी हैं। कहते हैं विश्व में जो व्याप्त है उसी की एक चिनगारी मानव आत्मा में भी है। उन्होंने समस्त जगत् के लिए एक कानून की कल्पना की है। यूनान का नागरिक राष्ट्र का नागरिक न रह कर विश्व का नागरिक था। विश्व-राज्य अथवा एक विश्व-समाज की तथा विश्व-कानून की कल्पना की गयी।

रोम

रोम ने यूनानी सिद्धान्तों से लाभ उठाया। पोलेबियस के इतिहास में झलक मिलती है कि उसने रोम के अन्तर्गत विश्वराज्य की कल्पना की थी। पनैटियस का मत था। मानवीय एकता का बीज मानव के समानाधिकार अथवा समत्व में है, न्याय में है। रोम ने मिस्र की राज-व्यवस्था का अनुकरण किया था। मिस्र के लम्बे राज्य-काल तुल्य रोम का राज्य भी लगभग एक हजार वर्ष तक कायम रहा।

रोम में राजतन्त्र, अभिजात-तन्त्र, लोकतन्त्र—तीनों की त्रिवेणी मिलती है। रोम की कौन्सल प्रणाली राजतन्त्र, सिनेट प्रणाली अभिजात-तन्त्र तथा सभा में लोकतन्त्र झलकता है। रोम ने केवल ५३ वर्षों में किस प्रकार विश्व में दृढ़तापूर्वक अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया; किस प्रकार भूमध्य सागर तटीय देशों को साम्राज्य शृंखला में शृंखलित कर लिया; विश्व मे किस प्रकार महान् शक्तिशाली राष्ट्र बन गया, यह अध्ययन का विषय है।

पोलोबियस इस रहस्य का कारण देता है—रोम ने मिस्र की प्रशासकीय व्यवस्था का अनुकरण किया। अनेक प्रकार के विचारों तथा मनोवृत्तियों के लोगों का संग्रह किया। उन्होंने अपनी दृष्टि केवल एक तरफ लगायी। किस प्रकार राज्य का सुसंगठित निर्माण किया जाय। किस प्रकार योग-क्षेम किया जाय। इसके लिए उन्होंने निग्रह तथा सन्तुलन अर्थात् तुल्य सामर्थ्य स्थिति की नीति का अनुकरण किया।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मानटेस्क् ने किया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अपने संविधान में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए व्यवस्थापक, प्रशासन तथा न्याय—तीनों विभागों को एक दूसरे से स्वतंत्र रखकर एक दूसरे पर एक प्रकार का ब्रेक लगाया है। रोम राज्य-सिद्धान्त का आधार इस बात पर आधारित था कि राज्य कानून की कृति है। राज्य की रचना सामाजिक वृत्ति तथा नैतिक गुण की नींव पर नहीं, बल्कि कानून तथा नागरिकों के कर्तव्यों के आधार पर करना श्रेयस्कर है। रोम का राज्य-सिद्धान्त यूनानी राज्य-सिद्धान्त के प्रतिकूल था। रोम ने कानून के

शिकंजे में जनता तथा राष्ट्र को बाँधा। कानून बनानेवाला मनुष्य था। उसके बनानेवाले, उसके अनुसार चलनेवाले, उसकी मान्यता स्वीकार करनेवाले, स्वयं मनुष्य थे। समस्या स्वयं मनुष्य था। यह था रोम के लौकिक सिद्धान्त का सुदृढ़ रूप।

मानवीय कानून लौकिक है। वह मानव के दैनिक व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित है। इस परम्परा के कारण रोम में प्लीबियन तथा पेट्रेशियन वर्गों का संघर्ष शताब्दियों तक कानूनी ढंग से चलता रहा। उसने क्रान्ति का रूप नहीं लिया। उसने गृह-संघर्ष का रूप नहीं लिया। वह राज्य को सुदृढ़ बनाने में सहायक हुआ। क्रान्ति का दर्शन रोम के इतिहास में कम मिलता है। प्रायः नगण्य है।

पोलाइबियस ने राज्य शासन प्रणालियों के परिवर्तन का एक चक्र किंवा आवृत्तिमूलक एक विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह कहता है—राज्य-तंत्र के पश्चात् निरंकुश-तंत्र, उसके पश्चात् अभिजात-तंत्र, उसके पश्चात् कुलीन-तंत्र, उसके पश्चात् लोकतंत्र और लोकतंत्र के पश्चात् प्राकृत जनतंत्र अर्थात् मोबोक्रेसी या भीड़ का शासन होता है। यह चक्र क्रमानुसार घूमता एक के बाद दूसरे को स्थान देता रहता है।

पोलाइबियस २०४-२१२ ईसा पूर्व यूनानी था। वह महान् रोमन विजेता सिपियो अफरीकनस का समकालीन था। सिपियो ने कार्थेज का संहार किया था। पोलाइबियस ने अपने विश्व-इतिहास में यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार समस्त तत्कालीन ज्ञात जगत् रोम साम्राज्य के अन्दर आ गया था। उसकी पुस्तक के ४० अध्यायों में केवल प्रथम पाँच अध्याय तथा इधर-उधर के पृष्ठ अब तक प्राप्त हो सके हैं। उसने रोम के ग्रहण करने की शक्ति, आत्मसात् करने की शक्ति, सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक समस्याओं का समाधान, उनकी कार्य-शैली तथा वह शक्ति जो मानवीय आचरण को बनाती है—विवेचन किया है।

उसके हेतुओं से ध्वनि निकलती है कि रोम के उत्कर्ष का रहस्य रोम निवासियों का लौकिक दृष्टिकोण था। इस दृष्टिकोण के कारण वे निरन्तर उन्नति-पथ की ओर बढ़ते गये। अपेक्षाकृत उन्हें कम आन्तरिक संघर्षों का सामना करना पड़ा।

सिसरो १०६-४३ ईसा पूर्व रोम के लोकतंत्र के अन्तिम अध्याय पर प्रकाश डालता है। उसने एथेन्स तथा रोडस में शिक्षा प्राप्त की थी, विद्वान्

था, वक्ता था, सफल वकील था। स्टोइक दार्शनिक दियोदोरस तथा फिलो उसके शिक्षक थे। सन् ६३ ईसा पूर्व में रोमन कौन्सल चुना गया। दिसम्बर ७ सन् ४३ ईसा पूर्व में उसे मृत्युदण्ड दिया गया था। मृत्यु के समय उसने कहा था––मुझे उस देश के लिए उत्सर्ग होने में प्रसन्नता है जिसकी सेवा निमित्त मैंने सर्वदा कार्य किया है।

राज्य के वैधानिक सिद्धान्त को उसने विश्व रूप दिया है। वह कहता है––विश्व में एक ही सत्य विधि है। वह है––उचित विवेक। यदि प्रकृति अनुकूल है तो वह विश्व के प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी प्रतिक्रिया समान रूप से लागू हो सकती है। उसका परिणाम भी तद्रूप ही होगा। वह शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है। वह एक विधि रोम के लिए तथा उससे भिन्न की कल्पना एथेन्स अथवा अन्य स्थानों के लिए नहीं कर सकती। एक विधि आज के लिए और कल के लिए दूसरी विधि नही हो सकती। एक ही विधि सनातन होगी। अपरिवर्तनीय होगी। सभी लोगों पर समान रूप से व्यावहारिक होगी।

विधान विश्वव्यापी प्रकृति का नियम है। वह सृष्टि विधान से जिसके द्वारा सृष्टि किंवा जगत् चलता है अर्थात् ऋत तथा मानव के वैधानिक और सामाजिक प्रकृति से उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह भगवान् के विधान के तद्रूप बन जाता है। यथार्थ तर्क ही विवेक है। वह प्रकृति के अनुरूप हो जाता है।

सिसरो जर्मन दार्शनिक काण्ट के मत के समीप पहुँच जाता है। उसने मनुष्य को साध्य माना है। मनुष्य को साधन अथवा किसी व्यवस्था का यन्त्र मात्र नहीं माना है। जहाँ मनुष्य साध्य होगा, वहाँ होगी लौकिक-राज्य भावना। वहाँ होगा सम्बन्ध मानव के ऐहिक विकास से। वह कल्पना जगत में, आसमान में न उठकर जमीन पर चलने का प्रयास करेगा। वह न्याय का मुखापेक्षी होगा। वह मानव के सुख का आकांक्षी होगा। किसी धर्म, किसी पन्थ, किसी सम्प्रदाय, जाति, वर्गादि की भावना उसे सत्य-पथ से, न्याय-पथ से, विमुख न होने देगी। सिसरो कितना अच्छा कहता है—हम विधान के दास इसलिए हैं कि हम स्वाधीन रह सकें।

रोम का राज्य-सिद्धान्त व्यावहारिक था। सिसरो ने कहा है—रोमन शासन-प्रणाली किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। वह अनेक लोगों के अनेक शताब्दियों के प्रयास का फल है। उसकी बुनियाद किसी एक पीढ़ी में नहीं रखी गयी थी। बल्कि शताब्दियों के लम्बे काल तथा अनेक युगों के

मानवों में रखी गयी थी। स्पष्ट है कि रोम की राज्य-प्रणाली रोम जाति के विकास का इतिहास है।

रोम का दूसरा दार्शनिक लूक्रिटियस (९८-५३ ईसा पूर्व) था। उसका झुकाव ईश्वरवाद की ओर, नास्तिकवाद की अपेक्षा अधिक था। सिसरो ने अपने समय का उसे उच्चतम का उच्चतम प्रकाण्ड मेधावी कहा है। उसकी विचारधारा लौकिक थी। उसने जगत् तथा राज की समस्याओं को सुलझाने के लिए लौकिक दृष्टि होना आवश्यक माना है।

रोम में धार्मिक विचारों पर कम जोर दिया गया है। रोम के लोग व्यावहारिक अधिक थे। उन्होंने सैद्धान्तिक उड़ानों में कम रुचि दिखायी है। वे दैनिक समस्याओं को हल करना अधिक पसन्द करते थे। व्यावहारिक समस्याओं में अधिक मन लगाते थे। उन्होंने प्लेटो तथा अरिस्टाटल जैसे महान् तत्त्वज्ञों को न पैदा कर प्रशासन के, कानून के. महान् पण्डितों का आदर तथा अनुकरण किया है। उनको इपिकूरस (३४२-२७० ईसा पूर्व) का यह कथन—कष्टों को दूर करनेवाले कारणों को ढूँढ़ने तथा उसे दूर करने में ही मानव को सुख मिलता है—पसन्द आया था। दार्शनिक जिनो (३५०-२६० ईसा पूर्व) ने भी उन्हें आकर्षित किया—मनुष्य उसी समय तक सुख तथा आनन्द का उपभोग करता है जब तक वह प्रकृति के अधिक-से-अधिक समीप रहने का प्रयास करता है।

रोमन कामनवेल्थ का आधार उसकी पुरानी परम्परा, व्यवस्था, रिवाज तथा उसके नागरिकों के चरित्र की वीरता थी। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से वह संवैधानिक शासन तन्त्र की ओर झुकने लगा। समस्त व्यवस्था लौकिकता पर आधारित थी। रोम की न्याय-प्रणाली में धर्मोपदेशकों, पुरोहितों तथा धर्म-परायण सनातनी शास्त्रियों का हाथ नहीं था। धर्मवाद ने कभी रोमन जगत् में उसके राजनीतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया।

रोम विचारधारा लौकिक थी। यहाँ तक कि विवाह धर्म का नहीं, बल्कि सिविल क्षेत्र का अंग था। यह कहीं-कहीं वस्तु-परिस्थिति के अनुसार अपवाद भी हो सकता है। रोम का पतन उस समय आरम्भ हुआ जब वह लौकिक की अपेक्षा धर्म-विशेष तथा उसके संस्कारों की ओर झुक गया। शासन तथा राष्ट्र दोनों दुर्बल होने लगे।

लोकतन्त्र के साथ-ही-साथ लौकिक भावना का भी लोप होता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण रोम है। रोम-साम्राज्य काल का प्रारंभिक दार्शनिक सिनेका

था। उसके लेखों में लौकिकता से हटने का आभास मिलता है। उसका तथा मर्कस औरिलियस का झुकाव धार्मिकता की ओर था। वे ऐहिक जीवन के तथ्यों के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता की ओर भी विचार करने लगे थे।

इन दार्शनिकों का विचार जड़ जमाता गया। आत्मा के लिए शरीर बन्धन है। आत्मा के लिए शरीर अन्धकारजनक है। काया के भार से छूटने का सर्वदा प्रयत्न आत्मा को करना वांछनीय है। यह विचार भारतीय वैरागियों तथा विरक्तों के विचारों से मिलता है जो जगत् को मिथ्या मानते है। उनके लिए शरीर सहायक न होकर, बन्धन का कारण बन जाता है। माया की गठरी हो जाता है।

भारतीय विरक्तों को जैसे लौकिक तथा इहलौकिक जीवन के प्रति विशेष रुचि न होकर परलोक की चिन्ता रहती है; वही ध्वनि सिनिका आदि रोमन विचारकों से उठने लगी। इस प्रकार राजनीति में शनैः-शनैः धार्मिक विचार प्रवेश करने लगे। राजनीतिक तथा लौकिक गुण गौण हो गया। उनका परिणाम स्पष्ट था। इस जगत् के प्रति उपेक्षा तथा परलोक के प्रति आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। आदर्श परलोक बन गया। इस जगत् को आदर्श बनाने की मनोवृत्ति लुप्त हो गयी। स्वतंत्र विचारों की उपेक्षा होने लगी। रोम की संस्कृति, उसकी सभ्यता अपने पूर्व गौरव-गाथा के साथ, पतनोन्मुख होने लगी।

रोम में लोकतन्त्र के स्थान पर निरंकुश शासकों का तथा सम्राटों का उदय हुआ। बाइबिल के उपदेश इस समय आ चुके थे। सन्त पाल ने समता के आधार को बाइबिल में माना है—यहाँ न कोई यहूदी है, न यूनानी है। यहाँ न कोई दास है, न स्वतंत्र। यहाँ न कोई नर है, न नारी। क्योंकि तुम सब एक प्रभु ईसा-मसीह के हो।

सन्त पाल ने रोमनों को सम्बोधन कर बाइबिल मे कहा है—प्रत्यक आत्मा उच्च शक्ति के अधीन रहे। वह शक्ति परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहो है। विश्व की समस्त शक्तियाँ ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव जो भी इस शक्ति का प्रतिरोध करता है वह भगवान् का प्रतिरोध करता है।*

ईसाई धार्मिक विचार राजनीति में प्रवेश करने लगा। फल अवश्यम्भावी था। रोम के नागरिक पहले केवल देशभक्त थे। उनकी देश के प्रति निष्ठा थी। यह निष्ठा विभाजित हो गयी। उनकी निष्ठा धर्म और राज्य—दोनों में

*Gelition III 28,

बँट गयी। यह द्वैध निष्ठा बहुत दिनों तक चल न सकी। रोम की जनता में वह ताकत न रह गयी थी जो लोकतन्त्र के समय थी। रोम के सम्राट् साम्राज्य को यथावत् कायम रखने के लिए धार्मिक शक्तियों का आश्रय ढूँढ़ने लगे। रोम सम्राट् डिओक्लीशियन ने मिथरिज्म को राज-धर्म मान लिया। धर्म का प्रवेश केवल राज्य में नहीं हुआ। बल्कि धर्म की श्रेष्ठता राज से ऊपर हो गयी।

ऐहिक किंवा लौकिक तथा पारलौकिक शक्तियों का भेद ईसाइयों मे प्रारम्भ से ही आरम्भ हो गया था। ईसाइयों के चर्चों का संघटन रोम साम्राज्य मे होने लगा। उनका संघ चर्च में एकत्रित होने लगा। उनकी निष्ठा रोमन जगत् के स्थान पर ईसाई जगत् के प्रति हो गयी। रोम साम्राज्य के अन्दर राज्य संघटन तथा ईसाई-धर्म-संघटन, दोनों समानान्तर चलने लगा। रोम का सम्राट् पगान अर्थात् मूर्तिपूजक था, विधर्मी था। वह प्रतीक था, अधार्मिकता का। ईसाई विचार करने लगा। रोम के प्रशासक विकट उलझन में पड़ गये। उनके इतिहास मे इस प्रकार की कभी समस्या खड़ी नहीं हुई थी। राज्य का रूप लौकिक था। व्यावहारिक था। राज्य और धर्म में कभी संघर्ष की नौबत न आई थी।

ईसाई जगत् ने रोम जगत् के सम्मुख कठोरतापूर्वक चर्च और स्टेट अर्थात् राज्य और धर्म की समस्या खड़ी कर दी। रोम जगत् चर्च का अनुकरण करे अथवा राज्य का यह भी प्रश्न उठा। विधर्मी रोम राज्य के प्रति सनातनी ईसाई का निष्ठावान् होना कठिन हो गया।

सन्त एम्बरोस ने रोम सम्राट् को लिखा—चर्च को राज्य प्रभाव से सर्वथा मुक्त कर दिया जाय। उसकी अलग स्वतंत्र स्थिति स्वीकार की जाय। रोम के सम्राट् वेलेन्शियन से स्पष्ट माँग की गयी। आध्यात्मिक विषयों में चर्च को पूरा अधिकार प्राप्त है कि ईसाई धर्मानुयायियों के विनय, चरित्र, आचरण तथा नैतिकता के सम्बन्ध में, नियमादि बनाकर उन्हें उन पर लागू करे।

इस प्रकार रोम-सम्राट् के साम्राज्य के अन्दर ही एक धार्मिक-साम्राज्य, धार्मिक-नैतिकता के आधार पर स्थापित हो गया। रोम के सम्राट् ने अन्ततोगत्वा ईसाई धर्म स्वीकार किया। साम्राज्य का धर्म भी ईसाई धर्म घोषित कर दिया गया। यह धार्मिकता की विजय थी। राज्य गौण हो गया। समस्या का निराकरण इस प्रकार भी न हो सका।

राजा ईसाई है । वह चर्च के मातहत है । अर्थात् राज्य धर्म के अधीन है । राजा ईसाई का लड़का है । वह चर्च का पुत्र है । पिता का अधिकार पुत्र पर होता है । चर्च का अधिकार अपने पुत्र राजा पर है । नियम बना कि राजा को चर्चों तथा पुरोहितों के सम्बन्ध में न्याय करने का अधिकार नहीं है ।

पहले धर्म और राज्य को बराबर करने का प्रयास किया गया । उसके पश्चात् राज का स्थान गौण तथा धर्म का ऊपर हो गया । न्याय में भी दो आँखें हो गयी । राजा जिसे न्याय-स्रोत कहा जाता है, उसके राज्य में दो प्रकार की न्याय-प्रणाली चली । पुरोहितों को दण्ड देने का अधिकार चर्च और नागरिको को दण्ड देने का अधिकार राजा को हो गया । इस प्रकार न्याय-व्यवस्था भी एक ही राष्ट्र में दो प्रकार की प्रचलित हो गयी । तर्क दिया गया । राजा एक साधारण ईसाई है । पुरोहित ईसाइयो का गुरु है । अतएव गुरु को शिष्य कैसे दण्ड देगा ?

सन्त एम्ब्रोस ने यहाँ तक कह दिया—राजा अपने प्रासाद का स्वामी है । चर्च अपने चर्च तथा पुरोहितों का मालिक है । तात्पर्य यह निकला कि रोम में लौकिक राजा चर्च के आध्यात्मिक आदेशों को मानने के लिए बाध्य किया जाने लगा । लौकिक व्यवस्था बिगड़ गयी । रोम साम्राज्य पार-लौकिक जगत् में घूमने लगा । जनता भी काल्पनिक पारलौकिक भावनाओं से व्याप्त हो उठी । रोम डूबा । साम्राज्य डूबा । रोम संस्कृति डूबी । सभ्यता डूबी । यूरोप अन्धकार युग में रात्रि के भटके यात्री की तरह भटकने लगा ।

प्रभु ईसा मसीह ने कोई विशेष राजनीतिक सिद्धान्त की कल्पना नहीं की थी । उन्होंने तत्कालीन रोमन साम्राज्य के विरुद्ध आवाज नही उठायी थी । बल्कि कहा था कि जो सीजर का भाग है उसे सीजर को दो और जो प्रभ का भाग है उसे प्रभु को दो । उन्होंने राजनीति और धर्म दोनों को अलग रखा । कालान्तर में पिता, पुत्र तथा पवित्रात्मा के सिद्धान्त, परलोक में सुख की आशा ने, साधारण जन-जीवन में एक अन्धविश्वास उत्पन्न कर दिया ।

उस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि ईसाइयों के एक वर्ग मे यह बात जम गयी कि, राज्य का भी कार्य, प्रभु ईसामसीह के प्रयोजन को पूरा करना है । उनके उपदेश का प्रचार करना है । विधर्मियों को ईसाई धर्म में लाना है । पुर्तगाल और स्पेन के लोग मध्यकाल में जहाँ गये, उन्होंने धर्म-प्रचार पर जोर दिया । अन्य धर्मानुयायियों की मूर्तियाँ भंग कीं । बम्बई के समीप एलि-फेण्टा की प्रसिद्ध मूर्त्तियों को नष्ट करने का श्रेय पुर्तगालियों को है ।

सन् ३३७ ई० में रोमन सम्राट् कन्स्टैनटाइन ने अपनी मृत्यु-शय्या पर ईसाई धर्म स्वीकार किया। साम्राज्य का धर्म ईसाई धर्म हो गया। ईसाई धर्म तथा जाति की नवीन परम्परा, व्यवस्था का विकास होने लगा। पूर्वी रोमन साम्राज्य अर्थात् बाइजेनटाइन ईसाइयत के आधार पर पाँचवीं शताब्दी तक टिका रहा। उसके इस तरह टिके रहने में धार्मिक असहिष्णुता का प्रवेश हो गया। कला-कारों अथवा साहित्यिकों का उदय न हो सका।

जनता ईसाई रही। उसका अटूट विश्वास धर्म पर रहा। परन्तु इस विश्वास ने उसे संघटित शक्तिशाली राज न दिया। भगवान् के संकेत पर सब कुछ होता है। अतएव लोग भाग्यवादी बन गये। नैराश्य तथा आलस्य का जनजीवन में प्रवेश हो गया। समस्या का कोई हल न निकल सका।

जर्मनों ने रोमन कानून व्यवस्था पर अपना रंग चढ़ाया। जर्मन कानून को गोत्रीय तथा जातीय मानते थे। इस कानून के द्वारा लोग वर्गों में बँधे रहते थे। जर्मन अपने साथ वर्गीय, जातीय, गोत्रीय, कानून लाये। कानून का रूप समष्टिवादी के स्थान पर व्यष्टिवादी हो गया। उसने रोमन कानून के साथ मिलकर स्थानीय तथा क्षेत्रीय कानून का रूप पकड़ लिया। कानून समूह किंवा लोक का है अतएव उसका देनेवाला राजा हो गया। वह कानून बना सकता था, बिगाड़ सकता था। वही कानून घोषित कर सकता था। वही रद्द कर सकता था। यूरोप की अराजकता ने शक्तिशाली सामन्तों को इस विचार के अनुसार अपनी सत्ता स्थापित करने में सहायता दी। स्वामी तथा प्रजा दो वर्गों में जनता बँट गयी।

लौकिक भावना का लोप हो गया। उसके साथ ही जनता भी प्राणहीन हो गई। उसे किंचित्मात्र भी इस बात में रुचि नहीं रह गयी कि कौन स्वामी अथवा राजा होता है। समस्त सम्पत्ति फ्यूडल जमींदारों की हो गयी। साधारण जनता जमींदार की रिआया बन गयी। गणतन्त्र, विचार-स्वातन्त्र्य, भाषण की स्वतंत्रता, लौकिक भावना के साथ-ही-साथ लोप हो गयी। राजा भगवान् और रिआया के बीच एक कड़ी जैसा हो गया। पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि हो गया। निरंकुश हो गया।

सन् ४१६ ई० में पश्चिमी रोमन साम्राज्य प्रायः समाप्त हो चला। राज-नीति में धर्म का प्रवेश होने लगा। लौकिकता के स्थान पर साम्प्रदायिकता आ गयी। रोमन प्रशासकीय तथा न्याय-शैली पर नवीन ईसाई साम्प्रदायिकता अपना रंग चढ़ाने लगी। राज्य एक प्रकार से धर्म का साधन हो गया।

छठवीं से सातवी शताब्दी तक का यूरोप का इतिहास आक्रमणकारी जर्मनों के हाथों में चला गया। उसने प्राचीन साम्राज्यवादी रोमन रचना को तोड़ दिया। मूर्तिपूजा के प्रश्न पर रोमन चर्च कुस्तुनतुनिया के चर्च से अलग हो गया। रोमन कैथोलिक चर्च पश्चिमी यूरोप का चर्च हो गया। यह काल अन्धकारमय काल कहा जाता है। पुरातन व्यवस्था बिगड़ गयी। अराजकता फैल गयी थी। इस काल में दार्शनिक तथा महान् विभूतियों का आविर्भाव न हो सका।

सन्त अगस्ताइन (सन् ३२४-४३० ई०) प्रसिद्ध दार्शनिक हुए है। हिपो के विशप थे। उनका सिद्धान्त था कि विश्व दो प्रकार के समाजों में विभक्त है। स्वर्गीय तथा सांसारिक नगर। सासारिक नगर को स्वर्गीय अर्थात् दैवी नगर में सम्मिलित कर लेना उचित है। लौकिक किवा सांसारिक नगर नरक है। रोम को राक्षस तथा यरूसलम को देव-नगर की संज्ञा दी गयी है।

सन्त ने ईसाई कामनवेल्थ की कल्पना की। यह विचार ईसाई जगत् में आधुनिक काल के उदय तक अपना स्थान रखता था। रोमन साम्राज्य के पतन का कारण ईसाइयों पर लगाया गया था। ईसाई जगत् की ओर से अगस्ताइन ने उत्तर दिया।

रोम को सन् ४१० ई० में, अलारिक ने घेर लिया था। रोम ने पराजय का सामना शताब्दियों से नही किया था। इस घटना ने रोम निवासियों को हिला दिया। प्राचीन ईसाई विचार, जैसा बता चुका हूँ, यह था कि मनुष्य ईश्वरी-नगर तथा जन्मभूमि दोनों का नागरिक है।

अगस्ताइन दूसरी बात कहता है। वह मानव की दो प्रकृति मानता है। वह प्रकृति आत्मा और शरीर की है। आत्मा का सम्बन्ध भगवान् से है। अतएव आत्मा ईश्वरीय नगर की नागरिक है। शरीर भगवान् ने मिट्टी से बनाया है। आत्मा अलग से शरीर में फूक दी है। शरीर मिट्टी का है। शरीर मृत्युलोक का नागरिक है। यह सिद्धान्त बाइबिल की प्रथम पुस्तक उत्पत्ति के अध्याय के पैरा सात से लिया गया है। शरीर का सम्बन्ध लौकिक जगत् तथा आत्मा का सम्बन्ध पारलौकिक अर्थात् ईश्वर से किया गया है। लौकिक जगत् शैतान तथा पारलौकिक ईश्वर का माना गया है। भगवान् ने आदम तथा हौआ के रूप में नर-नारी की रचना की। उन्हें अपनी आज्ञा मानने के लिए आदेश दिया। शैतान के बहकावे में आकर दोनों ने भगवान् के आदेशों का उल्लंघन किया। दैवी-मानव का पतन हुआ। उसने भगवान्

की बात न मानकर पाप किया। हम सब आदम की सन्तान हैं। हम उसके उत्तराधिकारी हैं। अतएव उसने जो पाप किया, जिसके कारण पतन हुआ उसके भागी भी उत्तराधिकार के रूप से हमीं हैं। यही बाइबिल वर्णित मानव-पतन का सीधा तथा सरल सिद्धान्त है। इसी पाप से छुटकारा दिलाने के लिए, पतन से उठाकर मानव को उसका पूर्व स्थान दिलाने के लिए बाइबिल उपदेश करती है।

अगस्ताइन कहते है. यह लौकिक-राज्य पहले असीरिया तत्पश्चात् रोम साम्राज्य के रूप में स्थित था। दूसरा अर्थात् स्वर्गीय राजा सर्वप्रथम भगवान् की चुनी जाति यहूदियों में और उसके पश्चात् ईसाई रोम के सम्राटों में रही। विश्व इन समाजों के सनातन संघर्ष का इतिहास है। अन्त में ईश्वरीय जगत् ही विजयी होगा। हम उन्हें पाशविक तथा मानवीय अथवा आसुरी तथा सुरी सम्पदा कह सकते है। सुर-असुर का संघर्ष भारतीय वाङ्मय में अनेक प्रकार तथा रूपों मे वर्णित किया गया है।

स्वर्गीय राज्य उन्हे प्राप्त होगा जो ईसाई हो गये है। जिन्हें बाइबिल पर विश्वास है। अतएव वे मुक्त हो गये हैं। अगस्ताइन के शब्दों में चर्च का इतिहास भगवान् का जगत् में आगे बढ़ना रहा है। लार्ड ब्राइस ने ठीक कहा था—पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना सन्त अगस्ताइन के स्वर्गीय नगर की कल्पना के आधार पर की गयी थी।

बोसुएत ने दोनों नगरों के बीच किस प्रकार सम्बन्ध होना चाहिए—इसकी चर्चा की है। उसने ऐतिहासिक जगत् में भाग्य किवा दैव की योजना देखी। पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार मानवीय इतिहास का नियन्त्रण हो रहा था। आधुनिक विद्वानों का मत है। दैव शब्द का प्रयोग उसने तर्क किवा बुद्धि के स्थान पर किया है। कालान्तर में दैव के सिद्धान्त का स्थान विकास ने लिया।

विकास सिद्धान्त स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। यह सिद्धान्त उसी समय स्वीकार किया जा सकता था जब यह मान लिया जाय कि मनुष्य को विचार का कुछ अधिकार है। मानव की उन्नति उसके द्वारा भी सम्भव हो सकती है। यदि दैवी इच्छा से ही पत्ता खड़कता है, उसी की इच्छा से फसल तैयार होती है, उसी की इच्छा से आदमी को रोज की रोटी मिलती है तो फिर खेती करने की क्या आवश्यकता ?

टरटुलेन स्पष्ट कहता है। एथेन्स और यरूशलम की क्या तुलना की जा सकती है ? उनके बीच कौन-सी कड़ी जोड़नेवाली है । ईसाइयों और पाखंडियों, नास्तिकों और विधर्मियों में क्या मेल हो सकता है ? चर्च और विद्वत्-परिषद् में क्या समानता है ? वह कहता है। ईसाईवाद महात्मा सुलेमान से चलता है । वह भगवान् को मानव के सरल हृदय में खोजता है। वह उनसे दूर रहना चाहता है, जो स्टोइक, प्लेटोनिक सिद्धान्तों के चक्कर में रहते हैं। ईसाई धर्म में तर्क ढूँढ़ा करते हैं।

प्रथम पोप ग्लौसियस के समय यह बात स्वीकार की जाने लगी थी। सर्वसत्ता-सम्पन्न भगवान् की यह इच्छा है कि ईसाई शिक्षक तथा पुरोहित राज्य के सिविल किंवा लौकिक प्रशासन मे रहेंगे। सक्रिय भाग लेंगे किन्तु उन पर अनुशासन एकमात्र चर्च अर्थात् पुरोहित तथा विशप करेंगे। अन्त में यह भी कह दिया गया। लौकिक तथा पारलौकिक विषयों को एक ही सत्ता के हाथों में रखना ईसाइयों के पूर्व प्रचलित पगान परम्परा का ही नक्शा है।

पाँचवीं शताब्दी मे राजा, क्लर्जी तथा सिविल अधिकारियों के कार्य-क्षेत्रों के पृथक्करण की कल्पना की गयी। इस सिद्धान्त को दो तलवार का जेलिशियन सिद्धान्त कहते हैं। इसमें नागरिक पर दो प्रकार के अधिकारों के प्रयोग की कल्पना की गयी है। एक मानवीय विचारधारा को दो धाराओं मे विभक्त कर बहाने का प्रयास किया गया था। दो विचार, दो धाराओं के कारण परिस्थितियों का रूप भी भिन्न हो गया है। दो प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। दो परस्पर विरोधी विचारों के कारण संघर्ष अवश्यम्भावी था। ईसाई जगत् में यह संघर्ष आरम्भ हुआ। शताब्दियों तक चलता रहा। वह रक्तमय कहानी है। उस पर विशेष कुछ न कहकर उस अध्याय को बन्द ही रखना उचित है। इसके पश्चात् कालक्रम के विचार से यूरोप में लौकिक राज्य के अध्याय को पढ़ना चाहिए।

द्वितीय खण्ड

ईसाई जगत्

—यूरोप में लौकिक राज्य—मध्य युग

—यूरोप—मध्य-युग से उन्नीसवीं शताब्दी

यूरोप में लौकिक राज्य—मध्य-युग

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी राजा तथा पोप अर्थात् धर्म एवं राज्य के बीच संघर्ष का काल माना गया है। लौकिक तथा पारलौकिक अधिकार क्या है इस विषय ने सशस्त्र संघर्षों का रूप धारण कर लिया था। ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोप के चर्चों के लोगों में एक प्रकार की चेतना उत्पन्न हुई। उनमें स्वतंत्रता की भावना का उदय हुआ।

सन्त अगस्ताइन इस काल का प्रमुख दार्शनिक हुआ है। रोम के पतन के पश्चात् लम्बे अन्धकार युग मे वह ज्योति-स्तम्भ तुल्य प्रकट होता है। उसने चर्च का—एक नयी दिशा की ओर चलने के लिए—पथ-प्रदर्शन किया। उसने स्पष्ट कहा—हम लोगों का दैनिक जीवन यहूदियों के प्राचीन बाइबिल प्रतिष्ठित विधियों से प्रभावित है।

उसने यूरोप को एक नवीन प्रेरणा दी। चर्च अपने संघ को सबसे मुक्त, हर प्रकार के नियन्त्रणों से मुक्त, स्वतंत्र संस्था बनाना चाहते थे। सन्त ने कहा—ईसाई समाज का विस्तार आवश्यक है मौलिक दृष्टि से। लौकिक सत्ता को दैवी कार्यों, जिसे वह सत्य कहता है—की सेवा में लगाना चाहिए। प्राचीन राज्य-सिद्धान्त का आदर्श तथा स्वरूप और प्रशासन न्याय निमित्त है, उसके स्थान पर भगवान् की पूजा ही एकमात्र कार्य है; हम अपने दोषों और पापों के कारण दण्डित किंवा ताडित और दुखी होते हैं—इस प्रकार के विचार व्याप्त होने लगे।

आर्क बिशप हिन्कमर ने कहा—भले ही राजसत्ताधारी अपनी सुरक्षा मानवीय रीति-रिवाज या लौकिक कानूनों से कर लें किन्तु उन्हें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यदि वे ईसाई हैं तो न्याय के अन्तिम दिन, उनका विचार, उनके रोमन, सेलिक गण्डोवादियन कानूनों से नहीं होगा, बल्कि वह बाइबिल निहित कानून से ही होगा। ईसाइयों के राज्य में ईसाई राज्य का कानून भी ईसाई होना चाहिए। उसे ईसाई धर्म के अनुकूल तथा उपयोगी होना आवश्यक है।

ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोपीय चर्च के अधिकारी तथा लोग लौकिक कानूनों

के पीछे पड़ गये थे। उनका प्रयोजन लौकिकता के स्थान पर पारलौकिकता स्थापित करना था।

ग्रिगोरी की दृष्टि में पोप एकछत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकारी था। उसका मत था कि नैतिक अनुशासन में ईसाई समाज को रखने का एकमात्र अधिकार चर्च को था। यदि कोई ईसाई राज्य लौकिक है तो वह आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों में चर्च के अधीन है। चर्च ने यदि इस सिद्धान्त पर जोर दिया तो साम्राज्यवाद के पृष्ठपोषकों ने दोनों ही क्षेत्रों में अपना अधिकार मनवाने का प्रयास किया। जिसका रूप चर्च और राज्य के मध्य-युगीय संघर्षों में देखने को मिलता है।

अरस्तू का ज्ञान मध्य-युग के प्रारम्भ में तत्कालीन ज्ञात जगत् को बहुत कम था। उसके लॉजिक अर्थात् तर्कशास्त्र के अतिरिक्त और कुछ कोई न जानता था। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "पौलिटिक्स" के अरबी अनुवाद से पुनः लैटिन में अनुवाद किया गया। कालान्तर में उसके अन्य ग्रन्थों का अनुवाद मूल यूनानी से किया गया। उसके ग्रन्थ स्पेन द्वारा सुलभ हुए थे। विलियम मोएरबेक ने लगभग १२६० ई० में यूनानी भाषा से उसके ग्रन्थों का अनुवाद किया था। यह अनुवाद यूरोपीय विचारधारा के विकास के इतिहास में महत्त्व रखता है। गत ६ शताब्दियों तक लौकिकता के सिद्धान्त से मार भगाने का अकथनीय प्रयास किया गया। जिसे पगान कहकर ईसाई सनातनियों ने गाड़ देने का विकट प्रयास किया था वही पगान मुर्दा प्रबल शक्ति के साथ यूरोप को नवीन जीवन देने के लिए जी उठा। यूरोप के बुद्धिवादियों ने उसके ग्रन्थों को पढ़ा। उन्हें उसमें पगान तथा कुफ्र कुछ न मिला। चर्च इस जागृति से सजग हो उठा। उसके अनुवादों का पढ़ना गैर कानूनी करार दे दिया गया। सन् १२१० में पेरिस विश्व विद्यालय में अरस्तू के अनुवादों को रखना या पढ़ना तक वर्जित कर दिया गया।

राजा देवता की प्रतिमूर्ति है। वह केवल भगवान् के सम्मुख उत्तरदायी है। इस सिद्धान्त को यूरोप तथा अन्य देशों में मान्यता दी जाने लगी। राजनीतिक लेखक जो चर्च के अनाचार तथा प्रतिक्रियावादी व्यवहारों से परेशान हो चुके थे ग्यारहवी शताब्दी में इस सिद्धान्त का खुलकर समर्थन करने लगे। चर्च से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन यही समझा गया कि चर्च की मान्यता राजनीतिक क्षेत्रों में उसी समय घटेगी जब उसके जैसी शक्तिशाली शक्ति का उदय समाज में होगा। राजा तथा सामन्त चर्च के हस्तक्षेपों से स्वयं आजिज

आ गये थे। उन्हें इस प्रकार के सिद्धान्त प्रमाद में अपनी शक्ति बढ़ती दिखाई पड़ी। खुलकर उन्होंने लौकिक विचारकों तथा उसके समर्थकों की सहायता की।

मेल्सबरी के जॉन ने सन् ११५९ में दैवी राज्य के सिद्धान्त का समर्थन किया। उसका तर्क बड़ा सरल है। वह कहता है कि परलोक में भगवान् का राज्य है। परलोक में भगवान् का राजतंत्र है। वह राजतंत्र निरंकुश है। वहाँ लोकतंत्र नही है। मृत्युलोक में राजतंत्र चलाना स्वर्गीय कानूनों के अनुरूप होगा। यदि राजा अपने को प्रभुसत्ता-सम्पन्न मानता है, किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करता तो, वह स्वर्ग के पथ-प्रदर्शन का अनुकरण करता है।

सन्त थामस एक्विना (१२२७-१२७४ ई०) ने राजतंत्र का समर्थन किया है। उसका तर्क है—विश्व में एक ईश्वर है। अतएव विश्व में एक सत्ता भी है। राज्य को धर्म के संघर्ष में नहीं आना चाहिए। उसे धर्म के साथ चलना चाहिए। उसे पुरोहित अर्थात् धर्म के नियन्त्रण में कार्य करना चाहिए। विश्व का शासन इस जगत् के राजा को नही, बल्कि पुरोहित को दिया गया है। इहलौकिक कार्य इस प्रकार पारलौकिक कार्य से भिन्न किया गया है। समस्त राजाओं को प्रभु ईसामसीह के शिष्य सन्त पीतर के उत्तराधिकारी रोम के पोप के संरक्षण में रहना चाहिए। समस्त ईसाई जगत् प्रभु ईसामसीह के अधीन है। अतएव पोप को अधिकार है कि वह किसी भी राजा को सिंहासन-च्युत कर सकता है।

पोप इन्नोसेण्ट ने कहा—पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् चार्ल्स मेन को पोप ने राज्य दिया है। वह अपने दिये अधिकार को वापस ले सकता है। राज-पद से हटा सकता है। चर्च के दृष्टिकोण से सन्त थामस एक्विना का सिद्धान्त आदर्श ईसाई जगत् का एक प्रारूप देता है। उसमें पोप का एकाधिकार स्वीकार किया गया है। सन्त थामस को अरस्तू के विचारों का ज्ञान था। उसका प्रभाव उस पर प्रच्छन्न दिखाई देता है।

आगस्तिन तीनफो यहाँ तक बढ़ गया—पोप सर्वशक्तिमान है। उसके आदेशों की कही अपील नहीं है। उसकी अपील भगवान् के पास भी नहीं हो सकती। वह सर्वशक्तिशाली सर्वसत्ता-सम्पन्न है।

हक्को निवासी प्लोलेमी ने और उग्र विचार प्रकट किया—पोप सम्राट् है। राजा उसका प्रतिनिधि मात्र है। राजा का स्वयं अपना कोई अधिकार नहीं है। वह अपना अधिकार पोप की सत्ता अर्थात् चर्च से प्राप्त करता है।

पोप सत्ता देनेवाला है। अतएव वह अपनी सत्ता वापस भी ले सकता है। राजा को पोप किंवा चर्च यन्त्र का एक पुर्जा मात्र बनाने का प्रयास किया गया है।

सन् १३०५ ई० मे पोप और उसके एकाधिकार को गहरा धक्का लगा। फ्रान्स के एविग्नोन में दूसरा व्यक्ति पोप बन बैठा। उसने रोम के पोप को चुनौती दी। पीरियूदे बोइस सन् १३०७ ई० पोप की सत्ता का समर्थन न कर सका। वह फ्रान्स के राजा को ईसाई जगत् का सम्राट् बनाना चाहता था। वह दूसरी दिशा में बह चला। उसने कहा—चर्च की सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। चर्च का आधिपत्य किंवा अधिकार राजा पर नहीं है।

दांते (सन् १३०७ ई०) विश्व राजतन्त्र का एक प्रारूप उपस्थित करता है। लगभग आठ शताब्दियों के अन्धकारमय युग के पश्चात् उसने सुगठित राज्य की कल्पना की। उसकी कल्पना ने आगे चलकर राजाओं के लिए दीपस्तम्भ का कार्य किया। उसने लौकिकता का प्रवेश पुनः राजनीति में कराया। उसने कहा—लौकिक शक्तियों किंवा अधिकारों का अधिकार चर्च के अधिकारो के बाहर की बात है। चर्च का सम्बन्ध इस लोक से नहीं है। परलोक से है। चर्च का राज्य इस जगत् का नहीं है। दूसरे जगत् का है। चर्च को अधिकार भगवान् तथा जनता दोनों से प्राप्त हुआ है। वह लौकिक कानूनो के ऊपर नहीं है। लौकिक कानून के अन्तर्गत है। उसका अधिकार यद्यपि प्रजा के अधिकार से अधिक है, किन्तु जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है, वह समाज के अन्तर्गत अथवा नियन्त्रण से परे नहीं है।

उसने राजतंत्र का समर्थन करते हुए कहा है—समस्त मानव का अन्तिम अन्त समान है। एक ही है। अतएव केवल एक ही नियन्त्रात्मक सिद्धान्त तथा शासकीय शक्ति का होना अपेक्षित है। दान्ते ने धार्मिक प्रभाव से राज्य किंवा राजसत्ता को मुक्त करने का महान् प्रयास कर लौकिक शक्ति का समर्थन चर्च और पारलौकिक शक्ति के स्थान पर किया है। उसने पोप के नियन्त्रण तथा संरक्षण से राज्य को मुक्त करना चाहा। उस पर अरस्तू का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

सन् १३०२ ई० के लगभग इगिदियस कोलोन्ना ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि लौकिक सत्ता को चर्च की मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। यदि चर्च उसे मान्यता नही देता तो उसका उत्तराधिकार अधिकारपूर्ण

नही होता। कालानुसार लौकिक सत्ता चर्च अर्थात् धर्म किंवा पौरोहित्य प्रथा से प्राचीन है। लौकिकता चर्च अथवा पौरोहित्य द्वारा नहीं बनायी गयी है। उसका अस्तित्व चर्च से बहुत पूर्व आ चुका था।

मार्शिलियो (सन् १३२४ ई०) ने पुरोहितो के अधिकारों को केवल आध्यात्मिक कार्यो तक सीमित रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने बाइबिल से उद्धरण दिया—मेरा राज्य इस जगत् का नही है। उसके समय लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धान्तों के विषय में विवाद किंचित् उग्र हो गया। पोप तथा राजाओं मे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष इस काल मे आरम्भ हो गया।

पादुआ के मार्शिलियो तथा ओकम के जान ने खुलकर पोप के अधिकारों का विरोध किया। पोप अन्तर्राष्ट्रीय पंच की हैसियत से कार्य करना चाहता था। इन दोनो महान् दार्शनिकों ने अरस्तू के विचारो का समर्थन किया। लोगों को समझाने का प्रयास किया।

मारशिलो का लौकिक राज्य का सिद्धान्त तत्कालीन इटली के नगर राज्यों के व्यवहार तथा स्वरूप पर आधारित था। उसने शासन प्रणालियों के प्रकार तथा उनके व्यावहारिक कार्य-पद्धतियों पर जोर नही दिया है। उसका प्रयोजन आध्यात्मिक अधिकारों के कार्य-क्षेत्रों को गौण किंवा प्रत्यक्ष रूप से मर्यादित तथा नियन्त्रित करना था। लौकिक राज्य के स्वरूप को विकसित करना था। उसने चर्च को राज्य के बराबर स्थान नही दिया। जैसा कि अन्य राजनीतिक लेखक देते आये थे। उसने चर्च को राज्याधिकार के अन्तर्गत माना। उसने लौकिक राज्य का सिद्धान्त अरस्तू से लिया था। उसने राज्य की उपमा जीवित प्राणी से दी। उसने क्लर्जी धार्मिक अधिकारियों का कार्य केवल शास्त्रों के पठन-पाठन तक सीमित रखना उचित बताया। उसने दृढ़तापूर्वक कहा—चर्च राज्य से ऊपर नही है। उसका अंग है। जहाँ तक वह मानव के ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखता है।

चौदहवी शताब्दी के राजनीतिक लेखक विलियम ओकम के अनुसार पोप की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त ईसाई सिद्धान्त के अनुसार उप-धर्म, पाखण्ड, विधर्म तथा नास्तिकता का द्योतक था। समस्त यूरोप में फैले मतभेदों, पारस्परिक वैमनस्यों, द्वेषों का कारण उसने अलौकिक किंवा पोप तथा उसके अनुयायियों द्वारा प्रचारित पारलौकिक राज्य-सिद्धान्त को दिया है। उसने खुल कर कहा है कि ईसाई जगत् की स्वतंत्रता उक्त विचारधारा के कारण नष्ट

हो गयी है। लौकिक शासकों के अधिकारों पर अनुचित आक्रमण किया गया है। उसने विश्व के लिए एक जनरल कौंसिल की कल्पना की थी। उसके सिद्धान्त को राजनीतिक जगत् में कौंसिलयर सिद्धान्त कहते हैं।

मेकिया वेली (सन् १४६९ ई०) ने पारलौकिक राज्य सिद्धान्त को गहरा धक्का दिया। वह राज्य किंवा राजा को विश्व की किसी भी सत्ता के अधीन रखना नही चाहता था। वह महान् लौकिक भावना का समर्थक दार्शनिक हुआ है। उसकी लौह-लेखनी अत्यन्त शक्तिशाली थी। कहता है—हम इटली के लोग शायद रोम चर्च तथा उसके पुरोहितों की शृंखला के इसलिए ऋणी हैं कि उन्होंने हमें अधार्मिक तथा बुरा बना दिया है। इससे भी अधिक हम उनके ऋणी इसलिए है कि वह हमारे सर्वनाश का कारण हुआ है। उसने हमारे देश को विभाजित कर दिया और आज भी उसे टुकड़ों में बाँट रखा है। निस्सन्देह एक देश उस समय तक एकता तथा सुखों का उपभोग नहीं कर सकता जब तक कि वह एक केन्द्रीय शासन-सूत्र में बँधा न रहेगा। वह शासन गणतन्त्र है अथवा राजतन्त्र यह बहस निष्प्रयोजन है। फ्रान्स तथा स्पेन तुल्य एक राष्ट्र इटली के न होने का एकमात्र कारण चर्च है। वह न तो राजतंत्र के अधीन है और न लोकतन्त्र के। उसका पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ 'प्रिन्स' तथा 'डिसकोर्स' है। उसने राज्यों के उत्थान-पतन तथा उन्हें किस प्रकार शक्तिशाली और सुदृढ़ बनाया जाय—इस विषय पर विवेचनात्मक तथा जीवन्त भाषा में प्रकाश डाला।

सर टामस मूर (१४७४ ई०) ने अपनी पुस्तक उटोपिया में धार्मिक किंवा पारलौकिक राज्य के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की कल्पना की। उसने आजन्म के लिए एक निर्वाचित सुयोग्य व्यक्ति को शासक नियुक्त करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने लौकिक राज्य में ही जनता का कल्याण देखा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में राजतन्त्र ने जड़ जमा लिया। पश्चिमी यूरोप में पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में सुदृढ़ हो गया। जहाँ जड़ नहीं जमा सका वहाँ जमाने का अथक प्रयास करने लगा। मध्ययुगीन व्यवस्था जोरों से टूटने लगी। वह प्राणहीन तथा निष्क्रिय हो चली। राजतंत्र रक्त तथा लौह की नीति का अनुगामी हो चला था। उसका आधार सैन्यबल था।

एक ही राज्य किंवा राष्ट्र में दो शक्तियाँ प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं रह सकतीं। उन्हें जहाँ भी बढ़ने दिया गया सर्वदा झगड़ा, तूफान तथा पतन हुआ है। रोम साम्राज्य इसका उदाहरण है। साथ ही साथ यथास्थान में दिखाने की

कोशिश करूँगा कि जगत् में जहाँ कहीं ऐसी प्रक्रिया आरम्भ हुई, अशान्ति तथा अराजकता फैली है। नागरिकों की निष्ठा विभाजित हो गई। शासन निर्बल हुआ। यह स्वाभाविक था कि राज्य की सत्ता ज्यों-ज्यों मजबूत होने लगी, चर्च का प्रभाव घटने लगा। चर्च ने राज्य से गौण अथवा प्रत्यक्ष रक्तमय संघर्ष किया है। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि राज्य अपनी शक्ति सुदृढ़ करने लगा। यूरोप में राष्ट्रीय राज्य का उदय हुआ। चर्च ने सार्वजनिक संस्था का रूप ले लिया। राष्ट्रीय सरकार का सहयोगी बन गया।

यूरोप—मध्ययुग से उन्नीसवीं शताब्दी

शक्तियाँ निष्क्रिय होकर नहीं बैठती। नवीन शक्तियों का उदय होता है, उनका कहीं-न-कहीं निकास होना चाहिए। अरबों को पैगम्बर मुहम्मद ने एक शक्ति दी। वे उठे। उनकी शक्ति मुसलिम साम्राज्य के रूप में परिणत हो गयी। यही अवस्था नवीनता से अनुप्राणित प्रत्येक जाति तथा देश की होती है। यूरोप में यह क्रिया बहुत ही सुन्दर और रचनात्मक ढंग से हुई है। शक्तियों का उदय तथा उनका उचित मार्गों तथा स्थानों में निकास हुआ।

यूरोप ने चर्च के बन्धन से मुक्त होने का प्रयास किया। नवीन जीवन में प्रवेश करने की क्रिया आरम्भ हुई। मध्य-युगीय रेनासाँ (पुनरुत्थान) तथा रिफोर्मेशन (सुधार) आन्दोलनों के रूप में इस शक्ति का दर्शन हुआ। इन आन्दोलनों ने यूरोप का रूप बदल दिया। विश्व का रूप बदल दिया। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफरीका आदि जैसे विशाल भूभाग उनकी देन है। उन शक्तियों के साहस की कहानी है।

रेनासाँ यूरोप का सांस्कृतिक विकास था। मानव की विचारशक्ति उसके विवेक का पुनर्जीवीकरण था। अपने तथा विश्व के विषय में अपनी बुद्धि का पुनर्जागरण था। यह आन्दोलन इटली मे प्रारम्भ हुआ। पुरातन लेखकों—मुख्यतया यूनानी और रोम के विद्वानों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने का पुनःप्रयास था। ईसाई-प्रचार काल में जब चर्च की प्रधानता हुई, तो उक्त देशों की कला तथा साहित्य को पगान करार देकर उपेक्षा कर दी गयी यह उपेक्षा दीर्घजीवी अर्थात् एक हजार वर्षों तक कायम रही।

ईसाई जगत् अपने नव ईसाइयों के विशाल जन-समूह के साथ केवल मुक्ति का प्यासा था। उसकी प्यास केवल बाइबिल से बुझने वाली थी। चर्च के संस्कारों में जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा ही आदर्श थी। कला और अन्य साहित्य का महत्त्व न होना स्वाभाविक था। लौकिक भावना के साथ वे भी गौण हो गये।

मुसलिम शक्ति के उदय ने ईसाई जगत् को गहरा धक्का दिया। कुस्तुनतुनिया में ईसाई साम्राज्य का पतन सन् १४५३ ई० में हो गया। मुसलिमों के त्रास से बचने के लिए, अपनी धर्म-रक्षा के लिए, भागकर लोग पश्चिम की ओर बढ़े; प्राचीन ग्रन्थों आदि के साथ। उन्हें समझने के लिए यूनानी तथा लैटिन भाषा का अध्ययन यूरोप में आरम्भ हुआ। लोगों में एक प्रकार की साहसिक प्रेरणा उत्पन्न हुई। लोगों के प्रज्ञाचक्षु खुलने लगे। तार्किक दृष्टिकोण चारों ओर हेतु ढूँढ़ने लगा। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का सबसे बड़ा कारण यह था कि ईसाई जगत्, ईसाई चर्च, मुसलमानों की बाढ़ न रोक सका। ईसाई जगत् अपनी दुर्बलता और उसका कारण खोजने के लिए बाध्य हो गया। उसकी दृष्टि पैनी हो गयी।

रेनासाँ तथा सुधार दो भिन्न आन्दोलन थे। वे एक ही धारा की दो शाखायें थी। दोनों का उदय सब बातों में हेतुपूर्ण दृष्टि के कारण हुआ था। मनुष्य क्या है? प्रकृति क्या है? भगवान् क्या है? धर्म क्या है? मानव का अधिकार क्या है? चर्च का अधिकार क्या है? जगत् का कल्याण कैसे होगा? इनके समाधानों के साथ रेनासाँ ने कला, ललित-कला एवं साहित्य में नवजीवन संचारित किया।

सुधार का सम्बन्ध धार्मिक जगत से था। रेनासां सर्वथा लौकिक तथा क्लासिकल नहीं था। यद्यपि एक दृष्टि से वह प्रायः था भी और हो भी सकता था। इसी प्रकार सुधारवादी आन्दोलन भी सर्वथा धार्मिक तथा नैतिक नहीं था। इसका दृष्टिकोण राजनैतिक तथा लौकिक था। यह हमें मानना होगा। चाहे स्वीकार करने में बहुतों को हिचक ही क्यों न हो।

बाइबिल अब तक लैटिन तथा यूनानी भाषा में थी। बाइबिल का अनुवाद यूरोप की क्षेत्रीय भाषाओं में हुआ। अनुवाद के कारण बाइबिल चर्च के भाष्य-परिभाष्य की सामग्री न होकर सबके लिए बोधगम्य हो गई। वह एक रहस्यमय पवित्र पुस्तक न रहकर पठनीय, मननीय, विचारणीय विषय थी। भारत में भी वेदों तथा गीतादि संस्कृत ग्रन्थों का जब तक अनुवाद सुलभ नहीं हुआ था तब तक वह एक वर्ग विशेष के टिप्पणी, भाष्य, आलोचना, ज्ञानादि की सामग्री थे। अनुवाद के कारण भारत में जैसे आज धर्म सर्वसाधारण के लिए अध्ययन की वस्तु तथा बोधगम्य हो गया है, उसी प्रकार बाइबिल के अनुवाद ने यूरोप में धर्म को कठिन तथा रहस्यमय न बनाकर ज्ञातव्य तथा व्यापक बना दिया। ईश्वर का सन्देश चर्च से प्राप्त न कर अनुवादों से प्राप्त

होने लगा। बाइबिल तक पहुँचने के लिए भगवान् की बात जानने के लिए, किसी माध्यम की आवश्यकता न रह गई। वह सरलतापूर्वक सुविधानुसार सबकी टेबुलों तथा घरों में पहुँचकर घर की भाषा में शोभा बढ़ाने लगी।

रेनासाँ तथा सुधार-आन्दोलनों ने एक ओर राजनीतिक राष्ट्रीय एकता तथा दसरी तरफ स्वतन्त्र अधिकारों से मेल कराने का प्रयास किया। रेनासाँ के आदर्श की यही जीवनी शक्ति रही है। राज्य को किवा लौकिक सत्ता को ऐहिक जीवन सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्राप्त है, यह बात स्वीकार की जाने लगी। यह बात चाहे राजतंत्र, लोकतंत्र अथवा किसी भी तन्त्र के लोग समर्थक क्यों न हों, मानने लगे। राजनीतिक विचारों में विश्लेषणात्मक शैली ने प्रवेश किया।

सुधार-आन्दोलन मार्टिन लूथर (सन् १२३१ ई०) के नाम से आरम्भ होता है। वह विचार स्वातन्त्र्य का समर्थक था। उसने यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन चलाया। दिमागी आजादी का आन्दोलन आरम्भ किया। रोमन कैथोलिकों से उसका सीधा संघर्ष आरम्भ हुआ। उसने अपने को पोप के विरुद्ध क्रान्तिकारी के रूप मे पाया। इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केवल धार्मिक विश्वास ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है। बिना चर्च अथवा पुरोहित की सहायता के प्राप्त किया जा सकता है। वह धर्म का हस्तक्षेप राज-कार्य में पसन्द नहीं करता था। धर्म तथा राज्य की शक्तियों के पृथक्करण का पक्षपाती था। उसका कहना था कि सिविल शासन मानव के सिविल मामलों से सम्बन्ध रखता है। उसका सम्बन्ध उस दुनिया से नहीं है जो भविष्य के गर्भ में है। उस दुनिया मे नहीं है, जो होनेवाली है। वह राज्य के लौकिक-सिद्धान्त का तत्कालीन दुनिया की परिस्थिति अनुसार समर्थन करता है। वह नास्तिकवाद का विरोधी था। नास्तिक विचारकों को वह मुसलमान तथा रोमन कैथोलिकों की श्रेणी में रखता है।

उसका मत था कि चर्च और राज्य का आदर्श भिन्न है। उनका कार्य-क्षेत्र पृथक् है। उनकी कार्य-प्रणाली भिन्न है। उनका एक दूसरे से अलग रहना ही उचित है। उसने राजा का कर्तव्य बताया। देश में व्याप्त मिथ्या तथा पाखण्डपूर्ण धर्म-प्रचार तथा कार्यों को रोकना राजा का कर्तव्य बताया। उसने चर्च का अनुवर्ती राजा को नहीं माना। उसने नियन्त्रित राज्यतन्त्र का समर्थन किया। मार्टिन लूथर के विचारों के कारण रोमन कैथोलिक उग्र हो गये। उनके विरोध के बावजूद प्रोटेस्टेण्ट विचारधारा बढ़ती गयी। ईसाई जगत् रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

मार्टिन लूथर जर्मनी में था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सुधार की सफलता के लिए राजाओं का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। हेनरी अष्टम के समय यह आन्दोलन इँग्लैण्ड में भी जोर पकड़ने लगा। यूरोप में राजाओं की ही शक्तियाँ ऐसी थी जिन्हें केन्द्र मानकर उनके चारों ओर से शक्तियाँ जुटाकर संघटित की जा सकती थी। इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता भी प्राप्त की जा सकती थी। चर्च के त्रास तथा विरोध से रक्षा की जा सकती थी। जनता की शक्ति नाना प्रकार के संघटनों तथा संस्थाओं में विभक्त न कर एक राष्ट्र-संघटन के रूप में केन्द्रित की जा सकती थी। फ्रान्स में सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यही प्रक्रिया हुई। फ्रान्स तथा स्पेन में इस आन्दोलन ने कुलीनवादियों, नगरों आदि स्थानों में परिच्छेदवाद-आन्दोलन का रूप लिया। अन्य स्थानों पर जहाँ भी सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ वहाँ जनता प्रोटेस्टेण्ट मत की ओर झुकी। परन्तु स्पेन तथा फ्रान्स इसके अपवाद थे। वहाँ देश का धर्म रोमन कैथोलिकवाद ही रहा। मार्टिन लूथर के समकालीन दार्शनिकों तथा सुधारकों ने चर्च के सुधार पर विशेष ध्यान दिया।

कालविन का अधिक ध्यान चर्च के सुधारों की ही ओर गया। कालविन के राजनीतिक विचार महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उन पर प्रकाश डालना यहाँ निरर्थक होगा। इतना ही कहना अलम् होगा कि उसका प्रभाव इतना अवश्य हुआ कि धर्म में आध्यात्मिकता रूढ़िवाद के स्थान पर अधिक बढ़ी। उससे अधिक लाभ राज्य का हुआ। राज्य अधिक शक्तिशाली बन गया। चर्च अपने आध्यात्मिक उलझनों में तथा अपने ही सुधारों में उलझने लगा। लौकिकता की ओर राज्य की प्रगति और बढ़ी।

लूथर और कालविन एकमत थे कि धर्म राज्य के प्रति शान्त तथा सहयोग की भावना रखे। वे लौकिक शक्ति को मुक्ति का बाह्य साधन मानते थे। मजिस्ट्रेट तथा राजा को भगवान का विकार अथवा प्रतिनिधि मानते थे। उनके प्रति अनिष्ठा भगवान् के प्रति अनिष्ठा मानते थे। इस सिद्धान्त ने लोक को राज्य के प्रति उत्तरदायी होने के लिए अनुप्राणित किया। लूथर कहता है—किसी ईसाई के लिए न तो यह उचित है और न इसमें कोई बुद्धिमत्ता है कि वह राज्य के विरुद्ध खड़ा हो जाय। शासन चाहे न्यायपूर्ण कार्य करे अथवा अन्यायपूर्ण, उसका अनुशासन भंग करना अनुचित है। वह कहता है--आज्ञोल्लंघन, अवज्ञा, हत्या, व्यभिचार, चोरी, बेईमानी तथा वे

सब अपराध जो इस श्रेणी में आ सकते हैं, गुरुतर पाप हैं। सुधारवादियों के इस प्रकार के विचार लौकिक भावना के प्रचार में तथा उसे पुनः स्थापित करने में सहायक हुए।

इसी काल में जीन बोदिन (सन् १५२७ ई०) हुआ है। उसका मत था कि प्रभुसत्ता राज्य में निहित है। राज्य का प्रतीक राजा है। अतएव राज्य की प्रभुसत्ता राजा में स्थित है। उसकी पुस्तक सन् १५७६ ई० में प्रकाशित हुई। वह एक सफल वकील था। उसने कानून का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उसका स्थान न तो पुराने विचारकों की श्रेणी में दिया जा सकता है और न नव मध्य-युगीन में ही। उसने कहा—कानून और राजनीति का अध्ययन केवल ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं करना चाहिए। मानव के प्राकृतिक वातावरण, आबहवा, रहन-सहन आदि भौगोलिक स्थितियों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। उसने धार्मिक सहिष्णुता पर बहुत जोर दिया है। वह राज्य का आर्थिक तथा राजनीतिक कल्याण चाहता था। उसके राजनीतिक विचार अरस्तू से प्रभावित थे। उसने दैवी राज्य के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया। वह विचारक था। विचार में विश्वास रखता था। विचार की स्वतंत्रता में विश्वास करता था। जहाँ विचार की स्वतंत्रता होती है वहीं लौकिक सिद्धान्त की ज्योति चमक उठती है।

इन सब विचारों का परिणाम यह हुआ कि चर्च की उपेक्षा हुई। लौकिक विचार को प्रोत्साहन मिलता गया। यूरोप में इस समय राजनीतिक अराजकता थी। इस अराजकता का लाभ शक्तिशाली राजाओं ने उठाया। राज्य किंवा राजाओं की शक्ति बढ़ती गयी। सभी सत्ता राजाओं के हाथों में आ गई। चर्च के पास दैवी शक्ति का एक हौवा रह गया। यह पूर्णता प्राप्त करती है फ्रान्स के राजा लुई के इस कथन में कि मैं ही राज्य हूं।

राजा लौकिक शक्तियों को अपने अधिकारों में कर शान्त न बैठ रहे। चर्च के पास एक अमोघ शक्ति दैवी सिद्धान्त था। चर्च के इस दैवी शक्ति को पंगु बनाने के लिए फ्रान्स में दैवी राज्य के सिद्धान्त का उदय हुआ। इंग्लैण्ड का राजा जेम्स प्रथम दैवी राज्य सिद्धान्त का समर्थक बन बैठा। स्काटलैण्ड में इस सिद्धान्त का खूब प्रचार किया गया। राजा जेम्स प्रथम ने अपनी पुस्तक 'ट्रू ला आफ फ्री मानर्की'(सन् १५९८ ई०)में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने कहा—राजा ईश्वर का मंत्री है। उसका लेफ्टिनेण्ट है। राजतंत्र स्वर्गीय-राज प्रणाली तुल्य है। यहाँ तक कि केम्ब्रिज विश्वविद्या-

लय ने अपने स्वागत भाषण में सन् १६८१ ई० में कहा कि चार्ल्स द्वितीय जनता से शक्ति नहीं प्राप्त करता बल्कि भगवान् द्वारा उसे शक्ति प्राप्त हुई है।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोपीय जनता की प्रवृत्ति इस ओर होने लगी कि राजा में ही वास्तविक प्रभुसत्ता निहित है। उसी को ही राजाधिकार, सामन्त आदि की शक्ति का स्रोत माना जाय। राजाओं की भी अपने कार्यों की एक सीमा थी। वे धार्मिक कुल-परम्परा से मुक्त न हो सके। राज्य चलाना था। उसके शक्तिशाली संघटन की आवश्यकता थी। राजाओं के स्नेही, कुटुम्बी, मन्त्रणा देनेवाले और दरबारियों का एक वर्ग बन गया। वह वर्ग प्रभावशाली होने लगा। राजा की शक्ति दुर्बल होने लगी। सामन्तशाही का जन्म हो गया। सरदार किंवा सामन्त परस्पर लड़ते थे। उन पर धार्मिक प्रभाव भी था। शोषकवर्ग शोषण के लिए किसी-न-किसी सत्ता का आश्रय लेता है। सामन्त लोगों ने चर्च से विमुख न होकर उसे अपने शोषण का एक साधन बना लिया। धर्म खतरे में है—के नारे पर क्रुसेड हुआ। मुसलमानों और ईसाइयों में शताब्दियों तक संघर्ष होता रहा। उसका यथास्थान वर्णन किया गया है।

सामन्तशाही राज्य का विशेषाधिकार वर्ग बन गया। उसके अमलदारी में नन तथा मोन्क का स्थान था। चर्च का स्थान था। वे कुल-परम्परा तथा बड़प्पन की निशानी थे। फिर भी सामन्तशाही युग में साम्प्रदायिक भावना इतनी उग्र नहीं थी कि उसके नाम पर अन्याय किंवा अत्याचार किया जा सके। यूरोप में वह सम्भव भी नहीं था। वहाँ एक ही जाति ईसाई धर्म के माननेवाले थे। एक ही धर्मानुवर्ती थे। भेद केवल अनेक पन्थों का था। कुछ यहूदी लोग थे। वे इतने कम थे कि प्रभावशाली नहीं हो सकते थे। यहूदियों के कारण प्रभु ईसामसीह को सूली लगी थी। यह बात ईसाई जगत भूल नहीं सका था। ईसाइयों ने यहूदियों को कहीं जमने नहीं दिया। वे बिखरे समस्त विश्व में फैल गये। उन्हें अनेक ईसाई राज्यों में नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं था। लौकिक राज्य का आदर्श रूप फैल न सका। विचार स्वातंत्र्य फैलने लगा। उसके साथ धार्मिक सहिष्णुता भी फैलने लगी। यह लौकिक राज्य के प्रयास की दूसरी मंजिल थी।

सत्रहवीं शताब्दी में शनैः-शनैः धार्मिक विवाद समाप्तप्राय हो चले। लौकिक सिद्धान्त जड़ पकड़ता गया। उसने राजनीति को लौकिक कलेवर पहनाना आरम्भ किया। यह कलेवर मानव विचार को राज्य के दैवी सिद्धान्त से विमुख कर लोकतन्त्र किंवा नियन्त्रित-राजतन्त्र की ओर झुकाता है।

आल्थूसियस के विचारों ने इस दिशा में विशेष कार्य किया है। उसके राजनीतिक सिद्धान्तों पर धर्म, सम्प्रदाय किवा पंथों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। उसने सामाजिक संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राजनीतिक जगत् में प्रभुसत्ता का सिद्धान्त उसी की देन है। उसने स्वीकार किया है। राज्य की प्रभुसत्ता जनता में स्थित है। इस सिद्धान्त ने राजतन्त्र, दैवीराज सिद्धान्त, तथा सामन्तशाही को गहरा आघात पहुँचाया था।

सर टामस मूर ने सहकारी कामनवेल्थ की कल्पना की थी। हूकर ने चर्च को समाज के अन्य सार्वजनिक संस्थाओं तुल्य एक संस्था माना था। उसने राष्ट्रीय चर्च के सिद्धान्त को जगत् के सम्मुख रखा। उसने चर्च को राज्य के समकक्ष न रखकर लौकिक राज्य के अन्तर्गत मान लिया। बैपटिस्ट तथा क्वाकर पन्थवादियों ने चर्च और लौकिक शक्ति के सम्बन्ध को शून्यता पर लाकर रख दिया।

टामस होब्स ने सन् १६४० से १६६१ ई० के बीच राजनीतिक जगत् को बहुत कुछ दिया है। उसने भौतिकवाद का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उसने प्रकृति-विधान तथा सामाजिक संविदा सिद्धान्त पर जोर दिया है। पाडुआ के मारशिलियों ने आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों के कार्य क्षेत्रों के पृथक्करण की जो बात उठायी थी वह हाब्स के विचारों में आकर परिपक्व होती है। हाब्स ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए चर्च को सिविल शक्ति के अन्तर्गत कर दिया है। एक राष्ट्र में दो स्थानों पर प्रभुसत्ता नही रह सकती। केवल राज्य ही प्रभुसत्ता सम्पन्न है। लौकिक सत्ता के अन्तर्गत चर्च का स्थान है। हाब्स की दृष्टि से चर्च समाज में केवल कारपोरेशन अर्थात् निगमात्मक सत्ता मात्र थी।

इँग्लैण्ड के गृह-युद्ध के समय एक और आन्दोलन चला। उसका नाम था—आन्दोलनकारी क्रामवेल दल के वामपन्थी। उसका उद्देश्य था—मानव मात्र को एक स्तर पर लाया जाय। उन्हें लोकतन्त्रीय-उग्रवादी कह सकते हैं। यूरोप में लोकतन्त्र की स्थापना निमित्त उसने भूमिका बनायी। उनका विचार था समाज की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विषमताओं को इतना मिटा दिया जाय कि, सब एक स्तर पर आ जाय।

वे कहते हैं—समस्त मानव मूलतः एक ही मूल-पुरुष आदम की सन्तान हैं। हम सब उसके उत्तराधिकारी हैं। उस उत्तराधिकार के अधिकार से, सब को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है। सब को योग्यता का अधिकार प्राप्त

है। सबको स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म प्रकृतितः हुआ है। सब का जन्म एक प्रकार से हुआ है। एतदर्थ सबको एक प्रकार की योग्यता, सम्पत्ति, स्वतंत्रता आदि अधिकार प्राप्त है और होना चाहिए। यह विचार-धारा शुद्ध लौकिक थी।

एक दूसरा आन्दोलन डिग्गर्स का चला। उसका कहना था—कोई आदमी ज़मींदार तथा लार्ड दूसरे आदमी पर नहीं हो सकता। भूमि मनुष्य के रहने के लिए बनायी गयी है। उसपर सबका अधिकार है। भूमि स्वयं स्वतंत्र है। वह इसलिए स्वतंत्र बनायी गई है कि लोग उसपर स्वाधीनता-पूर्वक निवास कर सकें। डिग्गर दार्शनिक जिरार्ड विन्सटेनली ने सन् १६५२ में "स्वाधीनता की विधि" पुस्तक लिखी। उसने कहा—सब प्रकार के दासत्व का मूल गरीबी में है। यदि मनुष्य को भोजन न मिले, तो इससे अच्छा है कि, उसका अस्तित्व ही न हो। प्रकृति के रहस्य को जानना भगवान् को जानना है। देवत्व किवा परमार्थत्व दुर्बल अथवा दुःखी आत्मा की आह है। स्वर्गीय बनानेवाला आध्यात्मिक सिद्धान्त निरा धोखा है।

मिल्टन तथा हेरिंगटन ने गणतन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया। हेलिफेक्स तथा जोन लोग इतने लौकिक हुए कि उनके विचारों की कल्पना पचास वर्ष पूर्व करना कठिन था। वे सत्रहवीं शताब्दी के पुरुष थे। विचार प्रवाह में एक शताब्दी आगे थे। हेरिंगटन कहता है—राज्य का अस्तित्व तथा उसके निर्माण का कारण प्रकृति है। इसकी परिभाषा नहीं हो सकती। उसका आधार मानव कल्याण है। वह शाश्वत है। प्रत्येक परिवर्तन तथा क्रान्ति में वह अपना मौलिक अधिकार सुरक्षित रखता है। वह अधिकार ह राष्ट्र की सुरक्षा। कानून के शब्द सम्भवतः उसे नष्ट कर देते है। फिर भी उसके अस्तित्व का लोप नहीं होता। वह ठीक कहता है—मानवीय संस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। उसके साथ शासन की मौलिकता भी परिवर्तित होती रहती है। फिर भी समाज में पूरी शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है। मिल्टन तथा इल्जर-नोन सिडनी के सिद्धान्त हेरिंगटन से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इँगलैण्ड के समान फ्रान्स में भी स्वाधीनता के निमित्त व्याकुलता दिखाई देती है। रूसो के लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों ने फ्रान्स में एक नया जीवन फूंक दिया। लौकिक विचारों के प्रसारण के साथ ही साथ सर्वसाधारण अथवा मानव का महत्त्व बढ गया। रूसो ने कहा—साधारण वर्ग के लोग मानव जगत् का निर्माण करते हैं। सर्वसाधारण के हित निमित्त जो कुछ नहीं है उस पर

विचार नहीं करना चाहिए। मानव सभी श्रेणियों में एक ही है। विश्व में जो श्रेणी सबसे अधिक है उसी की सबसे अधिक प्रतिष्ठा होनी चाहिए। उसके "जन इच्छा" के सिद्धान्त में पारलौकिकता डूब गयी। वह और कहता है—सामाजिक अनुशासन किंवा विनय पवित्र अधिकार है। वह सभी अधिकारों का जीवन है।

जॉन लॉक (सन् १६३२-१७०४ ई०) सत्रहवी शताब्दी का प्रमुख राजनीतिक पंडित है। वह जन-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था। धार्मिक स्वतंत्रता का पक्षपाती था। वह मानता था कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार धर्मानुगमन करने का अधिकार है। वह केवल दो धार्मिक-वर्ग मुसलमान तथा रोमन कैथिलिकों के प्रति सहिष्णु नही था। उसका कहना था कि सहिष्णुता का व्यवहार उन्ही के साथ करना चाहिए जो देश-भक्त हों। विदेशियों के साथ जिनकी मित्रता होती है, उनके प्रति सहिष्णुता अहितकर प्रमाणित होती है। उसने उक्त दोनों वर्गों का उदाहरण इसलिए दिया है कि एक देश की अपेक्षा रोम के पोप की ओर देखता है और दूसरा अपनी उम्मत के प्रति निष्ठावान् होना है।

श्री जियाम वलिस्ता विसो (सन् १६६८-१७४४ ई०) अठारहवीं शताब्दी का राजनीतिक विचारक हुआ है। इटली के प्रसिद्ध नगर नेपल्स में पैदा हुआ था। सामाजिक विज्ञान को उसने सामाजिक उलटफेर का सिद्धान्त माना है। उसने विश्व-इतिहास को तीन युगों में बाँटा है—देव-युग, वीर-युग, तथा जन-युग। देव-युग को वह प्रकृतावस्था मानता है। उस युग में मानव का विकास नहीं हुआ था। वह कुसंस्कार और साम्प्रदायिकता से उन्मादग्रस्त था। शासन धार्मिक किंवा दैवी था। कानून देव की इच्छा माना जाता था। इस युग में मानव अपने तर्क, कल्पना के स्थान पर विश्वास तथा भावुकता से अधिक प्रभावित था। वह अव्यक्त शक्ति के बल पर विश्वास करता था। वह प्राकृतिक शक्ति को रहस्यमय मानकर उससे डरता था।

वीर-युग ने दैवी-युग का स्थान लिया। इस युग में वीरता किंवा बल ही एकमात्र सत्ता किंवा अधिकार का द्योतक था। कानून का आधार विवेक नहीं बल होता था। अधिकारों का न्याय शस्त्रों से होता था। तर्क, विद्या, विवेक आदि विशेषज्ञो की शोभा की चीज़ मानी जाती थी। इस युग में शक्तिशाली वीर मनुष्यों का उदय हुआ था। वे अपनी वंशावली किसी

अव्यक्त दैवी शक्ति से मिलाते थे। वे शक्तियों का प्रयोग ईश्वर के नाम पर करने में नहीं हिचकते थे।

मानव-युग वीर-युग के पश्चात् आता है। इस युग में मनुष्य बुद्धिमान् तथा सुशील होता है। यह गुण उनमें नागरिक सेवा भावना के कारण उत्पन्न होता है। कानून मानव बुद्धि का परिणाम है। कानून लोगों में समता तथा सुरक्षा का विश्वास पैदा करता है। शासन लोगों में समता उत्पन्न करता है। प्रभुसत्ता जनता में निहित रहती है। इस युग में कामनवेल्थ या लोक-तन्त्रीय राजतन्त्र का शासन होता है। राज्य का मूल मानव प्रकृति में है, न कि तर्कों और विवेचनों के छलांगों में।

अगस्त कोमती (१७९८-१८५७) आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल में विचारक हुआ है। वह कैथोलिक समाज का बड़ा समालोचक था। उसने यथार्थ-वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसे वैज्ञानिकवाद भी कह सकते हैं। उसका मत है कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलती है। उसे अध्ययन करने तथा समझने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली आवश्यक है। वह कहता है कि शासन बिना समाज के सम्भव नहीं है उसी प्रकार समाज में भी शासन आवश्यक है। दोनों एक-दूसरे के पूरक तथा आश्रित हैं। समाज का जैसे-जैसे विकास होता जाता है वैसे-ही-वैसे शासन उतना ही अनिवार्य तथा महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार यूरोप के राजनीतिक पंडित तथा विचारकों ने लौकिक राज्य के सिद्धान्त का गौण तथा प्रत्यक्ष रूप से समर्थन किया। चर्च की राजनीतिक सत्ता को समाप्त कर दिया। बीसवीं शताब्दी के लौकिक गणतन्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

हाब्स, लाक्स तथा रूसो के सामाजिक संविदा सिद्धान्त ने मध्य-युग के धर्मतन्त्र, अभिजात तन्त्र, निरंकुश तन्त्र तथा राजतन्त्र को इतना गहरा धक्का दिया कि, पुराना ढाँचा टूट गया। नया ढाँचा लौकिक साँचे में ढलने लगा। राज्य संस्था को नैसर्गिक न मानकर, मानवकृत माना गया। उसे देवकृत, धर्मकृत, प्रकृतिकृत, मानने के लिए मानव जगत् तैयार न था। वह मानव-कृत अन्य संस्थाओं तुल्य प्रयोजन सिद्धकारक एक संस्था के रूप में आ गया। यह लौकिकता की विजय थी।

मानववादी इटली के बाहर अपेक्षाकृत अधिक संयत ईसाई थे। उन्होंने ग्रीक तथा रोम के साहित्य के अध्ययन पर विशेष जोर दिया। बाइबिल के साथ अलमारियों में ग्रीक, रोम के इतिहास, साहित्य, दर्शनादि की पोथियाँ भी शोभा देने लगीं। विचार लौकिकता की ओर बढ़ने लगा।

पुरानी गाथाएँ भी नवीन अनुसन्धानों के कारण प्रवंचनापूर्ण प्रमाणित होने लगीं। जिन पर विश्वास के कारण विचार नहीं किया जा सकता था, जो बातें स्वतः स्वयंसिद्ध मान ली गयी थी उनमें भी शंका प्रकट की जाने लगी। अब तक यही माना जाता था कि सूर्य चलता है। पृथ्वी स्थिर है। सृष्टि के कार्यकलाप का केन्द्र पृथ्वी है। परन्तु विज्ञान ने सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी चलती है। सूर्य स्थिर है। दिमागी इनकलाब के लिए यह काफी बड़ी खुराक थी। धर्मशास्त्र का अन्ध विश्वासी भी आँख मींचकर, कुछ देखने और समझने की कोशिश करने लगा।

लोग समझने लगे कि विवेक, प्रज्ञा तथा विज्ञान का आश्रय लेकर सत्य के अधिक निकट पहुँचा जा सकता है। हम एक सृष्टि के अंग है। उसे तथा उसके रहस्यों को जानना आवश्यक है। इस प्रकार के विचारों के उदय होने के कारण धार्मिक मान्यताओं को गहरी ठेस लगी। मनुष्य मुक्त विचारशील होने के लिए, जैसे बाध्य हो गया।

मनुष्य भगवान् बुद्ध के इस सिद्धान्त का अनुकरण करने लगा कि जगत् की प्रत्येक वस्तु तथा विचार का कोई हेतु होता है। उनका कोई प्रयोजन होता है। इस हेतु अनुगमन ने मनुष्य को जगत् की ओर झुकाया। प्रत्येक जीव का कारण, कार्य तथा कर्तृत्व ढूंढ़ा जाने लगा। मानव ने विचारों में भी वैज्ञानिक प्रणाली अपनायी। फिर भी इस युग के मानवतावादी ईसाई पहले ईसाई थे। उसके पश्चात् पगान तथा अन्य विषयों के प्रेमी कहे जा सकते थे। उनकी लौकिकता तथा सहिष्णुता उतनी ही सीमा तक जाती थी जहाँ तक वे वैज्ञानिक जिज्ञासा-पूर्ति निमित्त सहिष्णुता में सहायक थी। किन्तु जब तक असहिष्णुता का लोप नही होता तब तक लौकिकता का पूर्ण दर्शन मिलना कठिन है।

हेण्डरिक वान लून ने असहिष्णुता के दो कारण बताये हैं। पहला कारण अज्ञान तथा दूसरा वैयक्तिक स्वार्थ है। असहिष्णुता का वास्तविक कारण मानसिक भयगत क्रिया तथा आलस्य है। भय तथा आलस्य नवीनता तथा परिवर्तन की ओर बढ़ने में बाधा उपस्थित करते हैं। उनकी यही बाधा, असहिष्णुता का रूप पकड़ लेती है। वे एक नये संस्कार की ओर ले जाते हैं। उस संस्कार का नाम घृणा है। यूरोप के बुद्धिवादियों के जीवन अध्ययन से स्पष्ट होगा, कि वे ईसाई थे। उस धर्म में विश्वास करते थे। परन्तु असहिष्णुता को वह किसी प्रयोजन सिद्धि का साधन नहीं बनाना चाहते थे।

उन्होंने सामान्यतया संकुचित साम्प्रदायिकता, धार्मिक कुपरम्परा तथा कुसंस्कारी पारलौकिकता को अस्वीकार किया है। उन्होंने धर्म के मूल नैसर्गिक सिद्धान्तों में विश्वास किया है। उनकी तुला लौकिकता हो गयी थी। उस पर वे नैतिकता को तौलना चाहते थे।

फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति की प्रथम ज्योति ने इस अन्धकार को दूर किया कि राजनीति-शास्त्र में विवेक की जरूरत नहीं है। विवेक पर ही राजनीति को आधारित करना चाहिए। उसका यह प्रभाव अठारहवी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कायम रहा। आधुनिक काल के प्रारम्भ में व्यवहार किंवा न्यायव्यवस्था-शास्त्र तथा कानून का विकास होने लगा। इस काल की मुख्य विशेषता यह रही है कि कानूनी विकास में लौकिकता को धार्मिक शिकंजे से अलग कर मानव के अनुभव पर आधारित किया गया। कानून के अध्ययन तथा उसके प्रति आदर का परिणाम यह हुआ कि रोमन कानून की विजय हुई तथा लौकिक परमवाद फैलने लगा। मध्य-युग में रोमन कानून ने राजकीय शक्ति तथा राज्य का गौरव दोनों को चर्च की कीमत पर बढ़ाया। साथ ही उसने बढ़ावा दिया लौकिकता को। जिस रोमन ला को ईसाई जगत् ने पगान तथा अधार्मिक कहकर दफना दिया था, वही रोमन ला ईसाई जगत् पर कब्र से निकलकर हावी हो गया। मध्य-युग का यह कानूनी आन्दोलन प्रारम्भिक आधुनिक काल में अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। राजनीतिक क्षेत्र में उसे निर्विवाद अधिकार प्राप्त हो गया था।

सार्थक लौकिकता ने अपना प्रभाव ब्रिटेन के कामन-ला से भी लिया है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उसने शीघ्रता के साथ सामाजिक सुधार की बात उठायी जिसकी ओर सनातनी ईसाइयों का कभी ध्यान भी नही गया था। उन्हें इस प्रकार के सुधारों में जैसे कोई रुचि नहीं थी। उनकी दृष्टि में राज्य दैवी श्रुति का फल था। किन्तु जनता आगे जाना चाहती थी। सुधार तथा सुधारवादी आन्दोलन को जनता की लौकिक मनोवृत्ति का परिचायक कह सकते हैं। लौकिक प्रवृत्ति ने यूनान तथा रोम के बुद्धिवादी विचारों के कारण मानवता में प्रवेश किया था। वह यूरोप में फैलते बुद्धिवाद के कारण नवीन प्रेरणा से उत्साहित हो उठी।

आधुनिक काल के बढ़ते परिवहन तथा यातायात के कारण लौकिक सिद्धान्त को और सहायता मिली। सबसे अधिक सहायता समुद्री परिवहन के कारण प्राप्त हुई। चीनी, जापानी, भारतीय आदि की पगान शैली, भोजन

का स्वाद, रहन-सहन, इतिहास तथा साहित्य यूरोप में प्रवेश करने लगा। सामुद्रिक नाविक विश्व के जिस बन्दरगाह पर पहुँचता वही उसका घर हो जाता था। उसका सीधा सम्बन्ध जनता तथा उसके व्यवहार आदि से हुआ। इन नाविकों का दृष्टिकोण लौकिक होने लगा। वे सनातनी ईसाईत्व को लेकर अपना काम चला नही सकते थे। इन नाविकों द्वारा बातें यूरोप के कोने-कोने में पहुँचने लगीं। यूरोप तथा अमेरिका के लोगों में अज्ञात विश्व को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

मानवता जितना ही सामाजिक संघटन में प्रवेश करने लगी, उतना ही अधिक सामाजिक विज्ञान का प्रभाव बढ़ने लगा। यूनानियों के पूर्व कालों में पारलौकिकता का अज्ञान के कारण इतना अधिक प्रभाव कभी-कभी हो जाता था कि समाजविषयक प्रश्नों पर अध्ययन करने के लिए व्याप्ति प्राप्ति नहीं होती थी। सभ्यता तथा संस्कृति जितना ही उन्नति-पथ की ओर अग्रसर होती है उतना ही लौकिक कार्यों में मानव विचारशील होने लगता है। यूनान, रोम तथा आधुनिक जगत् इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

गत पचास वर्षों के आधुनिक जगत् का इतिहास प्रमाणित करता है कि धर्म तथा पारलौकिकता का स्थान, लौकिक ज्ञान तथा उसके प्रति उत्पन्न हुई रुचि के कारण कम होता जा रहा है। मैं यह कहने में संकोच नहीं कर सकूँगा कि, पश्चिमी जगत् में चर्च भी लौकिक हो गया है। जिन क्षेत्रों पर चर्च का एकाधिकार था अथवा जो चर्च के विषय-क्षेत्र समझे जाते थे उनपर भी लौकिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अस्पताल, स्कूल आदि, चर्च का कार्य-क्षेत्र माना जाता था। उनपर राज्य का प्रभाव हो गया है। वे पूर्णतया लौकिक हो गये हैं। जहाँ नहीं हुए हैं, वहाँ भी हो जायेंगे। यह आधुनिक जगत् का प्रवाह है। उस प्रवाह के प्रभाव से बचना कठिन है।

लौकिकता के विकास ने शिक्षा पर से चर्च का प्रभाव हटा दिया है। स्कूलों में आचरण, अनुशासन, नैतिक शिक्षादि स्वतंत्र रूप से दी जाने लगी है। यह विषय पहले केवल चर्च का समझा जाता था। चित्र, कला, साहित्य आदि का कथानक अथवा आधार कोई धार्मिक गाथा, धार्मिक इतिहासादि होता था। परन्तु उसमें भी अब परिवर्तन हो गया। उसने भी लौकिक रूप ले लिया। उनका आधार दैनिक जीवन, दैनिक जीवन की समस्याएँ, प्रकृति, उत्थान किंवा पतन का रूप आदि होने लगा। इसका श्रेय उन लौकिक

दार्शनिकों तथा उस आन्दोलन को है जो गत शताब्दी में लौकिक आन्दोलन के नाम से यूरोप में आरम्भ हुआ था। इस दिशा में श्री होलीओक तथा उनके सहयोगियों ने बहुत कार्य किया है। आगामी अध्याय लौकिक आन्दोलन की यही विचार सामग्री होगी।

तृतीय खण्ड

मुस्लिम जगत्

—मुस्लिम राज्य सिद्धान्त
—खलीफा और खिलाफत
—जिहाद-क्रुसेड-धर्मविजय
—मुस्लिम भारत और लौकिकता
—मुगल-काल में लौकिकता

मुस्लिम राज्य सिद्धान्त

मुसलिम धर्म की परम्परा आर्य नहीं है। यह शामी अर्थात् सेमेटिक है। सन् ५७० ई० में पैगम्बर मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था। उस समय रोमन तथा परशियन साम्राज्य दीर्घकालीन अधिकार सत्ता उपभोग के कारण जीवनहीन हो चुके थे। पतनोन्मुख थे। इसलाम का कलमा था--केवल एक ही ईश्वर है। वह अल्लाह है। उसके रसूल मुहम्मद हैं। कलमे की इस परिभाषा ने अन्य मतावलम्बियों के लिए धार्मिक समता और विचार स्वतंत्रता के लिए इसलाम में कोई गुंजाइश न रखी। सहिष्णुता के लिए गुंजाइश न रखी। समझौते के लिए गुंजाइश न रखी। जगत् को दो विभागों में उन्होंने बाँट दिया--दारुल इसलाम और दारुल हरब। दारुल इसलाम मुसलिम देश था। दारुल हरब विधर्मियों की भूमि थी। दारुल इसलाम का संघर्ष दारुल हरब के साथ उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि दारुल हरब के लोग दारुल इसलाम मे परिणत न हो जायँ। अल्लाह मुसलिमों को फतह बख्शे, कुफ्र का जगत् से नाश हो। यह सब विचार इतने कठोर थे कि इसलाम धार्मिक सहिष्णुता के लिए तैयार न था। यहाँ तक किमिशरि को की सजा मौत रखी गयी थी।

इसलाम प्रारम्भ से ही आन्तरिक, कौटुम्बिक, जातीय, गोत्रीय और कबीलों के द्वन्द्वों के कारण, राजनीति से सम्बन्धित हो गया था। इसलामिक जगत् में धर्म और राज्य दोनों, मिसरी तथा जल की तरह मिलकर एकरस हो गये थे। धर्म और राज्य की सत्ता भिन्न नहीं रह गयी थी। खलीफा दोनों का नेता था। उसमें दोनों धाराएँ आकर मिल जाती थीं। यह प्रवृत्ति लौकिक राज्य की विरोधी है। इसलामिक राज्य देवाधितन्त्र के ज्वलन्त उदाहरण रहे हैं। धार्मिक तथा राजनीतिक नेता के रूप में खलीफा का कार्य इसलाम के हितों को देखना तथा प्रचार करना था। इसलाम ने समता अंगीकार किया। वह समता मिल्लते इसलाम तक ही सीमित थी। जिम्मी तथा विधर्मियों के लिए उस समता का द्वार बन्द था।

इसलामी शासन दो-मुखी हो गया। एक शासन मुसलमानों के लिए था; दूसरा विधर्मियों के लिए। एक व्यवस्था दारुल इसलाम के लिए थी;

दूसरी व्यवस्था दारुल हरब के लिए थी। जजिया आदि गैर मुसलिमों पर लादा गया। उन्हें वे कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं थे जो मुसलमानों को उसी सल्तनत में प्राप्त थे। सनातनी मुसलमान आज भी मानवीय समानता मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका विश्वास है कि इसलाम पर ईमान लाने तथा न लानेवालों के निमित्त भगवान् ने स्वयं भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ बना दी हैं। मूर्तिपूजक तथा मूर्तिध्वंसक का मार्ग अलग है। मंजिल अलग है। इसलाम हुकूमते इलाही के शरियत पर आधारित राज्य को आदर्श मानता है। उसका आधार कुरान शरीफ तथा हदीस के अनुशासन और नियम हैं।

मुसलमान जहाँ गये वहाँ अपना धर्म स्वीकार कराने के लिए जोर दिया। जहाँ सब लोगो ने इसलाम स्वीकार कर लिया वहाँ शान्ति रही। वहाँ लौकिक आदि राज्यों का सवाल पैदा नही हुआ। जो भी खलीफा या बादशाह होता, वह मुसलमान ही होता। उसका आदर्श होता––मुसलिम विचारधारा। जिन देशों में मुसलमान तथा अन्य धर्मावलम्बी रह गये. वहाँ अनवरत संघर्ष भारत-वर्ष की तरह चलता ही रहा। स्पेन में यह संघर्ष शताब्दियों तक चला। वहाँ से इसलामी हुकूमत समाप्त हुई। पूर्वी यूरोप के बलगेरिया, यूनान आदि तुर्की के अधीनस्थ देशों में संघर्ष चला। उसका अन्त पूर्वीय यूरोपीय राष्ट्रों की स्वतंत्रता में पूर्ण हुआ। तुर्की सिकुड़ना-सिकुड़ता यूरोप में अत्यन्त छोटा देश रह गया। भारत मे यह संघर्ष किसी-न-किसी रूप में सन् १९४७ तक चलता रहा। परिणाम देश का विभाजन हुआ।

विश्व के सभी मुसलिम राज्यों के विधानो में उन्हें इसलामी राज्य की संज्ञा दी गयी है। मलाया की सैंतालीस प्रतिशत जनता गैरमुसलिम है। वहाँ भी संविधान में मलाया को इसलामी राज्य माना गया है। मुसलमान परस्पर समता रखते है। वही समता दूसरों के लिए अलभ्य हो जाती है। पाकिस्तान संविधान ने भी राज्य का राष्ट्रपति मुसलिम होना अनिवार्य कर दिया है। कुरान में राज्य शास्त्र के कुछ सिद्धान्त मिलते हैं। उसमें बादशाह किंवा राजा की आज्ञा को मानना अनिवार्य किया गया है।

मुसलमानों ने देवाधिराजतंत्र की स्थापना की थी। वह अपनी पूर्ण गरिमा पर चीन और रोम साम्राज्य से भी अधिक बढ़ गया था। ब्रिटिश साम्राज्य के अतिरिक्त विश्व के किसी अन्य साम्राज्य से छोटा न था। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पेन भी मुसलिम राज्य में सम्मिलित हो गया था। मुसलिम शक्ति सिन्धु नदी से पेरेनीज़ तक फैल गयी थी। एक समय आया

प्रशान्त महासागर से भारतीय महासागर होता अटलांटिक सागर तक वह फैल गया।

सन् ७३२ ई० में चार्ल्स मारटेल ने यूरोप में मुसलिम शक्ति का प्रसार रोक दिया। फ्रान्स में मुसलमान बढ़ न सके। अन्यथा समस्त यूरोप में मुसलमानी झंडा लहरा उठता। यूरोप का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। फिर भी सिसली तथा सारडीनिया लेने में वे सफल रहे। रोम साम्राज्य के सब देश केवल पश्चिमी यूरोप के देशों को छोड़कर उनके प्रभाव-क्षेत्र में आ गये थे। इस समय भी, मुसलमानों की दुनिया में ४२ करोड़ आबादी है।

इस्लाम के प्रसार के साथ कला, विज्ञान तथा साहित्य ने एक नयी दिशा अपनायी। अरबों ने चीन से कागज बनाना सीखा। उसका प्रचार यूरोप में किया। अरब सेमेटिक शाखा के थे। रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित थे। उस समय सेमेटिक जाति में अरमीनियन, एडोमाइट, मोआवी, अमोनाइट और इसराइल जातियाँ आती थीं। उत्तरी अरब के रेगिस्तान में घुमन्तू जाति के लिए, अरब शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में किया जाता रहा है।

प्राग् इसलामी काल मे अरब के कबीले अपने कबीले तथा उसके मुखिया के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नही स्वीकार करते थे। उनके संघटन और एकता का सूत्र रक्त सम्बन्ध था। आधुनिक समय में अरब देश शब्द से उन देशों का अर्थ लगाया जाता है जिनकी भाषा अरबी है। उनमें मिस्र, अरब, यार्दन, सीरिया, इराक, लेवनान आदि है।

सन् १२२१ ई० तक मुसलिम जगत् का सितारा बुलन्द था। किन्तु चंगेज खां की ईरान विजय के पश्चात् ढलने लगा। क्रुसेड के प्रसिद्ध वीर सलादीन ने ईसाइयों अर्थात् क्रुसेडवालों को पराजित कर यरूशलम पर भी अपना अधिकार कर लिया। सीरिया से मिस्र तक उसका राज्य स्थापित हो गया था। आज का संयुक्त अरब राष्ट्र सीरिया तथा मिस्र की एकता है। मध्य-युग में इराकी जगत् में नवजीवन का संचार हुआ। चौदहवीं शताब्दी से अरब सभ्यता तथा साम्राज्य का गिराव आरम्भ हो गया।

अरब के पुराने कौटुम्बिक तथा आनुवंशिक सम्बन्धी व्यक्तिगत सामाजिक ढाँचे को इसलाम ने समाज की समष्टि में अर्थात् मिल्लते इसलाम में बदल दिया। कोई मुसलमान होने के साथ ही अपने कुटुम्ब, परिवार, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी, जाति, गोत्र आदि से नाता तोड़ देता था। एक नवीन समाज तथा

कुटम्ब में सम्मिलित होता था। पूर्व कुटुम्ब सम्बन्धी, तथा समाज को विधर्मी किंवा काफिर समझने लगता था। उनका एक प्रकार से धार्मिक दुश्मन हो जाता था। भारत में हिन्दुओं को यह देखकर आश्चर्य होता है। उसकी समझ में यह परिवर्तन कठिनता से आता है। हिन्दू धर्म परिवर्तन को महत्त्व देता ही नहीं। हिन्दू से बना मुसलमान अथवा हिन्दू वंशीय मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करता है तो उसे आश्चर्य होता है। भारत में नव मुसलिमों अर्थात् हिन्दू से बने मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अधिक अत्याचार किये हैं। उसने इसलाम में अपेक्षाकृत अधिक दिलचस्पी ली है। प्रतिशोध की भावना से कार्य किया है। इस विषय पर विस्तार के साथ प्रकाश भारतीय मुसलिम इतिहास में लौकिकता के अध्याय में डाला जायगा।

मुस्लिम जगत् के प्रथम खलीफा हजरत अबूबक्र ने मदीना में कहा था—धार्मिक विश्वास में भाई, युद्धोपार्जन में साझी तथा शत्रु के विरुद्ध हम मित्र हैं। हदीस कहती है—मुसलिम जाति उस दीवार की तरह है, जिसमें अनेक ईंटें लगी हैं।

इस्लामी हुकूमत भगवान् की हुकूमत मानी गयी है। वह भगवान् का शासन है। भगवान् की आँखें लोगों पर हैं। यूनानी राज्य का जो स्वरूप, उनके सिविटास तथा पोलिस शब्द में मिलता है, वही सिद्धान्त अल्लाह के व्यक्तित्व में आ जाता है। इसलाम ने चर्च, पुरोहित तथा किसी प्रकार के संस्कारों को मान्यता नहीं दी है। इस्लाम भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण है। वह प्रत्येक मुसलमान से मिल्लत के लिए आत्म-समर्पण चाहता है। उनका पूर्ण अनुकरण चाहता है। व्यक्ति उसी का है। उसी से है। उसी में है। राज्य का अधिकारी किंवा शासक स्वयं अल्लाह है, न कि इमाम अथवा कोई अन्य व्यक्ति।

इस्लामी समाज का आधार अल्लाह का हुक्म, उसका निर्देशित कानून तथा सरह है। अल्लाह लोगों को उतना ही देता है जितना वह देना चाहता है। स्वतंत्रता (इबेहाह) सीमित है। अल्लाह ने सब बातों की हद नियत कर दी है। मनुष्य की स्वतंत्रता की भी हद है। अपने हुक्म से किसी काम को रोक सकता है। मुसलिम दुनिया में हुकूमत का आदेश कानून का खास जुज़ है। अल्लाह उतना ही हुक्म देता है, जितना आवश्यक समझता है। फमाह तथा इमाम दो शब्दों में समस्त मुसलिम राज्य शास्त्र के इतिहास का

समावेश हो जाता है। मुसलिम कानून नैसर्गिक विधि अथवा रोमन कानून के समान नहीं है। वह शुद्ध धार्मिक कानून है।

मुसलिम राजशास्त्र के स्वरूप को किंचित् समझ लेना अच्छा होगा कोई भी व्यक्ति अल्लाह के आदेशों से परे नहीं जा सकता। वह इसी लिए बनाया गया है कि दुनिया में एक साथ रहकर उसका हुक्म बजाता रहे। वह एक उम्मा अर्थात् उम्मत-समाज में बँधा है।

उम्मा अर्थात् भ्रातृत्व की कल्पना मुसलिम समाज की बुनियाद है। केवल उसकी मदद से मुसलिम जगत् के सक्रिय सदस्य होने पर, मनुष्य इसे दुनिया में अल्लाह की मेहरबानी और मरने पर बहिश्त पाने का हकदार होता है। पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मदीना में कहा था—उम्मा दूसरे लोगों से अलग है। गोत्रीय तथा अन्य प्रकार की निष्ठाओं का समावेश उम्मा में हो जाता है। वह समष्टिवादी हो जाती है। मनुष्य का व्यष्टिवादी दृष्टि-कोण लुप्त हो जाता है। एक सन्धि में पैगम्बर मुहम्मद साहब कहते हैं—अल्लाह का वरदहस्त दीन से भी दीन ईमान लानेवालों पर हो जाता है। उम्मा में किसी भी व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का सामाजिक भेद नही किया गया है। किसी पद गौरव की परम्परा नहीं स्थापित की गयी है। कहा है—अल्लाह ने तुम्हें नर-नारी बनाया है, जाति तथा गोत्रों में बनाया है।

अल फरवी (सन् ८७०-९५० ई०) राज्य के स्वरूप के विषय में कहना है—प्रकृतितः मानव ऐसा नहीं बनाया गया है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना किसी की मदद के कर ले। यदि मानव अपनी पूर्णता चाहता है तो उसे कवा अर्थात् समाज से सम्बन्धित अपने साथियों के साथ सहयोग करना चाहिए। कुरान-शरीफ में कहा गया है—मानव एक दूसरे का शत्रु है। यदि अल्लाह एक को दूसरे पर काबू न करता तो यह पृथ्वी भ्रष्टाचारपूर्ण हो जाती।

इब्न खलदून (सन् १३३२-१४०६ ई०) राज्य तथा समाज की व्याख्या करता है—मानवीय समाज आवश्यक है। कारण सरल है। मनुष्य इस प्रकार बनाया गया है कि बिना खाना के रह नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकतानुसार खाना नहीं मिलता—अतएव यह जरूरी है कि, लोग एक दूसरे से सहयोग करें। इतना खाद्य उत्पन्न करे कि उनकी आवश्यकता से कई गुना अधिक हो जाय। प्रत्येक आदमी अपनी सुरक्षा के लिए अपने

साथियों की मदद चाहता है। भगवान् ने प्रत्येक प्राणी को अपनी सुरक्षा निमित्त कोई न कोई अवयव दिया है—अतएव एक निग्रहशील शक्ति का होना आवश्यक है। शक्ति और अधिकार एक आदमी के हाथों में होना चाहिए, ताकि एक आदमी दूसरे पर हमला न कर सके।

वह कहता है—ईश्वर ने कुछ लोगों के ऊपर दूसरों को श्रेष्ठता दी है। उनपर शासन का अधिकार दिया है। क्योंकि सभी लोग सामाजिक भलाई के लिए कार्यरत न होंगे। अतएव श्रेष्ठ व्यक्ति अपने साथ सबको ले चलने में समर्थ होगा। उसका मत है कि राजतन्त्र, घुमन्तू कबीले (खानाबदोश), उनके परिश्रमी जीवन, उनके संघर्षपूर्ण खतरे की जिन्दगी के कारण उत्पन्न होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागकर समष्टि के लिए कार्य किया जाता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। इस प्रकार की जाति के लोग युद्ध के लिए उपयुक्त तथा कुशल प्रमाणित हुए हैं।

नागरिक जीवन जिसे सभ्य सामाजिक जीवन कहा जाता है—उसमें लोग दुर्बल हो जाते हैं। अधिक पारिवारिक जीवन में फँसे रहने के कारण क्लीव हो जाते हैं। उनसे शारीरिक परिश्रम अधिक नहीं होता। उनके साथ घर-गृहस्थी तथा संग्रह की माया लग जाती है। इस प्रकार के नगर के नागरिक घुमन्तू कबीलोंवालों से बहुत शीघ्र परास्त हो जाते हैं। व्यायाम-विमुख नगर-निवासी अपने सभ्यता की रक्षा बहुत दिनों तक नहीं कर सकते। इस प्रकार दो प्रकार के समाजों की रचना होती है। एक व्यायाम किंवा परिश्रम-विमुख लोगों का नागरिक समाज होता है। दूसरा घुमन्तू कबीलेवालों का धार्मिक समाज। अर्थात् वे धर्म की ओर अधिक झुकते हैं और नागरिक झुकता है विचार की ओर।

खालदून संघर्ष के सिद्धान्त पर लिखते हुए कहता है—बारबेरियन तथा सभ्य समाज में संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। असभ्य लोग सभ्य होना चाहते हैं। असभ्य वे सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं जो कुछ सभ्य संग्रह करते हैं। सभ्य आलसी, दुर्बल, कोमल होते है। अवसर पाते ही असभ्य उनपर आक्रमण करते हैं। उनका सब कुछ अपहरण कर लेते हैं। उसका मत है—प्रत्येक विजय का अन्त पराजय में है। राज्यों का उत्थान-पतन इस प्रकार एक वृत्त में होता रहता है। यह राज्य के साइक्लिक थियरी का दूसरी तरह से वर्णन करता है।

सभ्यता की तुलना वह पुष्प से करता है। किसी पादप किंवा तरुवर का अन्तिम परिणाम पुष्प है। पुष्प युवा होता है। सुरभित होता है।

मुरझाने लगता है। सूखता है। गिरता है। सड़ जाता है। खाद में उसके अस्तित्व का लोप हो जाता है। प्रत्येक सभ्यता की यही भाग्यरेखा है।

वह कहता है—राज्य का आधार धार्मिक कानून है। विश्व के बड़े साम्राज्य धार्मिक हुए हैं। धर्म लोगों में प्रयोजन की एकता उत्पन्न करता है। लोग स्वार्थ से विरत होते हैं। एक आदर्श की ओर चलते हैं। एक साथ रहते हैं। एक साथ काम करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

धर्म और राज्य एक साथ रह सकते हैं। वे बिना एक दूसरे के भी रह सकते हैं। स्थायी व्यवस्था दोनों के सहयोग से ही सम्भव हो सकती है। राज्य का उस समय पतन आरम्भ होता है जब अधिक-से-अधिक अधिकार एक ही शासक के हाथों में आ जाता है। समस्त शक्ति जब एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है, तो आलस्य आता है। निष्क्रियता आ जाती है। खलदून ने राज्य के सम्बन्ध में भाग्यवादी दृष्टिकोण अपनाया है।

इसलाम के प्रारंभिक काल में राज्य और मुसलिम समाज में कोई अन्तर नही था। कालान्तर में दोनों में भेद बढ़ता गया। कुरान में राष्ट्र की परिभाषा नही मिलती। अल्लाह के इच्छानुसार आत्मसमर्पण करना इस्लाम का मुख्य मंत्र है। इससे भगवान् तथा मनुष्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। भगवान् शासक तथा मनुष्य शासित प्राणी है। शासित प्राणी मिल्लते इस्लाम के लोग हैं। राज्यशास्त्र की दृष्टि से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इसलाम में राज्य की प्रभुसत्ता भगवान् में निहित मानी गयी है। कुरान में कहा गया है—तुम नहीं जानते कि स्वर्ग और मृत्यु लोक की प्रभुसत्ता भगवान में स्थित है। कुरान पुनः कहती है—पैगम्बर मुहम्मद अल्लाह के प्रतिनिधि-स्वरूप न्यायपूर्ण शासन करने के लिए कहे गये थे।

कालान्तर में मुसलिम जगत् का प्रत्येक खलीफा भगवान् का प्रतिनिधि पृथ्वी पर बन गया। यह बात यहाँ तक बढ़ गयी कि शासक जनता के प्रति उत्तरदायी न होकर अपने को सीधा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी समझने लगा।

राजा को दण्ड देने का भार अल्लाह के ऊपर है। अल्लाह जब किसी राजा को दण्ड देना चाहता है तो किसी-न-किसी के हाथों द्वारा दण्ड दिला देता है। चाहे वह दण्ड देनेवाला पिता, पुत्र, भाई, नौकर-चाकर ही क्यों न हो। दिल्ली में बहुधा मुसलिम बादशाहों ने अपने सम्बन्धियों को मार-कर, हराकर अथवा लड़कर तख्त प्राप्त किया था। कितने ही अपने समय के बादशाहों के नौकर थे। अपने स्वामी की हत्या की थी। विद्रोह द्वारा तख्त

प्राप्त किया था। कितने ही बेकसूर सम्बन्धी अथवा सेवकों द्वारा कैद कर दिये गये थे। यह प्रवाह केवल भारतीय मुसलिम शासन तक ही सीमित न रहा। विश्व के सभी मुसलिम देशों में कहीं कुछ कम या कहीं कुछ अधिक, यही बात होती रही है।

क्या कारण है कि मुसलिम जनता ने इस प्रकार के अन्यायों का खुला विरोध नहीं किया? मुसलिम जगत के प्रथम चार खलीफा पैगम्बर मुहम्मद साहब के साथी थे। उन्हें सहाबा कहते हैं। वे किसी-न-किसी षड्यंत्र के शिकार बनते गये। मारे गये। जनता ने विद्रोह न किया। जनता ने किसी हत्यारे बादशाह या खलीफा को दण्ड देने का प्रयास नहीं किया।

इस्लामी जगत् में राज्य-क्रान्ति बीसवीं शताब्दी के पूर्व दिखाई नहीं देती। कारण स्पष्ट है। एक को हराकर दूसरा सत्ता अपने हाथों में लेता था। मुल्क का बादशाह बन जाता था। उसकी हुकूमत मानना लाज़िमी था। उसे दण्ड देना या न देना अल्लाह का काम था। इस दिमागी प्रवृत्ति के कारण, इसलामी जगत् में कभी हिंसक अथवा अहिंसक जन-क्रान्ति न हुई। दोनों प्रकार की क्रान्तियों का होना नामुमकिन था।

मानना होगा कि मुसलिम देवाधिराज इलहामी धर्म इलहाम पर आधारित था। इलहाम ने यदि प्रभु ईसामसीह को ईश्वर के पुत्र के नाम से बाइबिल में सम्बोधित किया तो पैगम्बर मुहम्मद को अल्लाह का रसूल माना। उनके वचन श्रुति किंवा आर्ष वचन तुल्य माने गये। उनमें तर्क तथा विचार के लिए स्थान न था। वे ईश्वरवाक्य थे। ईश्वर का आदेश मानना ही चाहिए। इस प्रकार की विचारधाराओं के बीच देवाधिराजतंत्र के अतिरिक्त और किसी प्रकार के तन्त्र की कल्पना की नहीं जा सकती थी। जनता के गले के नीचे यह सिद्धान्त उतारा गया। वह शान्त निरपेक्ष रहने लगी। बोलती न थी। यदि बोलती तो उसका वह कार्य धर्मविरुद्ध अर्थात् ईश्वरादेश के विरुद्ध समझा जाता। वह दण्ड का अधिकारी होती। यही कारण है कि, इसलाम में जन-क्रान्तियों का अस्तित्व नहीं मिलता। अस्तित्व सबसे अधिक मिलता है—एक बादशाह का दूसरे से, एक सेना का दूसरी सेना से, बादशाह से लड़के का, एक भाई का दूसरे भाई से भिड़ने का, हुकूमत के लिए लड़ने का, हथियार उठाकर एक के स्थान पर दूसरे को कायम करने का। हजरत उमर ने मुसलिम जगत् को बहुत पहले चेतावनी दी थी—फितना और गृहयुद्ध से सतर्क रहे। वे नष्ट करनेवाले हैं।

इसलाम समता का सिद्धान्त स्वीकार करता है। लोकतंत्र चलाने का प्रयास किया है। किन्तु निर्वाचित लोकतंन्त्र स्थापित करने में असफल रहा है। उसका इतिहास देवाधितन्त्र से आरम्भ होता है। आगे चलकर वह कुलीन तन्त्र में परिणत हुआ। अन्त में निरंकुश राजतन्त्र में बदल गया। राजतन्त्र, कुलीन तंत्रादि होने पर भी मुसलिम राज्य की आत्मा सर्वदा देवाधितन्त्रीय ही रही। यह बात मानी गयी। शासन अल्लाह के हुक्म, उसकी मिहरबानी, उसके प्रदत्त अधिकार द्वारा किया जाता है।

ईश्वर राष्ट्र का स्वामी था। साम्राज्य का सम्राट् था। उसके अधिकारों का उपयोग उसकी मेहरबानी से मनुष्य दुनिया में करता था। राजा भगवान् का प्रतिनिधि था। उसकी तरफ से हुकूमत करता था। यह सिद्धान्त दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा में आ जाता है। कुछ लेखक इसलामी राज्य सिद्धान्त को 'नोमोक्रैसी' की संज्ञा देते हैं। उनका कहना है कि यहूदी, ईसाई तथा मुसलिम राज्य दैवी कानूनी अनुशासन पर आधारित है। उनकी राज्य पद्धति को दैवी तन्त्र अर्थात् 'नोमोक्रैसी' कहना चाहिए।

इसलामी राज्य की कल्पना विश्वराज के रूप में की गयी थी। उसमें एक राजा तथा एक कानून की कल्पना की गयी है। कुरान शरीफ ने कहा है—यदि सृष्टि में दो ईश्वर होते तो सृष्टि नष्ट हो गयी होती। यह कहना अलम् होगा कि पृथ्वी पर दो से अधिक राजा किंवा सत्ताधारी व्यष्टि या समष्टि के रूप में लोग रहे हैं। यदि विश्व में एक ही राजा अथवा राज्य होता तो लड़ाई किससे होगी? सृष्टि युद्धों, क्रान्तियों, संघर्षो से सर्वदा लाल होती रही है। मनुष्य की वह अन्तिम मंजिल बहिश्त है। अल्लाह के वचनों का अनुकरण करने से प्राप्त होगी। यह दुनिया उस मंजिल तक पहुँचने के लिए एक डेरा मात्र है। अतएव लौकिक राज्य तथा उसकी व्यवस्था पर इसलाम ने कभी अधिक जोर नहीं दिया।

इसलाम का अन्तर्राष्ट्रीय विधान एक अस्थायी व्यवस्था उस समय तक के लिए है, जब तक कि, समस्त जगत् इसलाम स्वीकार नहीं कर लेता। एक इसलामी विश्व राज्य के अन्तर्गत नहीं आ जाता। मुसलिम कानून स्वकीय कानून है। वह व्यक्तियों पर लागू होता है न कि राष्ट्रों पर। मुसलमान चाहे कहीं भी क्यों न हो, वह अपने जातीय कानून से अनुशासित होता है। होने की आकांक्षा रखता है। मुसलिम कानून इस दृष्टि से जातीय होते हुए भी किसी एक देश की सीमा तक सीमित नहीं था

खलीफा और खिलाफत

भारत में मुसलिम धर्मावलम्बियों की संख्या लगभग ४ करोड़ है। पाकिस्तान में उनकी संख्या सात करोड़ है। विश्व में मुसलिम जनसंख्या बयालीस करोड है। ईसाई धर्म के समान मुसलिम धर्म ने विश्व धर्म बनने की कल्पना की थी। उसने प्रयास किया कि समस्त विश्व इसलाम ग्रहण कर ले। उसकी राज्य व्यवस्था का अनुकरण करे। मुसलमान धर्म यदि स्वीकार न करे तो दण्डस्वरूप जजिया आदि अदा किया करे। मुसलिम जगत् का प्रमुख खलीफा था। उसमें राजनीति तथा धर्मानुशासन की दोनों धाराएँ आकर मिल जाती थीं।

खलीफा का पद जिन परिस्थितियों में विकसित हुआ था वह होली रोमन इम्पायर की परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थी। पोप केवल धार्मिक अर्थात् रोमन कैथोलिक चर्च का प्रमुख था। उसने राजनीतिक शासक का रूप कभी नहीं लिया। खलीफा में दोनों ही बातें एक तरह से सम्मिलित थी। एरनाल्ड के शब्दों में खिलाफत अपने समय तथा परिस्थितियों का पैदा हुआ शिशु था। वह किसी प्राचीन राजकीय संस्था अथवा विचारों का पुनर्जागरण नहीं था।

कुरान शरीफ तथा हदीस में खिलाफत के विषय में जो बातें कही गयी हैं, वे केवल विचार मात्र नही हैं। उन्हें मानना, उनके अनुसार कार्य करना, मुसलमानों का पवित्र कर्तव्य समझा गया है। खलीफा मुसलिम जगत् से पूर्ण निष्ठा की आशा करता है।

खलीफा और पोप में एक बहुत बड़ा अन्तर है। मुसलिम धर्म में अल्लाह तथा मनुष्य के बीच किसी मध्यस्थ या पुरोहित आदि की कल्पना नहीं की गयी थी। धर्म में उनका कोई स्थान नहीं रखा गया था। धर्मो पर प्रकाश डालने, भाष्य-परिभाष्य करने का उत्तरदायित्व उलमाओं पर था और है। खलीफा का कोई आध्यात्मिक अधिकार नही था। प्रत्येक मुसलमान प्रत्येक धार्मिक कृत्य स्वयं कर सकता था। ईसाइयों तुल्य चर्च अथवा पादरियों की संघटित जैसी संस्था का उदय इसलाम में नहीं हुआ। केवल इमाम का एक स्थान माना गया है। उसका काम नमाज़ के समय नमाज़ पढ़ाना था।

इमाम का पद, गुलाम, खानाबदोश, अथवा शुद्ध अथवा अशुद्ध कुरैश वंशीय कोई मुसलिम भी हो, ले सकता था। किसी जाति का, किसी वंश का, कोई ऊँचे

से ऊँचा तथा नीचे से नीचा काम करनेवाला ही क्यों न हो, इमाम हो सकता था। शर्त केवल एक थी। उसका मुसलमान होना अनिवार्य था। होली रोमन साम्राज्य कुछ दिनों में समाप्त हो गया। परन्तु, खिलाफत किसी-न-किसी रूप या प्रकार से बीसवीं शताब्दी तक चलती रही।

अरब कबीलों में प्रथा थी। मुखिया का चुनाव करते थे। वंशपरम्परा किंवा उत्तराधिकार के कारण कोई मुखिया स्वतः नहीं हो जाता था। लोक-तन्त्र का यह मौलिक सिद्धान्त मुहम्मद साहब के विचारों में स्थान पाता है। धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों कार्य अपने जीवनपर्यन्त वे स्वयं करते रहे।

उनकी मृत्यु के पश्चात् हजरत अबूबक्र प्रथम खलीफा हुए। मुहम्मद साहब के श्वसुर थे। खलीफा चुने गये थे। उन्हें खलीफा रसूल अल्लाह कहा जाता है। खलीफा चुने जाने पर उनके उत्तराधिकारी दूसरे खलीफा हजरत उमर ने मुसलमानों के सम्मुख हजरत अबूबक्र के प्रति निष्ठा लेने का प्रश्न रखा। सबने निष्ठा की शपथ ली। विरोधी तथा समर्थक दोनों ने निष्ठा की प्रतिज्ञा की। हजरत अबूबक्र की उस समय आयु ६० वर्ष की थी। वे केवल २ वर्ष खलीफा रहे। सन् ६३४ ई० में उनकी हत्या कर दी गयी।

हजरत उमर दूसरे खलीफा हुए। उन्हें अमीरुल मोमनीन कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग कुरान शरीफ में खलीफा तथा इमाम के अर्थ में कहीं नहीं किया गया है। मध्यकालीन यूरोप में खलीफा के लिए इसी शब्द का सम्बोधन किया जाता था। यह शब्द खलीफा के लौकिक स्वरूप का प्रतीक मालूम होता है। इमाम शब्द का प्रयोग हजरत मुहम्मद ने प्रदर्शक के रूप में किया है। सन् ८१३-८३३ ई० तक अब्बासी खलीफा मम्न ने सिक्के पर अपने नाम के साथ इमाम शब्द अंकित कराया था। कहा जाता है कि पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा था कि उनके पश्चात् ३० वर्ष तक खिलाफत चलेगी। अनन्तर बादशाहत हो जायगी।

हजरत उसमान मुहम्मद साहब के दामाद थे। हजरत उमर के पश्चात् सन् ६४४ ई० में खलीफा चुने गये। वह इसलामी जगत् के तीसरे खलीफा थे। उनकी हत्या हजरत अबूबक्र के एक पुत्र ने सन् ६५५ ई० में कर दी। तत्पश्चात् मुहम्मद साहब के दूसरे दामाद हजरत अली चौथे खलीफा चुने गये। इन्हीं की सन्तान इमाम हसन तथा इमाम हुसेन और पत्नी बीबी फातिमा थी। प्रायः यह निर्विवाद माना जाता है कि प्रथम चारों खलीफाओं का किसी न किसी रूप में निर्वाचन हुआ था। उक्त चारों खलीफाओं के समय इसलामी राज्य की राजधानी मदीना थी।

हजरत अली की भी हत्या कर दी गयी। उनके पुत्रों की भी हत्या की गयी। सन् ६६७ ई० में उम्मैया वंश में खिलाफत आ गयी। उनके वंश में सन् ७५० ई० तक रही। उनकी एक शाखा ने स्पेन में सन् ९२९ ई० तक राज्य किया।

मुआविया ने खलीफा का उत्तराधिकार पैतृक आनुवंशिक क्रमागत आधार पर चलाया। सन् ६७६ ई० में अपने पुत्र मजीद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। अपने जीवन काल में ही उसने लोगों से उसके प्रति निष्ठा की शपथ ले ली। यह शपथ दमिश्क में ली गयी। पुत्र के साथ मक्का और मदीना गया। वहाँ भी लोगों ने राज-भक्ति की शपथ ली। यह प्रथा इस वंश में अन्त तक कायम रही।

उम्मैया वंश ने मदीना से राजधानी हटा दी। दमिश्क में नयी राजधानी स्थापित की। उम्मैया वंशीय खलीफाओं का शासन लोकतंत्रीय नहीं था। अरब अभिजाततन्त्र था। उनपर आक्षेप लगाया गया है। वे इस्लाम के सिद्धान्तों का विशेष अनुकरण न कर लौकिकता की ओर झुके थे। उनके राज्य काल में इसलाम भारत और चीन की सीमा से लेकर अतलांतिक महा-सागर तक फैल गया था। समस्त परशियन तथा रोमन साम्राज्य के पूर्वीय प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। उम्मैया लोग कट्टर नहीं थे। कठोर इसलामी अनुशासन राज्य-प्रबन्ध में न ला सके। उनका धार्मिक आचरण निरंकुश राजतन्त्र में बदल गया था।

उनमें धार्मिकता कम हो गयी। उनके विरुद्ध धार्मिक असन्तोष बढ़ने लगा। अब्बासी वंश ने परिस्थिति से लाभ उठाया। उम्मैया वंशजों को पराजित कर, स्वयं सन् ७५० ई० में खलीफा बन गये।

खलीफा शब्द कुरान में आया है। खिलाफत पक्ष के प्रतिपादकों ने इसकी मान्यता कुरान से दी है। कुरान में खलीफा शब्द दो बार हजरत आदम तथा दाऊद के नाम के साथ आया है। कुरान कहता है—ओ दाऊद ! हमने तुम्हें एक उत्तराधिकारी (खलोफा) भूमि पर बनाया है। मैंने इजकील से कहा कि मैं एक उत्तराधिकारी (खलीफा) पृथ्वी पर रखनेवाला हूँ। हदीस कहती है कि खलीफा कुरेश वंशीय होना चाहिए। इसी वंश के स्वयं पैगम्बर साहब भी थे। इमाम भी कुरेश जाति का होगा। आदमियों के ऊपर शासन कुरेश जाति करेगी।

मुहम्मद साहब ने कहा है—प्रत्येक शासक का अनुशासन मानो। इमाम की पीछे नमाज पढ़ो। हमारे किसी साथी का अपमान न करो। हदीस में पैगम्बर साहब का एक वाक्य कहा गया है—"ऐ लोगो, अल्लाह का आदेश मानो। वह तुम्हारे ऊपर चाहे एक बदसूरत हब्शी का ही शासन क्यों न लाद दे।" स्पष्ट है कि मुसलिम राज्यशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु पारलौकिकता है। पृथ्वी पर जितने शासक हैं भगवान् की इच्छानुसार हैं। गुस्सा होने पर वह उन्हें दंड दे सकता है। हटा सकता है। प्रजा का काम शासक की आज्ञा पालन करना है। वह न्यायी है अथवा अन्यायी है। इसका विचार नहीं करना है। इसकी जिम्मेदारी अल्लाह पर है।

अल्लाह अन्यायी राजा को दण्ड तथा न्यायी को पुरस्कार देगा। अल्लाह जब लोगों की भलाई चाहता है, तो वह बुद्धिमान् तथा क्षमाशील आदमियों को शासन की व्यवस्था देता है। उनकी भलाई उदार व्यक्तियों के हाथों में रख देता है। इसी प्रकार जब किसी जगह के लोगों की बुराई चाहता है तो उनके ऊपर अगुणी और निकम्मे शासकों को भेज देता है।

मुसलिम राजनीतिक लेखक मवर्दी, अलबेरूनी, निजामए अरुदी तथा इब्नखलदून ने खिलाफत के विषय में बहुत कुछ लिखा है। खालदून (सन् १३३२ ई०) अपने समय का बड़ा विचारक रहा है। वह कहता है—साम्राज्य की सबसे ठोस नींव धर्म है। आदमी को अल्लाह ने पैदा किया है। वह अपने भविष्य-जीवन की तैयारी के लिए उन सब कार्यों को करे जिन्हें करना उसके लिए फर्ज करार दिया गया है। वह स्वर्गीय कानून जान सके। लोक-परलोक में आनन्द प्राप्त कर सके। इसलिए पैगम्बर साहब के पश्चात् पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। खलीफा का कार्य लोगों को शरह के मुताबिक चलाना है।

अब्बासी वंश के हाथों में खिलाफत सन् ७४४-९७४ ई० तक रही। अब्बास पैगम्बर साहब के चाचा थे। उनके वंशज अब्बासी कहे गये हैं। इस वंश के २४ खलीफा हुए हैं। पिता के पश्चात् पुत्र खलीफा बननेवालों में खलीफाओं की संख्या कुल ६ थी। इस समय तक माना जाता था कि खलीफा का पद निर्वाचकीय है।

अब्बासी खलीफाओं के समय ईरानी मुसलमानों का प्रभाव बढ़ने लगा। अरब जाति की शक्ति क्षीण हो गयी। उत्साह में कमी आ गयी। अरब शासकों के स्थान पर बाद में मुसलमान बने लोगों के हाथों में शासन आने

लगा। अरबों के समान नव मुसलिम भी समझे जाने लगे। अरब कुलीनता मुसलिम समता में जैसे समाती जा रही थी। अरबों की शक्ति उनके शताब्दियों के राजवैभव, ऐश्वर्य, ऐहिक जीवन के सुखों के कारण क्षीण हो गयी थी।

ईरानी भी मुसलमान हुए थे। मुसलिम जगत् अरब सामन्तशाही को बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं था। अब्बासी लोगों ने ईरानी सहायता से लाभ उठाया। दमिश्क से राजधानी हटा दी गयी। मुसोपटामिया में लायी गयी। सन् ७६२ ई० में बगदाद में निश्चित रूप से राजधानी स्थापित कर दी गयी। राजनीति का केन्द्र मक्का, मदीना, दमिश्क के स्थान पर बगदाद बन गया। अब्बासी काल में धार्मिकता कट्टरता का रूप लेने लगी। धर्मानुशासनों का कठोरता से पालन कराया जाता था। उम्मैया शासन में लोगों को बहुत कुछ स्वतंत्रता प्राप्त थी। इस काल में लौकिकता का पूर्णतया लोप हो गया।

रोमन फोरम तुल्य प्रत्येक मसजिद धर्म तथा राजनीति का केन्द्र बन गयी। वहाँ सामाजिक जीवन के हर पहलू पर विचार-गोष्ठी होने लगी। मसजिद के मिनावर (मसजिद के पश्चिमी दीवार से सटकर बीचों-बीच बनी सीढ़ी) पर से फैसला दिया जाता था। इसी मिनावर पर से हजरत उमर ने ईरानियों के विरुद्ध जेहाद निमित्त सैनिकों के लिए अपील की थी। इसी मिनावर पर से हजरत उसमान ने अपने ऊपर लगाये गये लांछनों का उत्तर दिया था। प्राग् मुसलिम काल में वक्ता को खातिब कहते थे। मिनावर पर से खुतबा अर्थात् वक्तृता मुख्यतया शुक्रवार को दोपहर की नमाज के बाद दी जाने लगी। खुतबा में तत्कालीन सुलतान, बादशाह अथवा राज्य के सर्वश्रेष्ठ सत्ताधिकारी का नाम लिया जाता था।

खलीफा मुक्तदिर दो बार (सन् ९०८-९३२ ई०) तख्त से उतारा गया। युद्ध में अपने ही सिपहसालार द्वारा मारा गया। छिन्न मस्तक एक बर्छी की नोक पर लगा दिया गया। शरीर जहाँ गिरा था वहीं छोड़ दिया गया। उसका भाई कादिर उत्तराधिकारी बनाया गया। दो वर्ष पश्चात् वह भी गद्दी से उतार दिया गया। उसके नेत्र गर्म लोहों की छड़ों से फोड़ दिये गये। कैद में डाल दिया गया। ग्यारह वर्षों तक जीवित रहा। छोड़ा गया। एक मसजिद के पास भीख माँगने लगा। उस समय उसका भाई मुक्तदिर का पुत्र दादी खलीफा था। इस वंश का वह आखिरी खलीफा था जिसने खुतबा पढ़ा

था। वह सन् ९४० में मर गया। मुक्तदिर का दूसरा पुत्र मुक्तकी खलीफा बनाया गया।

तुर्कों का महत्त्व बढ़ने लगा। उन्होंने उसे खिलाफत छोड़कर, भागने पर मजबूर किया। उसने मोसल में शरण ली। हमदानी बादशाह सैफुद्दौला तथा नासिरुद्दौला ने उसे शरण दी। उनके प्रयास से वह पुनः खलीफा बना। षड्यंत्र का शिकार बन गया। बगदाद छोड़कर भागा। अन्ततोगत्वा तुर्क सेनापति तुजून की शरण में आत्मसमर्पण कर दिया। कुछ समय पश्चात् गर्म लोहों की सलाखों से उसकी आँखें फोड़ दी गयीं। वह गद्दी से उतार दिया गया। तुजून ने मुस्तकफी को खलीफा बनाया।

बगदाद में तीन अन्धे किये गये खलीफा, एक समय में एक साथ, दयनीय अवस्था में पाये जाते है। सन् ९४५ ई० में बुवाहिद ने बगदाद पर अधिकार कर लिया। नाम के लिए अब्बासी वंशवाले खलीफा बने रहे। बुवाहिद शिया थे। खलीफा सुन्नी था। खुतबा में खलीफा के साथ बुवाहिद का नाम भी पढ़ा जाने लगा। मुस्तकफी के पश्चात् मुती (९४६-९७४ ई०) खलीफा नाममात्र के लिए बना। उसके पश्चात् ताई खलीफा बनाया गया। खुतबा में बुवाहिद वंशियों के शासक और खलीफा दोनों का नाम पढ़ा जाने लगा। सन् ९९१ ई० से सन् १०३१ ई० तक कादिर तथा उसके पश्चात् कायम सन् १०३१-१०५१ ई० तक खलीफा रहे।

ईरान में एक नवीन शक्ति सलजुकों का उदय हुआ। वे तुर्क थे। सालजुक राजा तुग्रिल ने सन् १०५५ ई० में बगदाद में प्रवेश किया। खलीफा ने उसे अपना मुक्तिदाता समझा। उसे पूरब पश्चिम के सुलतान के पद से विभूषित किया। बुवाहिदा शक्ति समाप्त हो गयी।

तुर्क विचित्र निकले। खलीफाओं की स्थिति में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। तुर्कों ने खलीफा के पास जो कुछ बची-खुची सम्पत्ति थी उसे भी ले लिया। खलीफा नासिर के समय सलजुकों का जुल्म बढ़ गया। तुर्घिल इब्न अर्सलन अन्तिम सालजुक ईरानी राजा था। सन् ११९४ ई० में उसका मस्तक काटकर, बगदाद के राजप्रासाद के बाहर लटका दिया गया। खलीफा को जैसे कुछ राहत मिली।

दिल्ली के अन्तिम मुगल सुलतानों की तरह खलीफाओं की हालत हो गयी थी। दिल्ली के सुलतान जब जो शक्तिशाली हो गया, चाहे वे सय्यद, मराठे, अँग्रेज क्यों न रहे हों, उनके हाथों की कठपुतली बन जाते थे।

खलीफा भी बगदाद पर जिस शक्ति का शासन हो जाता था उसके हाथों में खेलने लगते थे। उनकी अपनी कोई शक्ति नहीं रह गयी थी। वे सैनिक तानाशाहों के शिकार बनते रहते थे।

खलीफा शब्द में फिर भी एक आकर्षण था। मुसलिम जगत् में धारणा हो गयी थी। राज्य या राजा के लिए खलीफा की मान्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मान्यता के वे लोग अधिक इच्छुक रहते थे जिन्हें अपने उत्तराधिकार अथवा सत्ता के कानूनी पहलू या हक में कुछ शक मालूम होता था। खलीफाओं का काम अन्तिम मुगल सम्राटों के समान मान्यता, पदवी आदि देना रह गया था। यह प्रवृत्ति इस बात को बताती है कि मुसलिम जगत् पूर्णतया धार्मिक था। राज्य का आधार लौकिकता न थी, जिसकी एक झलक मुवैय्या के काल में मिली थी।

महमूद गजनी ने खलीफा से सुलतान होने की मान्यता प्राप्त की थी। सन् १०८६ ई० में युसुफ इब्न तशकीन जिसने स्पेन में अलमोरावी वंश की स्थापना की थी, खलीफा मुक्तदी से मान्यता माँगी। खलीफा ने खिलअत भेजकर, उसे अमीरुल मुसलमीन का खिताब दे दिया।

अलमोरावी एक सनातनी मुसलिम आन्दोलन था। उत्तरी अफरीका में उठ खड़ा हुआ था। मोरक्को नाम उनकी स्मृति आज भी हरी कर देता है। सन् १०८६ ई० में मोरक्को से स्पेन पहुँचकर जलक्का के रणक्षेत्र में ईसाई फौजों को पराजित किया गया था। उसे मुसलिम जगत् में शामिल कर लिया गया।

सन् ११४६ ई० में अलमोहद नाम का दूसरा आन्दोलन आरम्भ हुआ। यह उत्तरी अफरीका में फैला। उन्होंने अलमोरावी वंश को समाप्त किया। अपनी सत्ता स्थापित की। स्वयं इमाम बनने का दावा किया। लगभग ढाई शताब्दी तक फातिमी खलीफा कैरो में कायम रहे। वे शिया थे। उनका अन्त सन् ११७१ ई० में हो गया।

सलादीन का उदय हुआ। वह क्रुसेड का वीर था। क्रुसेड पर अगले अध्याय में लिखा गया है। उसने इसलाम की शक्ति बढ़ायी। ईसाइयों को क्रुसेड में परास्त किया। ख्याति प्राप्त की। कैरो के शिया खलीफा को हटा दिया। अब्बासी वंश के खलीफा का लगभग ढाई शताब्दी के पश्चात् खुतबा पढ़ा जाने लगा मुश्तदी ने इस खुशी में बगदाद में दीपावली मनायी।

सन् ११७४ ई० में सलादीन ने नूरुद्दीन के लड़के को हटा दिया। स्वयं सुलतान बन गया। उसने खलीफा मुस्तदी को सन् ११७५ ई० में लिखा कि उसे मिस्र, गधरिव, यमन तथा सीरिया के सुलतान की मान्यता दे दी जाय। खलीफा ने सलादीन के आदेशानुसार तुरन्त मान्यता दे दी। फ्रैन्क लोगों पर विजय होने के सम्मान में मान्यता दी गयी। दक्षिण यमन के एक दूसरे वंश के संस्थापक नूरुद्दीन उमर (१२२९-१२४९ ई०) ने अपनी बादशाहत के लिए खलीफा से मान्यता माँगी। मान्यता दे दी गयी। उसी प्रकार सन् १२३४ ई० में रमलिद ने भी मान्यता माँगी। खलीफा मुस्तान्सेर ने सुलतान की उपाधि तथा खिलअत उसके यहाँ भेज दी।

अफरीका तथा मध्यपूर्व एशिया के देशों तक ही मान्यता का यह रोग सीमित नहीं रह गया। यह बीमारी पूरब की ओर पश्चिम से बढ़ने लगी थी। भारत के मुसलिम बादशाह, जिनसे खलीफाओं से किसी प्रकार का सम्बन्ध न था, जिनकी राजनीति को तीन हजार मील दूर बैठा शक्तिहीन खलीफा प्रभावित नहीं कर सकता था, धर्म की तीव्र श्रद्धा के कारण, विदेशी खलीफाओं की मान्यता के लिए उतावले हो गये।

भारत के मुसलमान बादशाहों ने खलीफाओं के कदमों में अमूल्य उपहार भेंट कर मान्यता प्राप्त की है। सन् १२११ ई० में सुलतान अल्तमश अपने पूर्व मालिक कुतुबुद्दीन ऐबक बादशाह के लड़के आरामशाह को गद्दी से उतार कर स्वयं सुलतान बन गया। राज्यहरण के अधिकार को कानूनी रूप देने के लिए सन् १२२९ ई० में खलीफा मन्तसिर को भारी उपहार भेजकर सल्तनत की मान्यता प्राप्त कर लिया। उसे उन सभी स्थानों का बादशाह मान लिया गया। जहाँ तक उसका अधिकार था। उसने जहाँ तक विजय कर लिया था। वह पहली खिलअत तथा सनद थी जो दिल्ली के बादशाह को दी गयी थी।

खलीफा का एक तरह से भारत पर अधिकार मान लिया गया। खिलअत तथा सनद का दिल्ली में बड़ा स्वागत किया गया। दरबार में खलीफा की सनद पढ़ी गयी। भारतीय मुद्रा पर सुल्तान अल्तमश के साथ-ही-साथ खलीफा का भी नाम अंकित कराया गया। भारत पर खलीफा का कानूनी अधिकार मुसलिम जगत् के खलीफा होने के कारण मान लिया गया। भारत में मुसलिम देवाधिराज शासन को एक प्रकार से कानूनी रूप दे दिया गया।

अल्तमश के उत्तराधिकारियों ने खलीफा से मान्यता प्राप्त करने का प्रयास किया। दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन मसूदशाह (सन् १२४१-१२४६ ई०) ने अपने सिक्के पर अब्बासी खलीफा मुस्तसिफ (सन् १२४२-१२५८ ई०) का नाम अपने नाम के साथ अंकित कराया। खलीफा सन् १२५८ ई० में मंगोलों द्वारा मार डाला गया परन्तु दिल्ली के बादशाहों की खलीफा के प्रति निष्ठा में जरा भी कसर न रही। मृत खलीफा का नाम मुहम्मदशाह नसीरुद्दीन (सन् १२४६-१२६५ ई०), गयासुद्दीन बलबन (सन् १२६५-१२८७ ई०), मुइजुद्दीन कैकोबाद (सन् १२८७-१२९० ई०) बादशाहों के नाम के साथ उसके कब्र में पहुँच जाने के ४२ वर्ष बाद तक चलता रहा। यहीं तक नही बल्कि मृत खलीफा के नाम का खुतबा भी उनके नाम के साथ पढ़ना जारी रहा।

खिलजियों के हाथों में भारत का शासनसूत्र आया। जलालुद्दीन फिरोज-शाह द्वितीय (सन् १२९०-१२९५ ई०) कैकोबाद की हत्या के पश्चात् बलबन वंश के अन्तिम उत्तराधिकारी को कड़े का जागीरदार बनाकर भेज दिया। स्वयं बादशाह बन गया। उसके सिक्के पर मृत खलीफा का नाम अंकित होता रहा। यह प्रथा सम्भवतः इसलिए जारी रखी गयी कि अनियमित उत्तराधिकार होने पर भी साधारण मुसलिम जनता का विरोध खलीफा की मान्यता के कारण बन्द किया जा सके। अनियमित उत्तराधिकार को नियमित इस ढंग से बना लिया जाय। मुसलिम सूबेदार अथवा सिपहसालार खलीफा की मान्यता के कारण बादशाह के खिलाफ आवाज न उठा सके।

सुलतान अलाउद्दीन खिलजी मुहम्मदशाह प्रथम (सन् १२९५-१३१५ ई०) के समय समाचार फैला, खलीफा का वजूद ही नहीं है। अल्लाउद्दीन खिलजी अपने चाचा जलालुद्दीन खिलजी की हत्या कर गद्दी पर बैठा था। उसने अपने सिक्के पर खुदवाया—यमी तुल-खिलाफत-नासिर अमीरुल-मूमनिन। मुसलिम जनता के लिए उन दिनों यह भुलावा पर्याप्त था। अलाउद्दीन खिलजी खलीफा का दाहिना हाथ था। जनता उसके गुनाहों तथा कारनामों को धर्म के नाम पर भूल गयी। अमीर खुसरो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि ने अलाउद्दीन खिलजी को अपने समय का खलीफा कहा है।

अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह (१३१८-१३२० ई०) ने अपने सिक्के पर अपने नाम के साथ इमाम तथा खलीफा खुदवा दिया। उसने स्वयं अपने को इमाम तथा खलीफा दोनों मान लिया।

सन् १३२५ ई० में दिल्ली के तुर्क सुलतान मुहम्मद इब्न तुगलक ने कैरो के खलीफा से मान्यता माँगी। दिल्ली से कैरो तीन हजार मील दूर होगा। अपने पिता की हत्या करवाकर वह तख्त पर बैठ गया था। दौलताबाद में राजधानी बनाने का प्रयास किया। दिल्ली उजड़ गयी। उससे लोग नाराज थे। दूर की कौड़ी लाया। पता लगाया। कैरो में अब्बासी खलीफा थे। उमने तुरन्त लिखा-पढ़ी की। खिलअत तथा मान्यता प्राप्त कर ली। खलीफा मुस्तकफी ने उसे दिल्ली का सुलतान मान लिया। तुगलक ने अपने नाम के साथ खलीफा का नाम जोड़ दिया। खुतबा उसके तथा कैरो के खलीफा के नाम के साथ भारतीय मसजिदों में पढ़ा जाने लगा। सिक्कों पर खलीफा का नाम भी अंकित करवा दिया गया। खलीफा सन् १३४० ई० में मर गया। फिर भी मरने के पश्चात् सन् १३४३ ई० तक बादशाह के नाम के साथ खलीफा के नाम का खुतबा पढ़ा जाता रहा।

फिरोजशाह तुगलक की माँ हिन्दू थी। पूर्ण मुसलमान न होने पर शायद सनातनी मुसलमान विरोध करें, अतएव खलीफा से बादशाह की मान्यता प्राप्त कर ली। उसने अपने संस्मरण में लिखा है—भगवान् की असीम दया से मैंने अपना जो सबसे बड़ा सम्मान खलीफा के आदेश पालन, मित्रता तथा सेवा के कारण पाया है, वह यह है कि, पैगम्बर मुहम्मद साहब के प्रतिनिधि ने मेरे अधिकार को स्वीकार कर लिया है। मुझे खलीफा ने डिप्टी के रूप में, ईमानवालों के नेता के रूप में, सैयद उस्सलातीन का खिताब दिया है।

हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाहों के इन कार्यों ने शाहरुख का मान बढ़ा दिया। उसने कालीकट के राजा को लिखा। उसे खलीफा मानकर उसके नाम का खुतबा पढ़ने और पढ़वाने का आदेश दिया। राजा ने आदेश नहीं माना। दिल्ली का सय्यदवंशीय बादशाह खिज़्खाँ (सन् १४१४-१४२१ ई०) था। शाहरुख ने उसे पत्र लिखा। उसके नाम का खुतबा हिन्दुस्तान में पढ़वाया जाय। उसके पिता ने तैमूरलंग के नाम का खुतबा हिन्दुस्तान में पढ़वाया था। उसने खुतबे का एक मसविदा भी भेजा था।

उस समय मुसलिम जगत् में कोई बादशाह शक्तिशाली होते ही खलीफा, इमाम तथा अमीरुल मोमनीन का खिताब धारण कर लेता था। चाहता था कि उसे इस रूप में स्वीकार किया जाय। खुतबा में इन पदवियों के साथ नाम पढ़ने का वही अर्थ था।

मंगोल शक्ति का उदय लगभग इसी समय होने लगा। सन् १२५८ ई० में हलाकू की सेना ने बगदाद पर अधिकार कर लिया। खलीफा मुत्तसिम कत्ल कर दिया गया। मुसलिम जगत् दो-तीन वर्षों तक बिना खलीफा के ही रहा। सलादीन का वंश अयूबी वंश कहा जाता था। उसके उत्तराधिकारी अच्छे शासक नहीं हुए। सत्ता ममलुक तुर्की गुलामों के हाथों में चली गयी। उन्होंने नाबालिग सुलतान ऐबक (सन् १२५०-१२५७ ई०) को तथा कुतुज (सन् १२५७-१२५९ ई०) को सुलतान बनाकर शासन करना आरम्भ किया। नाम के लिए भी सुलतान का होना ममलूक को खलने लगा।

इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए ममलूक शासक बाबर (सन् १२६०-१२७७ ई०) ने एक युक्ति निकाली। अब्बासी खलीफा के एक वंशज को, जो मंगोलों के हत्याकांड मे बच गया था, मिस्र की राजधानी कैरो बुलाया। जून सन् १२६१ ई० में वह बड़े उत्साह तथा स्वागत के साथ कैरो में सम्मानित किया गया। मुस्तन्सिर का खिताब धारण कर खलीफा बना। कैरो के काजी ने बाकायदा उसे खलीफा घोषित किया। उसने बाबर को सुलतान स्वीकार करते हुए बहुत लम्बा-चौड़ा घोषणा-पत्र पढ़ा। वह ऐतिहासिक पत्र है।

राजशास्त्र की दृष्टि से घोषणापत्र महत्त्व रखता है। तत्कालीन मुसलिम विचार-प्रवाह का प्रतीक है। अन्य बातों के साथ खलीफा ने यह भी घोषित किया—एक बात का यहाँ जिक्र कर देना जरूरी है। अल्लाह का हुक्म है कि जेहाद किया जाय। इसकी जिम्मेदारी सारी मुसलिम जनता पर है। इस तरह के उत्तम कामों से इतिहास के पन्ने जाज्वल्यमान हैं। अल्लाह ने उनके लिए यथेष्ट सम्मान रखा है, जो जेहाद में लड़ते हैं। भाग लेते हैं। उनके लिए अपने यहाँ अलग स्थान सुरक्षित रखा है। बिहिश्त में अलग जगह नियत कर दी गयी है। अल्लाह ने इसलाम की रक्षा विधर्मियों से करने का भार तुम्हें दिया है। तुम्हारे दृढ़ संकल्प से उसने मुसलमानों के लिए राज्य में उत्तम अनुशासन स्थापित किया है। और तलवारों ने इमान न लाने-वालों के दिलों पर सांघातिक प्रहार किया है।

कुछ समय पश्चात् अब्बासी वंश का दूसरा व्यक्ति अबुल अब्बास अहमद कैरो आया। वह हाकिम नाम से खलीफा बना दिया गया। नवम्बर सन १२६२ ई० में शुक्रवार की नमाज के बाद उसने खुतबा पढ़ा—लोगो! यह समझ लो कि इमामत इसलाम का एक दायित्व है। जेहाद हर मुसल-

मान का फर्ज है । जेहाद का स्तर उस समय तक ऊँचा नहीं होगा जब तक मुसलिम संघटित न होंगे ।

कैरो में खिलाफत लगभग ढाई शताब्दी तक कायम रहा । अब्बासी वंश के १३ खलीफा हुए थे । इनका अधिकार अत्यन्त सीमित था । मक्का में इनके नामों का खुतबा भी नहीं पढ़ा जाता था । सन् १४१२ ई० में खलीफा मुस्तैन एक राजनीतिक दल द्वारा मिस्र का सुलतान चुना गया । उसे केवल छः मास के पश्चात् सुल्तान पद त्याग देना पड़ा । जिसने उसे सुलतान बनाया था वह स्वयं अलमालिक अलमुय्यद नाम से सुलतान बन गया । सन् १४१२-१४३८ ई० तक खलीफा ममलूक उसकी सेना में पार्षद् के रूप में शामिल होना दिखाई देता है । सन् १२५८ ई० के पश्चात् किसी खलीफा ने काबा में नमाज नहीं पढ़ाया । खलीफा अपने पूर्व खलीफाओं तुल्य सुलतान की कठपुतली मात्र बना रहा ।

ममलूक सुलतानों के अतिरिक्त, विश्व के अन्य मुसलिम सुलतान खलीफा की मान्यता अपने सुविधानुसार प्राप्त कर लिया करते थे । मुजफ्फरी वंश के हाथों में फारस का राज्य सन् १३१३ से सन् १३९३ ई० तक रहा । मुवारिज उद्दीन मुहम्मद इब्न मुजफ्फर ने मंगोल राजा इल्खान की अधीनता स्वीकार कर ली । उसने सन् १३५४ ई० में खलीफा मत्तादिद खेल्लाही के प्रति निष्ठा की शपथ ली । सन् १३५७ ई० में जब उसने तरवेज लिया तो खुतबा में खलीफा का नाम भी शामिल करा दिया गया । सन् १३५७ ई० में गद्दी से उतार कर अन्धा कर दिया गया । उसके पुत्र शाह सुजा (सन् १३५७-१३८५ ई०) ने खलीफा मुतवक्किल की मान्यता को सन् १३६९ ई० में प्राप्त कर लिया था ।

चंगेज खाँ मुसलमान नहीं था । उसका पुत्र हलाकू मुसलमान नहीं था । हलाकू ने बगदाद विजय की थी । उसपर राज्य स्थापित किया । घजान खां उसका प्रपौत्र था । उसका लालन-पालन एक बौद्ध के तुल्य हुआ था । वह बौद्ध था ।

तुर्क तथा मंगोल जो भी ईरान तथा भारत में आये सब मुसलमान नहीं थे । उन्होंने इसलाम मजबूरन स्वीकार कर लिया । शादी-विवाह तथा सामाजिक जीवन के लिए कोई समाज होना आवश्यक है । ईरान में कोई मुसलमान अपनी लड़की विधर्मी को देने के लिए तैयार नहीं था । भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपनी लड़कियाँ बाबर के गैर मुसलिम मंगोल और तुर्क सैनिकों को देने के लिए तैयार नहीं थे ।

हिन्दू जानते भी न थे कि बाबर की सेना के अनेक सैनिक वास्तव में बौद्ध हिन्दू थे। यदि भारतीय बौद्ध जगत् तथा धर्म से सम्बन्ध रखे होते तो भारत का इतिहास ही दूसरा होता। जहाँ भी मंगोल गये वहाँ उन्हें मुसलमान धर्म ब्याह-शादी और सामाजिक जीवन निर्वाह करने के लिए स्वीकार करना पड़ा। जनता में मुसलमान प्रभावशाली थे। मुसलमान मंगोल का शासन तलवार के जोर से कब तक बर्दाश्त कर सकते ? अतएव सामूहिक रूप से मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया गया।

राजा घजान खाँ भी बौद्ध से मुसलमान हो गया। प्रायः देखा गया है कि नव मुसलिम खान्दानी मुसलमानों की अपेक्षा अधिक कट्टर होते हैं। उन पर धर्म फैलाने का भूत सवार हो जाता है। वे अपना धर्म त्याग कर दूसरा धर्म स्वीकार करते है। अतएव वे चाहते हैं कि सभी उनके जैसे हो जायँ। भारत में नव मुसलिम शासक तथा अर्ध मुसलिम बादशाह अधिक कट्टर साबित हुए है। फिरोजशाह तुगलक, मलिक काफूर, काला पहाड़, महावत खाँ, शाहजहाँ, औरंगजेब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

घजान खाँ (सन् १२९५-१७०५ ई०) ने केवल मुसलमान बनकर ही सन्तोष नहीं किया। उसने इसलाम को राजधर्म घोषित कर दिया। अब तक किसी मुसलिम शासक ने सल्तनत किंवा राज्य का राजधर्म इसलाम नहीं घोषित किया था। उसका यह कार्य लौकिकता, जिसके लिए बुद्ध धर्म अपना विशेष स्थान जगत् में रखता था, त्याग करना था। बुद्ध धर्म ईश्वरवादी नहीं है। मुसलिम धर्म कट्टर और पूर्ण ईश्वरवादी है। घजान खाँ बौद्ध-धर्म जानता था। उसी की शिक्षा पायी थी। उसकी कमजोरी और गुण भी जानता था। अतएव उसने विधर्म के नाश निमित्त जो भी कार्य उचित समझा जा सकता था, किया।

उसने एक प्रकार से देवाधिराजतन्त्र की ओर कदम बढ़ाया। वह इतना शक्तिशाली था कि स्वयं खलीफा बन सकता था। वह चाहता तो बौद्ध जगत् की सहायता से इतिहास का रूप बदल देता। उसने खलीफा से अपनी मान्यता की आकांक्षा नही की। पूछने पर कहा—मेरी तो सात पीढ़ियों को लोग जानते हैं। उनके कारनामे उत्तम हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं। वर्तमान खलीफा के दादा का नाम भी कोई नहीं जानता। उसने खुतबा केवल अपने नाम का पढ़वाना आरंभ करवा दिया। खलीफा के नाम का खुतवा पढ़ा जाना बन्द कर दिया गया।

उन दिनों खलीफा की मान्यता प्राप्त करना इतना आसान हो गया था कि शक्तिशाली निरंकुश राजा उसके प्राप्त करने का प्रयास भी नहीं करते थे। उन्हें खलीफा के नैतिक समर्थन की भी आवश्यकता नहीं रह गयी थी। यदि खलीफा शक्ति दे सकता था तो उसे वापस भी ले सकता था। इस उलझन में मुसलिम बादशाह नहीं पड़े। यही प्रवृत्ति यूरोप में भी फैली। पोप की मान्यता का प्रभाव भी इस काल में कम हो चला था।

तैमूर लंग का प्रपौत्र खलील सुलतान सिंहासन पर बैठा। उससे पूछा गया—किस अधिकार से उसने उत्तराधिकार प्राप्त किया है? उसने उत्तर दिया—जिस खुदा ने तैमूर को राज्य तथा राजधानी दिया है, उसने मुझे तख्त भी दिया है। उसके पश्चात् उसका चाचा शाहरुख तख्त पर बैठा। उससे भी यही प्रश्न किया गया। उसने उत्तर दिया—"केवल ईश्वर अमर है। उसी की कुल सल्तनत है। अपनी इच्छानुसार वह बादशाहत लेता और देता है।"

इस विषय पर कुरान का उद्धरण सहायक होगा—"हे परमेश्वर, राजों के राजा! तुम उन्हें राज्य देते हो जिसे चाहते हो। अपनी मर्जी मुताबिक चाहे जब उसे वापस ले लेते हो।" सन् १४१६ ई० में ये करा युसुफ ने शाहरुख के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है—शाहरुख बहादुर गुगानी भगवान् उसके खिलाफत का दिन बढ़ाये। दूसरा लेखक हमजा बेग (सन् १४०६-१४४४ ई०) ने शाहरुख को पृथ्वी पर भगवान् की छाया है—इन शब्दों में प्रयोग किया है। शाहरुख अपने को खलीफा कहता था। उसने सुलतान मुराद द्वितीय को सन् १४१६ तथा १४३५ ई० में मिस्र के ममलूक सुलतान को अपने नाम का खुतबा पढ़वाने के लिए लिखा।

तुर्क राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया मुहम्मद द्वितीय ने बनवाया था। लगभग आठ शताब्दियों तक मुसलमानों ने इस पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु असफल होते रहे। सन् १४८७ ई० में मुहम्मद के नाम के साथ लिखा गया—भगवान् मुहम्मद का राज्य तथा खिलाफत समस्त विश्व में स्थापित करे। सुलतान सलीम प्रथम (सन् १५१२-१५२० ई०) के शासन काल के पश्चात् उत्तराधिकार-स्वरूप खलीफा की पदवी आनेवाले बादशाहों को स्वतः प्राप्त हो गयी। शाह सलीम ने फारसी फौज को सन् १५१४ ई० में चाल दिहान में पराजित किया। कुस्तुनतुनिया पर भी आक्रमण कर ले लिया। शाह इस्माइल की बढ़ती शक्ति को रोक दिया।

मई सन् १५१६ में सुलतान कनशरधुरी के नेतृत्व में मिस्र की फौज निकली। उसके साथ अब्बासी खलीफा तथा चार काजी थे। इस सेना को सलीम ने अलेप्पो के पास मर्ज दाविक में अगस्त मास में पराजित कर दिया। सलीम ने अलेप्पो पर अधिकार कर लिया। कैरो का अब्बासी खलीफा गिरफ्तार हो गया। अलेप्पो के बाहर फौज ने घेरा डाला था। खलीफा को बाध्य किया गया। वह सुलतान से भी नीचा पद स्वीकार करे। सितम्बर मास में सलीम ने दमिश्क में प्रवेश किया। कैरो का अब्बासी खलीफा दो दिन पश्चात् वहाँ पहुँचा। अक्तूबर में मिस्र का सुलतान तुमान बेग बनाया गया। दिसम्बर में सलीम ने मिस्र के लिए प्रस्थान किया। गाजा के समीप मिस्र की फौज, १९ दिसम्बर को हार गयी। तुमान की मुख्य मिस्री फौज जनवरी २२, सन् १५१७ ई० को कैरो के समीप रिदानिया में फिर हार गयी। कैरो की मसजिद में सलीम के नाम का खुतबा पढ़ा गया।

तुमान बेग दूसरे दिन कैरो नगर में घुस आया। सड़कों पर तीन दिन तक लड़ाइयाँ होती रहीं। शुक्रवार को खुतबा तुमान बेग के नाम का पढ़ा गया। किन्तु उसी दिन सलीम ने ममलूक को शहर छोड़कर भागने पर मजबूर किया। तुमान मिस्र के दक्षिण भाग गया। उसने पुनः एक सेना संघटित की। पिरामिडों के पास युद्ध हुआ। मार्च के अन्तिम सप्ताह में वह पुनः पराजित हो गया। धोखा देकर कैद कर लिया गया। कुछ समय पश्चात् अप्रैल मास में उसका वध करवा दिया गया।

अब्बासी खलीफा मुतवाकिल था। सलीम ने जून में उसे कुस्तुनतुनिया निर्वासित कर दिया। एक किले में सन् १५२० ई० अर्थात् जब तक सलीम मरा नहीं वह कैद रहा। गुजरात के मुजफ्फरशाह द्वितीय ने अब्बासी खलीफा से अपनी मान्यता के लिए लिखा-पढ़ी की थी। उसने खलीफा के साथ सुलतान शब्द का प्रयोग किया था।

सुलेमान के शासनकाल सन् १५२३ ई० में खलीफा कैरो लौट आया। अपनी खिलाफत का पुराना ढर्रा फिर चलाया। सन् १५४३ ई० तक वह जीवित रहा। सुलेमान की मृत्यु पर कैरो के मुफ्ती अबू सऊद ने मैय्यत की नमाज पढ़ायी। नमाज में सुलेमान को अल्लाह का खलीफा कहा गया। उसके पुत्र सलीम (१५६९-१५७४ ई०) को भी खलीफा की संज्ञा दी गयी।

तुर्की सम्राटों के पश्चात् विश्व में मुगल बादशाह मुसलिम जगत् में सबसे अधिक शक्तिशाली हुए हैं। अकबर के पश्चात् मुगल काल में राजधानी के

लिए दारुल खिलाफत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। तुर्क अथवा खलीफाओं की मान्यता की मुगल सम्राटों ने कभी अपेक्षा नहीं की।

सन् १५५७ ई० में सुलतान सुलेमान तथा अकबर जिसकी आयु उस समय केवल १४ वर्ष की थी, के बीच खत-किताबत शुरू हुई। अकबर को सुलेमान के बराबर का ओहदा लिखा-पढ़ी में दिया गया है। हिन्द तथा सिन्ध देश का सुलतान तथा खिलाफत का तख्त माना गया है। सुलतान इब्राहीम को सन् १६४० ई० में शाहजहाँ की ओर से एक पत्र भेजा गया था। बड़े वजीर मुस्तफा पाशा के नाम सम्बोधित था। उसमें मुगल बादशाह को खिलाफत के विश्व का खांकान, सारी दुनिया के सुलतानों का शाहंशाह सम्बोधित किया गया है। शाह आलम द्वितीय (१७५९-१८०६ ई०) के जीवनी-लेखकों ने उसे खलीफा तथा खुदा की छाया कहकर सम्बोधित किया है।

अठारहवी शताब्दी में कुचुक कैनराजे की सन्धि सन् १७७४ ई० में सुलतान अब्दुल हमीद प्रथम तथा केथेराइन द्वितीय रूस के मध्य हुई। उसमें सुलतान को ईमान लानेवालों का इमाम तथा ईश्वर की एकता में विश्वास करनेवालों का खलीफा कहा गया है। इस सन्धि के कारण तातार, क्रीमिया, कुवन तुर्की साम्राज्य से निकल गये। तुर्की के सुलतान अब्दुल अजीज की ४ जून सन् १८७६ को हत्या कर दी गयी।

तुर्क सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय (सन् १८७६ ई०) के समय संविधान बना। वह १४ दिसम्बर सन् १८७६ ई० को घोषित किया गया। धारा तीन में उसे इसलाम का खलीफा सम्बोधित किया गया है। धारा चार में लिखा गया है—महामहिम सुलतान खलीफा की हैसियत से मुसलिम धर्म के संरक्षक है।

सन् १८७७ ई० में जर्मनी और रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सन् १८७८ ई० में कुस्तुनतुनिया के प्राकार के बाहर रूस की सेना पहुँच गयी। घेरा डाला गया। बर्लिन की सन्धि हुई। उसमें बोसनिया तथा हरगोविना, आस्ट्रिया को दे दिया गया। रूमानिया, सरविया, मोण्टीनिग्रो को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी। मुसलिम जगत् को इस सन्धि से गहरा धक्का लगा। मुसलिम साम्राज्य की संघटित शक्ति प्रायः समाप्त हो गयी। अब्दुल हमीद ने सन् १८७६ के संविधान को मुल्तवी कर दिया। तुर्की में राष्ट्रवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ। जुलाई सन् १९०२ ई० में पुनः संविधान लागू किया गया। लगभग ८०,००० कुस्तुनतुनिया के नागरिक जो निर्वासित कर

दिये गये थे पुनः वापस बुलाये गये। सन् १९०८ ई० की तुर्की क्रान्ति के कारण अब्दुल हमीद द्वितीय को सिंहासन त्यागना पड़ा।

इसी समय सैयद जलालुद्दीन (सन् १८३९-१८९६ ई०) ने विश्व मुसलिम संघटन की बात उठायी। उसने इसलामी साम्राज्य के पुनरुत्थान की कल्पना खलीफा के संरक्षण में की।

पहली नवम्बर सन् १९२२ ई० को तुर्की की ग्राण्ड नेशनल कौंसिल ने निश्चय किया। खलीफा पद तोड़ दिया जाय। तुर्क लोकतंत्र हो गया। सुलतान मुहम्मद षष्ठ बाहिद उद्दीन तख्त से उतार दिये गये। उसका भतीजा अतुलमजीद विश्व के समस्त मुसलमानों का खलीफा चुना गया। खिलाफत सन् १९२४ ई० में पूर्णतया समाप्त कर दी गयी। मार्च में खलीफा पदवीधारी महानुभाव तुर्की से निर्वासित कर दिये गये।

खलीफा शब्द अत्यन्त साधारण रूप से प्रयुक्त होने लगा था। जकार्ता का सुलतान अपने को अल्लाह का खलीफा कहता था। वहाँ के छोटे सरकार कुत्ती तथा पसिर भी खलीफा बन गये। खिलाफतुल मोमनीन की भी पदवी धारण कर ली। मलक्का द्वीपसमूह का सरदार खिलफतुल मुअज्जम कहा जाने लगा। अब वहाँ शायद खिलफतुल महफूज शब्द का प्रयोग किया जाता है। भारत में तो खलीफा शब्द इतना प्रचलित हो गया कि अखाड़ों के उस्तादों, दर्जियों आदि तक को खलीफा कहने लगे।

यूरोप के राष्ट्रीयता के प्रभाव के साथ मुसलिम देशों में लौकिकता की भावना ने जोर मारा। उन्होंने समझ लिया कि विश्व की गति के साथ चलने में कल्याण है। खलीफा के नेतृत्व में तथा विश्व में मुसलिम साम्राज्य कायम होना असम्भव है। इस सिद्धान्त ने बल पकड़ लिया। राज्य ही अधिकार का स्रोत है। कोई अलौकिक शक्ति का आश्रय नहीं लिया जा सकता।

कहा जाता है कि प्रथम चार खलीफाओं के पश्चात् खिलाफत समाप्त हो गयी। उम्मैया वंश ने लौकिक राज्य बनाने की कोशिश की थी। नसफी ने स्वीकार किया है कि लौकिक तथा पारलौकिक अधिकारों का विभाजन मुसलिम परम्परा से मेल खाता है। मुहम्मद साहब ने स्वयं कहा था कि उनके दिवंगत होने के तीस वर्ष पश्चात् खिलाफत समाप्त हो जायगी।

सनातनी मुसलमान आधुनिक जगत् की प्रवृत्ति तथा उसका प्रभाव मानने के लिए तैयार नहीं थे। मई सन् १९२६ ई० में कैरो में एक खिलाफत सम्मेलन

हुआ। प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि मुसलिम जगत् के लिए एक खलीफा होना आवश्यक है। परन्तु गाड़ी आगे नही बढ़ी। सन् १९२६ ई० में मक्का तथा सन् १९३१ ई० में यरूसलम में सम्मेलन हुए। खिलाफत पर इन सम्मेलनों में विशेष चर्चा न हुई।

प्रश्न उपस्थित हुआ। इसलामी राज्यों का लौकिक राज्यकरण किस प्रकार किया जाय? शेख अली अब्द अल रजाक ने सन् १९२५ ई० में अल इसलाम ब वसूल अल हुक्म एक पुस्तक लिखी। वे अलअजहर विश्वविद्यालय कैरो के उलमा तथा शरीअह अदालत के जज थे। उन्होंने लौकिक राज्य का समर्थन किया। उनका कहना है कि पैगम्बर साहब ने इसलाम की राजनीतिक संस्था के रूप में कल्पना नही की थी। यद्यपि उन्होंने स्वयं सैनिक तथा राजनीतिक संस्थाओं को सम्हाला था। खिलाफत की कोई मान्यता, कुरान, हदीस अथवा इजमा में नहीं है।

कमाल पाशा को इस प्रकार के विचारों के कारण आधुनिक सुधार करने मे बहुत सहायता मिली। अमीर अमानुल्ला ने अफगानिस्तान में सुधारों के कारण राज्य खो दिये। सनातनी मुसलमानों ने लौकिक विचारधारा का घोर विरोध किया। लेखक राजिक का नाम मिस्र की उलमाओं की फिहरिस्त से निकाल दिया गया।

दूसरे लेखक डा० सनहूरी मिस्री है। उन्होंने राजिक के सिद्धान्तों का पूर्ण समर्थन नहीं किया। फिर भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए मुसलिम कानूनों का विकास किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लौकिक विचारों को स्वीकार करने के लिए जोर दिया।

आधुनिक मुसलिम राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सदस्य हैं। उनके बनाये कानूनों को मानने हैं। अमल करते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से सन्धि मुसलिम शरह के मुताबिक नहीं बल्कि लौकिक कार्यों के निपटाने, करने अथवा कराने के लिए करते हैं। यह साबित करना है कि दारुल इसलाम और दारुल हरब का भेद परिस्थितियों ने स्वतः मिटा दिया है। मुसलिम राष्ट्रों की आत्मा पारलौकिक है। परन्तु जगत् की परिस्थितियों के कारण उसे लौकिक साँचे में कसना पड़ रहा है। पाकिस्तान को छोड़कर कोई मुसलिम राष्ट्र आज जिहाद की कल्पना नहीं करता।

धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भावनाएँ अब भी "पान इस्लामिक", "अरब एकता" आदि अनेक लुभावने नारों के कारण समय-समय पर उभड़ती रहती

है। सन् १९४७ ई० में पाकिस्तान बन जाने के पश्चात् झुकाव एक बार पुनः साम्प्रदायिकता की ओर हुआ है। कुछ लोगों ने सोचा कि भारत को खंडित कर मुसलिम राष्ट्रों की जमायत में एक और राष्ट्र आकर मिल गया है।

पाकिस्तान, सीरिया, इराक, मिस्र, मलाया आदि के संविधान लोकतंत्रीय कहे गये हैं। इसलामी राज्य स्वीकार करने में उन्होंने किंचित् मात्र भी संकोच नहीं किया है। मलाया में मुसलमानों की जनसंख्या ५२ प्रतिशत से अधिक नहीं होगी फिर भी उसे इसलामी राज्य घोषित किया गया है। तुर्की ने भी जो बहुत से रोक धार्मिक तथा साम्प्रदायिक मामलों के सम्बन्ध में लगाये थे उन्हें ढीला कर दिया है। वहाँ भी धार्मिक पुनरुत्थान के चिह्न नजर आने लगे है। मुसलिम ब्लाक, मुसलिम एकता के नारों से समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहते है। उनमें पाकिस्तान सबसे प्रमुख भाग लेता है।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि मुसलिम जगत् में एक नवीन चेतना आ गयी है। मुसलिम क्षेत्र, मुसलिम ब्लाक, मुसलिम एकता की बुनियाद पर कार्य मुसलिम जनता को अधिक प्रिय लगते है। जनता अभी पठित नहीं है। उन्हें विश्व का ज्ञान कम है। मुसलिम हित की बात आती है। वह उत्सुक हो जाती है। कुछ करना चाहती है। मुसलिम राष्ट्र मिल जाते हैं। यह प्रवृत्ति एकता की दृष्टि से अच्छी है। लौकिक दृष्टियों से समर्थनीय न होगी। आज भी मुसलिम जगत् का एक बड़ा जनसमुदाय इसलामिक राज्य की कल्पना करता है। समझता है कि विश्व मुसलिम राज्य में उन्हें सुख तथा समृद्धि का अधिक अवसर मिलेगा। आवश्यकता इस बात की है कि, मुसलिम जगत् को आधुनिक दृष्टिकोण समझाया जाय।

जिहाद-क्रुसेड-धर्मविजय

जिहाद धार्मिक संघर्ष है। क्रुसेड धर्मस्थान की रक्षा निमित्त रक्षणात्मक युद्ध था। धर्मयुद्ध का अर्थ न्याय के लिए महाभारत के समान युद्ध करना है। तीनों युद्धों में अन्तर है। क्रुसेड तथा जिहाद मे अन्तर है। जिहाद विधर्मियो के खिलाफ किया जाता है। उन्हें हममजहब बनाने के लिए होता है। कुफ का दंड देने अथवा कुफ्र से बचाने के लिए किया जाता है। विधर्मियों का अस्तित्व चाहे वह राजनीतिक हो अथवा धार्मिक, समाप्त करना उद्देश्य होता है। इस्लाम के प्रचार, धर्म तथा राज्य स्थापित करने के लिए, जिहाद किया जाता है। भूतकालों में किया गया है।

जिहाद मुसलिम धार्मिक संस्कार एवं क्रिया का एक अंग है। हर मुसलमान के लिए फर्ज है। हदीस कहती है, जिहाद धर्म का शिखर है।

बाइबिल में क्रुसेड शब्द ईसा के मुख से नहीं निकला है। उसके पीछे कोई धार्मिक मान्यता अथवा सिद्धान्त नहीं है। वह पवित्र स्थानों के मुक्ति निमित्त सशस्त्र आन्दोलन था।

धर्मविजय का सम्बन्ध धार्मिक युद्ध अथवा धार्मिक संघर्षो से नही था। इस प्रकार का युद्ध विधर्मियों नही अपितु हिन्दुओं के बीच परस्पर अन्याय के प्रतिकार निमित्त किया गया है। हिन्दू विधर्मियों से किसी सैद्धान्तिक मतभेद के कारण लड़ना जानते ही नहीं थे। धर्म-परिवर्तन से वे दूर थे। हिन्दू धर्म मिशनरी किंवा प्रवर्तक धर्म नहीं था। अतएव तलवार उठाकर विधर्मियों को हिन्दू धर्म में लेने का प्रश्न उठता ही नहीं था। क्रुसेड तथा धर्मयुद्ध कोई धार्मिक क्रिया का अंग अथवा कर्तव्य नहीं है। उसको करना, मानना, न मानना, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर था।

जिहाद शब्द जुह्द से निकला है। इसका अर्थ उद्योग, क्लेश सहनादि है। अपनी शक्ति का उपयोग अल्लाह के लिए करना है। उसके लिए क्लेश उठाना है। उसके लिए परिश्रम करना है। अल्लाह के सन्देश को काफिरों तक पहुँचाना है। उन्हें कुफ्र से बचाकर इसलाम में अल्लाह की राह पर लाना है। विश्व में अल्लाह के आदेश को, उसकी बात को

श्रेष्ठता दिलाना है। इस क्लेश, इस परिश्रम का पारिश्रमिक मिलेगा। अल्लाह अपने काम का खुद पारिश्रमिक देगा। उसका पारिश्रमिक जिहादियों को स्वर्ग में स्थान देकर देता है। वहाँ उन्हें कुरान वर्णित अनेक प्रकार के सुखों का भोग प्राप्त होगा।

कुरान में कहा गया है—"ओ! विश्वास करनेवाले लोगो! क्या मैं तुम्हें वह मार्ग बताऊँ जिसमें दुखपूर्ण दण्ड प्राप्त न हो सकेगा? अल्लाह और उसके रसूल में विश्वास करो। अल्लाह की राह में जिहाद अपने शरीर तथा सम्पत्ति से करो।" कुरान शरीफ में कहा गया है—क्या तुम्हें मालूम है? वह तुम्हारे गुनाहों को क्षमा कर देगा। वह तुम्हें उस बाग में रखेगा, जहाँ नदियाँ बहती है। स्वर्ग के उद्यानों के सुन्दर भवनों में तुम्हे स्थान देगा। यह महान् लाभ है।

प्राचीन रोमन प्रथा में एक प्रकार के जेहाद की व्यवस्था थी। उसे न्याय-युद्ध कहा जाता था। उसके लिए वेल्लम जस्टुम शब्द का प्रयोग किया गया है। देवताओं का आदेश माना जाता था। रोमन वक्ता सिसरो ने न्याय-युद्ध की बात कही है। किन्तु यह बात विधर्मियों के विरुद्ध नहीं कही गयी है। वह भारतीय धर्मयुद्ध तुल्य व्यवस्था थी।

सन्त अगस्ताइन तथा ईसा डोर डी० सेविले ने इसलामी जिहाद के ढंग की बात ईसाई प्रचारादि के सम्बन्ध मे कही है। महाभारत तथा अश्वमेध आदि युद्धों का स्थान धर्मयुद्ध में आता था। रोम के न्यायिक युद्ध का आदर्श विदेशियों अथवा विधर्मियों को ताड़ित अथवा उन्हें शस्त्र के बल पर धर्म में सम्मिलित तथा संहार करना नहीं था। सिसरो के न्यायिक युद्ध का अर्थ किसी न्यायप्रयोजन निमित्त युद्ध करना माना था। आधुनिक युग में अब्राहम लिंकन का गृहयुद्ध नीग्रो जाति की स्वतन्त्रता के लिए किया जाना इस श्रेणी में आता है। हिन्दुओं तथा रोम का न्याययुद्ध अथवा धर्मयुद्ध समाज में होते अन्याय को रोकना था। वह एक जाति तथा एक देश तक सीमित था। जिहाद का सिद्धान्त सर्वथा इसके विरुद्ध था। जिहाद तथा क्रुसेड का रूप अन्तर्राष्ट्रीय था।

इसलामी कानून के अनुसार इस दुनिया में मुसलमान और शिर्क (बहुदेव-वादी) एक साथ नहीं रह सकते। पाकिस्तानी राजनीतिक कहते हैं—गाय खानेवाले और गाय की पूजा करनेवालों में कैसे मित्रता हो सकती है? इमाम और प्रत्येक मुसलमान का यह फर्ज है कि अल्लाह के वचनों की

सर्वत्र मान्यता दिलाये। कोई भी काफिर अथवा बुतपरस्त अल्लाह के अस्तित्व को अस्वीकार न कर सके। उसके प्रति अकृतज्ञ न हो सके। ताकि उसे अल्लाह की रहमत या मेहरबानी न मिल सके।

कुरान में कहा गया है—यह जगत् केवल ईमान लानेवालो के लिए सुरक्षित रखा जाय। दूसरे शब्दों में जिहाद बहुदेवपूजावाद के विरुद्ध युद्ध की मान्यता थी। जिहाद की आग उन सभी लोगों को भोगना पड़ेगा जो मुसलमान नही है। मुसलिम धर्म स्वीकार नही करना चाहते है। किताबिया यदि जजिया देना स्वीकार कर ले तो उन्हें जीवित रहने का अधिकार दिया गया था।

जिहाद करना राज्य का कार्य था। प्रत्येक मुसलमान बादशाह तथा खलीफा का फर्ज था। जिहाद चलाना उसमें सक्रिय भाग लेना पावन कृत्य था। मुसलमानों के पाँच फर्जो में से यह भी एक फर्ज है। व्यष्टिवादी फर्ज अमान के साथ ही साथ समष्टिवादी फर्ज अल किफाया था। व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि सामूहिक रूप से करना कर्तव्य था।

कुरान शरीफ मे कहा गया है—उनके विषय मे चिन्ता न करो, जो अल्लाह की राह मे मर गये या मार डाले गये है। वे उसके साथ जीवित है। इसलाम सब प्रकार के युद्धों को बन्द करने के लिए कहता है। केवल जिहाद को वह कानूनी स्वीकृति देता है। यह एक सूझ थी। जिसने कबीले-वालों की दैनिक संघर्षशील प्रवृत्ति को सामूहिक संघर्षशील प्रवृत्ति अर्थात् समष्टिवादी प्रवृत्ति मे लगाकर उसका एक ओर निकास निकाल दिया था। इस विकास के कारण सघर्षशील प्रवृत्ति की, समष्टिवादी प्रगति ने स्वल्प काल में ही इसलाम को तीनों महाद्वीपों मे पहुंचा दिया।

यहूदी और ईसाई भी सेमेटिक धर्म है। उनमें विश्वराज्य की कल्पन नही की गयी है; पैगम्बर साहब ने कुछ नवीन चीजें परिस्थिति के अनुसार जगत् को दी है। साम्राज्यवाद के स्थान पर दैव राज्य का स्वरूप रखा है।

यहूदी धर्म मिशनरी धर्म नही था। उसने राष्ट्रीय ढंग पर धर्म की कल्पना नहीं की। चर्च और राज्य जब एक साथ थे तब भी दोनों का अस्तित्व अलग-अलग कायम रहा। इसलाम ने विश्व राज्य तथा धर्म के द्वैत को एक में मिला दिया।

मुसलिम खारिजी सम्प्रदाय मुस्लियों को जिहाद कल्पना से दो कदम और आगे बढ़ाया। उनके जिहाद का स्वरूप कठोर था। जिहाद में उन्होंने हिसा का आश्रय लिया। उन्होंने धर्मप्रचार तथा शस्त्रहीन संघर्ष को महत्त्व नही दिया है। शिया सम्प्रदाय ने जिहाद करना चाहिए या नहीं इसका भार इमाम पर छोड़ा है। खारिजी सम्प्रदाय पैगम्बर मुहम्मद साहब के इस वचन की मान्यता देते हैं—मेरा भाग्य मेरे बर्छे की छाया के नीचे है।

शैवानी ने किताब अलसपार अल कबीर में जेहाद चार प्रकार का बताया है—अल्लाह ने पैगम्बर को चार प्रकार की तलवारें दी थी। पहली तलवार बहुदेववादियों से लड़ने के लिए दी। इससे मुहम्मद साहब स्वयं लड़े। दूसरी तलवार स्वधर्म त्यागियों (मुर्तदा-अलरिदा) से लड़ने के लिए दी। इस तलवार से खलीफा अबूबक्र ने युद्ध किया। तीसरी तलवार किताबिया लोगों से युद्ध करने के लिए दी। इसका प्रयोग हजरत उमर दूसरे खलीफा ने किया। चौथी तलवार अलबागी अर्थात् विद्रोहियों से लड़ने के लिए दी। इससे हजरत अली चौथे खलीफा ने युद्ध किया।

कुरान शरीफ स्पष्ट आदेश देती है—बहुदेववादियों से जहाँ कही जाओ उनसे युद्ध करो। हदीस में मुहम्मद साहब का वचन उद्धृत किया गया है—मुझे हुक्म मिला है कि मैं बहुदेववादियों से तब तक लड़ूं जब तक वे कह न दें कि, यहाँ अल्लाह को छोड़कर दूसरा ईश्वर नही है।

मुसलिम धर्म स्वीकार कर फिर त्याग देनेवालों के विरुद्ध जिहाद करने की आज्ञा दी गयी है। इसलाम एक बार स्वीकार कर फिर उसे त्यागने का सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। हनीफी मत है कि, इस प्रकार के लोगों की स्त्रियाँ "सबी" हो जाती है। उनका स्थान गुलाम स्त्रियों का होता है वह युद्ध की सम्पत्ति तुल्य प्राप्त की जाय अथवा बेच दी जा सकती है। इसलाम त्याग कर जो पुनः इसलाम न कबूल करे उनकी सजा मौत है। इस प्रकार का जिहाद पैगम्बर साहब की मृत्यु के पश्चात्, हजरत अबूबक्र ने उन कबीलेवालों के खिलाफ किया था, जो इसलाम कबूल कर छोड़ दिये थे। खालिद इब्न अल वलीद ने इन लोगों को जीते जी जला दिया था।

इमाम के आदेशों की अवज्ञा अथवा अवहेलना करनेवाला बागी माना जाता था। उन्हें इमामत मे लाने के लिए युद्ध किया जाता था। हजरत अली के समय खारिजी कबीलेवालों के साथ इस प्रकार का जिहाद किया गया था।

भगोड़े तथा रास्तों पर चोरी वगैरह करनेवालों के विरुद्ध जिहाद की प्रथा थी। मलिक कहता है—इन्हें पकड़ लेने पर दारुल हरब भेज देना चाहिए। खलीफा उमर इब्न अब्दुल अजीज के अनुसार उन्हें दारुल इसलाम में रखकर शहरबदल कर देना चाहिए। आबू हनीफा ने उन्हें कैदखानों मे रखने की व्यवस्था दी है।

किताबिया, अहल अल किताब अर्थात् यहूदी, सबीन और ईसाइयों के खिलाफ जिहाद करने का आदेश दिया गया है। बहुदेववादी तथा किताबिया के विरुद्ध जिहादों की प्रक्रिया में अन्तर है। किताबिया केवल दण्ड के भागी होते थे। इसलाम कबूल न करने पर उनके लिए तीन मार्ग खुले थे—इसलाम कबूल करना, जजिया देना या जिहाद का सामना करना। यदि वे युद्ध करना पसन्द करें, तो उनके साथ वही व्यवहार किया जाय जो बहुदेववादियों के साथ किया जाता है।

रिबत जिहाद नही था। स्पेन मे मुसलिम राज्य काल मे रिबत बहुत हुआ था। रिबत देश की सीमारक्षा के लिए किया जाता है। स्पेन मे सीमारक्षा ने जिहाद का रूप पकड़ लिया था।

मुसलिम राज्य में विदेशी और गैर मुसलिमों के साथ मुसलिमों की अपेक्षा भिन्न व्यवहार करने की व्यवस्था है। उनकी गणना हरबी, अमान और जिम्मियों में होती थी। हरबी दारुल हरब का निवासी समझा जाता था। वह सल्तनत की आज्ञा से कुछ दिन हकूमत में रह सकता था। हरबी अमन लेकर अमान हो सकता था। हरबी इस बात का अहद अर्थात् प्रतिज्ञा करता था कि शान्तिपूर्वक दारुल इसलाम मे निवास करेगा। अमन लेने पर हरबी मुस्तमीन हो जाता था। अपना कुटुम्ब लाकर रह सकता था। फिर भी हेजाज प्रदेश के पवित्र स्थानों मे उसे प्रवेश का अधिकार नही था। जिम्मी की हैसियत प्राप्त करने पर वह बाकायदा दारुल इसलाम में रह सकता था। निवास के एवज में उसे जजिया देना पड़ता था। जिम्मी अपने जाति मे शादी कर सकता था। जाते समय वह अपने बच्चों को साथ ले जा सकता था। मुसलिम धर्म अपनी स्त्रियों को किसी भी गैर मुसलिम से शादी करने की आज्ञा नहीं देता। गैर मुसलिम से मुसलिम स्त्री उसी समय शादी कर सकती थी, यदि वह मुसलमान होकर उससे बाकायदा निकाह कर ले।

गैर मुसलिमों को तिजारत करने के लिए अमन दे दिया जाता था। लगभग २०० दिरहम से अधिक कीमत की वस्तु दारुल इसलाम में बेचने

पर १० प्रतिशत सल्तनत को कर देना पड़ता था। दारुल अहद या दारुल सलह एक तीसरे प्रकार का निष्पक्ष देश था। इन देशों से सुलह थी। उसमें यूथोपिया अर्थात् अबीसीनिया की गणना थी। इसलिए कि मुहम्मद साहब के समय जब मुसलमानों पर अत्याचार हुआ तो लगभग ६० मुसलमानों ने अबीसीनिया में शरण ली थी। उस कृतज्ञता के प्रतिफलस्वरूप उसे दारुल अहद अथवा सुलह की संज्ञा दी गयी थी।

जिम्मी अर्थात् गैर मुसलमानों के लिए मुसलिम देश में विशेष कर देने की प्रथा थी। यदि जिम्मी इसलाम न कबूल करे तो उसे जजिया देना पड़ता था। जिम्मी के पास यदि खेती की भूमि हो तो उसे लगान के स्वरूप खिराज अर्थात् भूमि-कर देना पड़ता था। मुसलिम धर्म न मानने का यह दण्ड था। सन् १८३९ ई० तक तुर्क सुलतान गैर मुसलिम नागरिकों से यह कर लेते रहे। जिसे सम्भवतः सन् १८७७ ई० में कानून बनाकर समाप्त कर दिया गया।

जिम्मी किसी मुसलमान स्त्री से शादी नहीं कर सकता था। शादी यदि करना चाहे तो उसे मुसलमान होना पड़ेगा। जिम्मी का मकान मुसलमान के मकान से ऊँचा न होगा। जिम्मी जोर से आवाज के साथ न तो पूजा कर सकते थे और न बाजा बजा सकते थे। वह किसी मुसलिम की जायदाद का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। यदि उसकी स्त्री मुसलिम धर्म स्वीकार कर ले तो उसे स्वयं मुसलमान होना पड़ेगा। अथवा अपनी स्त्री को तलाक देना होगा। खलीफा अल मन्सूर ने जिम्मियों को नौकरी से अलग कर दिया था। खलीफा अल मुतवक्किल ने उन सभी चर्चों तथा यहूदियों के सेनागाग (पूजास्थान) को गिरा देने का आदेश दिया था जो मुसलिम धर्म आने के बाद बने थे। मुसलिम जगत् में स्वतन्त्रता एक वर्ग की थी। वह लोक की स्वतंत्रता न थी और न वहाँ लौकिक राज कभी रहा।

जिहाद के दो प्रयोजन थे। इसलाम को विश्व धर्म बनाना तथा विश्व में मुसलिम साम्राज्य की स्थापना करना। जिहाद में भाग लेनेवालों को जिहादी कहते है। जिहादियों में जो लोग युद्ध करते थे, उन्हें मुकातिला तथा जो घर रहते थे उन्हें कदा कहते है। दारुल हरब सनातन दुश्मन इसलाम का है। इसकी कल्पना की गयी है। विश्व इस प्रकार के क्षेत्रों अर्थात् इसलामी तथा गैर-इसलामी में बँटा था।

भारत के मुसलमान बादशाह देश को सर्वदा दारुल हरब मानते थे। हिन्दुओं से संघर्ष करते रहना, उन्हें किसी-न-किसी प्रकार दारुल इसलाम

का अंग बना लेना, उनका आदर्श रहा है। इसको किसी ने अधिक किया। किसी ने थोड़ा किया। किसी की परिस्थितियों ने इस दिशा में कुछ न करने के लिए बाध्य कर दिया।

मुसलमानों को नागरिकता का पूर्ण अधिकार इसलामी राज्य में प्राप्त था। अन्य धर्मावलम्बियों को सभी हक नहीं मिलते थे। सिद्धान्ततः दारुल इसलाम सर्वदा दारुल हरब के विरुद्ध संघर्षशील समझा जाता था। इसलाम ने जिहाद के अतिरिक्त अन्य सभी युद्धों को अनियमित माना है। मुझे उर्दू में लिखी बहुत सी ऐतिहासिक पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला है। उनमें भारत के मुसलिम बादशाहों की फौज को हमेशा इसलामी फौज हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ने के समय सम्बोधित किया गया है। जहाँ हिन्दू राजा और मुसलमान बादशाह के बीच युद्ध हुआ है, वहाँ मुसलमानी फौज को इसलामी फौज, इसलामी झण्डा और विजय को इसलाम की विजय कहा गया है।

आर्य धर्म तथा सेमेटिक धर्मों में सबसे बड़ा अन्तर धार्मिक संघर्षों का है। आर्यधर्मीय परम्परा के देशों ने कभी भी धर्मप्रचारार्थ हथियार नहीं उठाया। धर्म के लिए सशस्त्र किसी पर आक्रमण नहीं किया। भारत आर्य धर्मों की जन्म-भूमि रहा है। उसने कभी शस्त्र का आश्रय धर्मप्रचारार्थ नहीं लिया। प्राचीन रोम तथा यूनानी धर्म जो आर्य धर्म तथा जाति की ही शाखा थे अपने साम्राज्य किंवा राज्योन्नति में कभी वह कल्पना भी नहीं किये थे कि शस्त्र किंवा शक्ति अथवा प्रलोभन के आधार पर धर्मप्रचार अथवा विधर्मियों को अपने धर्म में शामिल कर संख्या बढ़ायी जाय। उससे राज्य को बल मिलेगा।

पूर्वीय साम्राज्य की पतनावस्था, सेलजुक तुर्कों का उदय नवीन यूरोपीय परिस्थितियाँ, धर्म के लिए त्याग तथा पवित्र स्थानों की रक्षा के कारण क्रुसेड अर्थात् धर्मयुद्ध आरम्भ हुआ था।

क्रुसेड यूरोपीय फ्यूडलिज्म तथा इटली के नगरों के सामूहिक प्रयासों का फल था। ईसाइयों ने अपने पवित्र तीर्थस्थान यरूशलम आदि की रक्षा के लिए संघर्ष किया था। इसलाम के उदय के पश्चात् ईसाई यात्रियों का तीर्थ-यात्रा मार्ग मुसलमानों के अधिकारों में चला गया था। यात्रियों का जीवन भयप्रद हो गया था। कोई यात्री पवित्र स्थानों की यात्रा कर लौट आयेगा या नहीं, सन्देहप्रद हो गया था। ईसाइयों ने पोप से प्रेरणा प्राप्त की। ईसाई धर्मस्थानों तथा यात्रामार्गों को मुसलमानों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया गया। मुख्यतया सात क्रुसेड हुए थे।

प्रथम क्रुसेड हजरत उमर के समय सन् ६३६ ई० मे होना कहा जाता है। एक ओर रोमन तथा स्त्वेवोनिक तथा दूसरी तरफ अरब और तुर्क मुसलमान थे। यह क्रुसेड कुछ सन्दिग्ध मालूम होता है। वास्तविक क्रुसेड सन् १०९६ ई० में आरम्भ हुआ। उसकी समाप्ति सन् १२९१ ई० में हुई। इसमें सीरिया पर से ईसाइयों के प्रभुत्व का अन्त हो गया। भारतीय केरल प्रदेशीय सीरियन चर्च के ईसाइयों का स्रोतस्थान यही था। सम्भव है पराजय के पश्चात् पारसियों तुल्य उनमें से कुछ ने भारत में शरण ली हो।

क्रुसेड ईसाई जगत् का एक धार्मिक आन्दोलन था। उसका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार किवा विस्तार करना नही बल्कि यात्रियों का मार्ग सुरक्षित करना था। पवित्र तीर्थस्थान यरूशलम को विधर्मियों के अपवित्र करने से बचाना था। ईसाई वीर यात्रीगण यरूशलम बराबर आते रहे। उसे किसी न किसी रूप में मुसलिम सत्ता से बहुत दिनों तक स्वतंत्र रखा।

यूरोप में फ्यूडल शाही ने जन्म लिया। फ्यूडल प्रथा बढ़ने लगी। इस प्रथा में कनिष्ठ पुत्रों के लिए घर में कोई स्थान न होता था। उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता था। कनिष्ठ पुत्रों के लिए घर मे कोई ऐसा आकर्षण न होता था कि वह पैतृक घर-गृहस्थी मे बंधा रह जाय। उसे अपना घर छोड़ना ही पडता था। माता-पिता उनके लिए कोई और प्रबन्ध कर देते थे।

सिसली नारमन तथा यरूशलम मे लैटिन राज्य बन गये। घर से विरत वंशधर प्रायः वहाँ जाकर रहने लगे। क्रुसेड ने व्यापार बढ़ाया। इटली के बन्दरगाहों मे व्यापार जम गया। चारो ओर से जहाज आने लगे। जहाजों ने क्रुसेडवालों को बड़ी सहायता पहुँचायी थी। क्रुसेडवाले प्राय जहाजों से यरूशलम के लिए यात्रा करते थे।

सीरिया के मुसलमानों में पारस्परिक कलह हुआ। बाल्डविन प्रथम तथा द्वितीय ने अवसर से लाभ उठाया। यरूशलम मे (सन् ११००-११३१ ई० के बीच) ईसाई राज्य स्थापित कर लिया।

प्रथम क्रुसेड ठीक तरह से संगठित नही हुआ था। नूरुल दीन (सन् ११४६-११७४ ई०) ने क्रुसेड के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। सलादीन ने मिस्र पर अधिकार कर लिया। क्रुसेडवालों पर मोसल तथा कैरो दोनों ओर से दबाव पड़ने लगा। जुलाई सन् ११८७ ई० में हित्तीन में क्रुसेड सेना पराजित हो गयी। उसी वर्ष अक्तूबर में ईसाई राज्य जरूशलम ने मुसलमानो को आत्म-समर्पण कर दिया।

तीसरा क्रुसेड सलादीन द्वारा हुई क्षतिपूर्ति करने के निमित्त आयोजित किया गया। लेटिन के अधिकार में उस समय उत्तरी सीरिया का नगर एण्टिओच तथा त्रिपोली थे। फ्रेडरिक द्वितीय (सन् १२२७-४४ ई०) ने अपने राजनीतिक प्रवास में कुछ दिनों तक यरूशलम पर अधिकार रखा। किन्तु तेरहवीं शताब्दी में यरूशलम ईसाइयों के अधिकार से फिर निकल गया। इस शताब्दी में अनेक क्रुसेड हुए थे। समुद्री शक्ति की कमी ईसाइयों का पारस्परिक मतभेद तथा विविधता, लेटिन राज्यों के बुरे संघटनों के कारण क्रुसेड को सफलता प्राप्त न हो सकी थी।

पराजय के कारण क्रुसेडवाले उद्देश्यहीन हो गये। वे कुस्तुनतुनिया में सन् १२०२-१२०४ ई०, मिस्र में (सन् १२१८-२१ ई० तथा सन् १२४६-१२५० ई०) और यहाँ तक कि सन् १२७० ई० में ट्यूनीशिया में पहुँच गये। एक क्रुसेड ने सफलता प्राप्त की। उसने कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया। बेजन्टाइन साम्राज्य को (सन् १२०४-१२६१ ई०) फ्रान्स और वनीशियन में बाँट दिया गया।

यूरोप ने चाहे यरूशलम खो दिया परन्तु क्रुसेड के कारण जागृति उत्पन्न हुई। क्रुसेड के कारण विभिन्न विचारधाराओं तथा जातियों से सम्पर्क स्थापित हुआ। पूर्व से पश्चिम ने बहुत कुछ सीखा। लाल सागर से भूमध्य सागर तक मुसलिम अधिकार हो गया था। व्यापार प्रायः बन्द हो गया। यदि कुछ चलता भी था तो वह अरबों के हाथों में था। यूरोप में अरबों से व्यापार पुनः हस्तगत करने की प्रेरणा हुई। भारत पहुंचने के लिए नवीन मार्ग खोजने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई। इस आकांक्षा के कारण अमेरिका, पश्चिमी भारतीय द्वीपसमूह, पूर्वी भारतीय द्वीपसमूह, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अमेरिका के अस्तित्व का दर्शन हुआ।

लौकिक विचारधारा का जहाँ तक सम्बन्ध है, क्रुसेड के कारण पोप की मान्यता तथा अधिकार घट गया। पोप शक्तिहीन प्रमाणित हुए। यरूशलम को मुक्त न कर सके। प्रतिष्ठा घट गयी।

क्रुसेड में एक साथ कार्य करने के कारण कुलीन, सामन्त, कृषक तथा व्यापारिक वर्गों में समता की भावना आ गयी। संकुचित बुद्धि, उदार विचार के लिए स्थान छोड़ने लगी। नवीन शत्रु से युद्ध के कारण यूरोप ने पूर्व से युद्ध शैली का ज्ञान प्राप्त किया। यूरोप के सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन को क्रुसेड ने प्रभावित किया। लोग लौकिकता की ओर झुकने लगे।

राज्यों ने अपनी शक्ति दृढ़ करने का विचार किया। वैदेशिक सम्बन्ध बढ़ने लगे। यूरोप तथा एशिया में सम्बन्ध स्थापित हो गया।

राज्यों ने स्वयं क्रुसेड की सहायता निमित्त कर लगाना आरम्भ किया सर्वप्रथम इसने चन्दा का रूप लिया। शताब्दियों तक लगातार चलनेवाला संघर्ष अथवा कोई कार्य केवल चन्दा अथवा धर्मादा पर नही चलाया जा सकता था। राज्यों ने जनता पर क्रुसेड कर लगाया। जनता कर देने के कारण एक प्रकार से राज्य कार्य की भागी हो गयी। यही कर-व्यवस्था आधुनिक कर-व्यवस्था का विकास है। प्रथम क्रुसेड के समय सामन्तों, राजाओं तथा कुलीनों मे लौकिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। क्रुसेड के कारण कुलीन तथा सर्व-साधारण वर्ग एक दूसरे के समीप आया। सबने मिलकर एक आदर्श के लिए कार्य किया। लौकिक तथा लोकतन्त्रीय प्रवृत्ति और बढ़ी।

द्वितीय तथा तृतीय क्रुसेडों में सम्राट् तथा राजाओं ने विशेष भाग लिया। प्रथम क्रुसेड के समय यह वर्ग प्रायः अनुपस्थित रहा। छोटे राजाओं तथा सामन्तों ने व्यक्तिगत सम्पत्तियों पर क्रुसेड के लिए कर लगाया। गाथा है कि पवित्र भूमि के स्वतंत्रता निमित्त आधुनिक इनकम टैक्स प्रथा के लिए द्वार खोल दिया। नगरो मे भी क्रुसेड की सहायता निमित्त संघटन किया गया। नगर वाणिज्य-व्यवसाय के केन्द्र हो गये। नगरों में स्वायत्त शासन का प्रारंभिक रूप आरम्भ हुआ। जनता सक्रिय हुई। लोकतन्त्र खिलने लगा। चर्च का महत्त्व घट गया। जनता तथा पौरोहितों का पारस्परिक भेद बहुत कुछ कम हो गया। लौकिकता क्रुसेड से मुसकराती ऊपर उठने लगी।

भारतीय इतिहास मे धर्मविजय, दिग्विजय आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। शंकराचार्य ने दिग्विजय किया था। उसका सम्बन्ध शुद्ध बौद्धिक है। धार्मिक तथा राजनीतिक नहीं है। उन्होंने अपने ज्ञान चर्चा से तत्कालीन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनके पांडित्य के कारण भारतीय परम्परा के अनुसार उन्हें दिग्विजयी कहा गया।

अशोक के समय धर्मशाली, धर्मकमत्, धर्मानुशषि तथा धर्मविजय शब्दों का प्रयोग मिलता है। आत्मविजय का अर्थ हम सभी समझ लेते हैं। धर्म-विजय का अर्थ अशोक के समय भेरीघोष के स्थान पर धर्मघोष करना था। शस्त्र के स्थान पर बुद्धि को स्थान देना था। अशान्ति के स्थान पर शान्ति का उद्घोष करना था। शस्त्र के स्थान पर शास्त्र अर्थात् ज्ञान लाना था।

विम्बसार (ईसापूर्व १५००) के समय से अशोक के कलिंग विजय तक का समय संघर्षों का काल रहा है। छोटा नगर पाटलिपुत्र शक्ति का आश्रय लेकर विशाल साम्राज्य की राजधानी बन गया। कलिंग विजय की हिंसा ने अशोक के मन में हिंसा के प्रति घोर घृणा उत्पन्न कर दी। वह समय आज ही जैसा युद्धों की विभीषिका का था। महात्मा गान्धी ने विश्व-युद्धों से बचने के लिए अहिंसा का घोष किया। अहिंसा का प्रयोग कर सफलता प्राप्त की। यद्यपि प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की थी। द्वितीय महायुद्ध के महात्मा और प्रथम महायुद्ध के महात्मा के विचारों में महान् अन्तर था। इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अशोक के मन पर भी युद्ध की विभीषिका देखकर हुई होगी।

अशोक ने रणभेरी के स्थान पर धर्मभेरी द्वारा विश्व में शान्ति-स्थापना करनी चाही। उसने महात्माजी के समान ही अहिंसा का उद्घोष किया। अशोक का धर्मविजय का सिद्धान्त चक्रवर्ती सुत्त में वर्णित भगवान् बुद्ध के उपदेशों पर आधारित था। उसका मूल मन्त्र था—दण्ड किंवा शस्त्र से नहीं अपितु सद्वृत्ति एवं न्याय से विजय करना चाहिए। महाभारत, हरिवंश पुराण, कौटिल्य तथा रघुवंश में वर्णित सिद्धान्त अशोक के धर्मविजय के रूप से सर्वथा भिन्न है। न्याय, सद्वृत्ति एवं सदाचार ने भारतीय राजाओं को विदेशी राष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए प्रेरणा नहीं दी।

भारत एक था। उसकी इकाई बनी रहनी आवश्यक थी। उसकी इकाई के लिए किया गया प्रयास राष्ट्रीय किंवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का रूप नहीं प्राप्त कर सकता। भारत के भीतर होनेवाले युद्धों की गणना गृहयुद्ध में ही की जायगी। पर राष्ट्र विजय शून्य भारतीय इतिहास भारत के लिए सर्वदा गौरव का यह विषय रहेगा। उसने साम्राज्यवादी किंवा धार्मिक दृष्टि से, कभी किसी पर, किसी अवस्था में भी, सशस्त्र आक्रमण नहीं किया। उसने किसी धर्म, पन्थ, सम्प्रदाय, संस्कृति एवं सभ्यता को आत्मसात् करने का प्रयास नहीं किया। उससे जो आकर मिलना चाहे उनका स्वागत किया। उन्हें अपनी गोद में लिया। चाहे कालान्तर में वे उसके शत्रु ही क्यों न साबित हुए हों।

अशोक ने यदि धर्म विशेष के प्रचार निमित्त कोई बात उठायी तो वह अलौकिक नहीं थी। वह पारलौकिक दृष्टि नहीं कही जायगी। उसने किसी अव्यक्त शक्ति में विश्वास नहीं किया। भगवान् बुद्ध किसी अव्यक्त शक्ति में विश्वास नहीं करते थे। बौद्ध-दर्शन तथा धर्म ही नास्तिक अर्थात् ईश्वर-

वादी नही था। अनीश्वरवादी देव अथवा देवाधिराजा अथवा अभिजाततन्त्र में विश्वास कर नहीं सकता। सर्वदा बुद्धिवादी होगा। बुद्धिवाद की प्रवृत्ति लौकिक तथा लोकतंत्रीय होती है।

विश्व इतिहास में कहीं भी यह बात किसी रूप में नहीं मिलती कि हिन्दू जाति ने अथवा किसी भारतीय धर्म ने प्रचार के निमित्त शस्त्र किंवा शक्ति का आश्रय लिया हो। उसने धर्म परिवर्तन का प्रश्न उठाया ही नहीं। उसने दूसरे को पचाने का प्रयास किया ही नहीं। हिन्दू परिवर्तन कर अपनी सख्या बढ़ाने में विश्वास करते ही नही थे। इस दिशा में उन्होंने कभी किसी प्रकार की रुचि नहीं दिखायी। उन्होंने हिंसा पर अहिंसा, शत्रुता पर मित्रता, घृणा पर स्नेह, युद्ध पर शान्ति, शस्त्र पर शास्त्र, पाशविकता पर मानवता, अन्याय पर न्याय, अविवेक पर विवेक को प्राथमिकता दी है। जहाँ वे गये, इन्हीं विचारों को फैलाने का प्रयास किया। अशोक का प्रयास भी उस महान् प्रयास की एक कड़ी है।

हिन्दू धर्मविजय का स्वरूप, जिहाद, क्रुसेड अथवा धर्म-परिवर्तन के लिए किये गये प्रयाणों से सर्वथा भिन्न है। वह राजशक्ति का उपयोग न था। वह शक्ति से अपनी बात मनवाने की क्रिया न थी। वह प्रलोभनों से कलमा पढ़ाने की कोशिश न थी। हिन्दू दिमाग लौकिक था। उसकी कल्पना जिहाद की हो ही नहीं सकती थी।

मुसलिम भारत और लौकिकता

सन् ५७० ई० मे मुहम्मद साहब का मक्का में जन्म होता है। सन् ६२२ ई० में मक्का से मदीना आते हैं। उनका यह प्रस्थान हिजरत कहलाया। हिजरी सन् इसी दिन से आरम्भ होता है। सन् ६२९ ई० में वे मदीना से मक्का आये। सन् ६३२ ई० मे मदीना में उनका स्वर्गवास हुआ। वहीं दफन कर दिये जाते है।

सन् ६३६ ई० मुसलमान सीरिया विजय करते है। सन् ६४७ ई० में अरबों ने ईरान में प्रवेश किया। इकदेशिया के युद्ध में ईरान का पराभव हुआ। अन्तिम ससानी सम्राट् हारकर पकड़ा जाता है। उसका कत्ल किया गया। पारसी भागकर भारत आते है। पारसी किवा ईरानी सभ्यता अपने से चार हजार वर्षो के इतिहास, सस्कृति, सभ्यता आदि के साथ कयामत तक के लिए सो जाती है।

सन् ६५० ई० मे मुसलमान तुर्किस्तान प्रदेश के आमू दरिया तक पहुँच गये। सन् ६४४ ई० मे प्रथम बार मुसलमानों ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। बारह हजार हिन्दू गजनी में मुसलमान बनाये जाते हैं। सन् ७१७ ई० में अरब स्पेन पर आक्रमण करते है। सन् ७१२ ई० में अरबों का सिन्ध में प्रवेश होता है। सन् ७१३ ई० तक अरब विजयपताका अरब सागर से जेक्सार्टस तक फहरा उठती है।

सन् ७२५ से ७४० ई० तक अरब गुजरात और मालवा में आते रहे। सन् ७३२ ई० मे चार्ल्स मार्टेल ने मुसलमानों की स्पेन से बढ़ती आती बाढ़ फ्रान्स मे रोक दी। सन् ८७१ ई० मे सिन्ध खलीफा का शासन उलट कर स्वतंत्र हो जाता है। सन् ९५० ई० मे काश्मीर की रानी जिद्दा के दादा भीम काबुल पर शासन करते हैं। उसका उत्तराधिकारी जयपाल हुआ। गजनी पर सन् ९६२ ई० में अलप्तगीन ने अधिकार कर लिया। वहाँ के हिन्दू मुसलमान बन गये। सन् ९७२ ई० से ९७७ ई० तक गजनी के मुसलमानों तथा काबुल के हिन्दुओं से संघर्ष होता रहा। हिन्दू तथा मुसलमान सेनाओं के बीच जमकर प्रथम युद्ध भारत की ओर मुसलमानों की बाढ़ रोकने के लिए हुआ था।

पंजाब का राज्य हिन्दूकुश, काबुल आदि स्थानों तक फैला था। इन संघर्षों के होते हुए भी गुजरात का सिद्धराज मुसलमानों को गुजरात में स्थान देता है। मुसलमानों और हिन्दुओं में वहाँ कुछ झगड़ा हुआ। अतिथियों से लड़ने के कारण सिद्धराज ने हिन्दुओं को दण्ड दिया। भारतीय परम्परा तथा लौकिक राज्य का आदर्श नहीं छोड़ा। उसने मन्दिर-ध्वंसकों के साथ भी वही व्यवहार किया जो मन्दिर पूजनेवालों के साथ करता था। यह थी भारत की असीम सहिष्णुता। भारतीय बाहरी जगत् से अनभिज्ञ थे। विदेशियों के पैर भारत में जमने लगे। गुजरात में मुसलिम राज्य स्थापित होने में गुजरात के राजाओं की इस उदारता ने अधिक सहायता पहुँचायी।

जयपाल काबुल, पंजाब का राजा था। उसने गजनी पर आक्रमण किया। सन् ९९१ ई० में कुर्रम की घाटी में सुबुक्तगीन से पराजित हो गया। सफल न हो सका। भटिण्डा लौट आया। वह १२ हजार अश्वारोही, ३० हजार पदातिक सेना, ३०० हाथी लेकर लड़ने के लिए पुनः चला। गजनी ने १५,००० अश्वारोही छाँटकर युद्ध किया। जयपाल हार गया। पन्द्रह हजार हिन्दू मारे गये।

जयपाल ने प्रयास किया विदेशियों की बाढ़ को रोकने की। उसे निराशा हुई। आत्मग्लानि हुई। लगभग ३०० वर्ष तक अफगानिस्तान के हिन्दू, उग्र मुसलमानों की बाढ़ रोके रहे। वे भारत में प्रवेश न कर सके। जब कि वे स्पेन और तुर्किस्तान समुद्र और महानदों को पार कर पहुँच गये थे। क्या कभी भारत उन महान् भारतीयों के ऋण से उऋण हो सकेगा?

जयपाल ने स्वयं अपने हाथों चिता रची। उसकी महान् आत्मा पराजय की आत्मग्लानि सह न सकी। चिता में जीते जी अपनी आहुति दे दी। उसका उत्सर्ग, उसका आत्मत्याग, भारत को शायद अनुप्राणित करता? लोग उठते। खतरे को समझते। किन्तु भारत बिखरा था। ऐक्यसूत्र टूट रहा था। गुलामी अपनी घनघोर घटा के साथ, भयंकर तूफान के साथ, प्रवेश करने के लिए उतावली हो रही थी।

सन् ९९७ ई० में महमूद गजनी ने गजनी राज्य की बागडोर सम्हाल ली। सन् १००१ ई० में उसने भारत पर प्रथम बार आक्रमण किया। सन् १००४-१००५ ई० में गजनी ने पुनः आक्रमण किया। जयपाल का पुत्र अनंगपाल पराजित हुआ। घनघोर युद्ध हुआ। महमूद गजनी ने एक नव मुसलिम नौशाशाह (सेवकपाल) को विजित प्रदेश का भार दिया। लौट गया।

वह स्नेहवश नहीं लौटा। अनंगपाल की शक्ति को आँका। भारतीय वीरों की शक्ति आँकी। वह लौटा, युद्ध के अनुभवों से लाभ उठाने के लिए। तैयारी करने के लिए।

फरिश्ता भारतीयों के इस युद्ध के विषय में लिखता है—काफिरों की सेना में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती गयी। भारतीय स्त्रियों ने अपने आभूषण बेच दिये। जो धन प्राप्त हुआ अपने सैनिक पतियों के पास भेज दिये। गरीबों ने सूत कातकर बेच दिया। लोगों ने अपनी मजदूरी का पैसा चन्दा में दिया। तीस हजार काफिर नंगे सर, नंगे पैर, भाले तथा अन्य हथियार लेकर महमूद की पाँतों को तोड़कर घुस आये। महमूद के पैर उखड़ना चाहते थे। अनंगपाल का हाथी बिगड़ गया। हिन्दुओं ने समझा—राजा मारा गया। हिन्दू लौटे। आठ हजार लौटते हुए हिन्दू मारे गये। सन् १००८ ई० में अनंगपाल पुनः महमूद गजनी से पेशावर में पराजित होता है। सन् १०२५ ई० में गजनी ने सोमनाथ नष्ट कर दिया।

अलबेरूनी लिखता है—हिन्दुओं की बिखरी हुई हड्डियाँ मुसलमानों के प्रति अति घृणापूर्ण स्मृति बनाये रक्खेंगी। किन्तु इन संघर्षों के होते हुए भी गुजरात के राजाओं ने गुजरात में मुसलमानों को स्थान दिया। मन्दिर भंग करनेवालों के साथ वही व्यवहार किया गया जो हिन्दुओं के साथ किया जाता था। उन्होंने एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचा कि सोमनाथ के मन्दिर को तोड़नेवाले वे ही लोग थे। प्रतिहिंसा की भावना न उठी। राजाओं ने भारतीय परम्परा लौकिक राज्य का आदर्श नहीं छोड़ा।

यह था भारत की असीम सहिष्णुता का एक उदाहरण। इस सहिष्णुता के कारण विदेशियों के पैर जमने लगे। गुजरात के मुसलिम राज्य स्थापित होने में इस उदारता का बड़ा भारी हाथ है। यही नहीं, गुजरात के मुसलमानों के ही कारण समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में मुसलिम मत का प्रचार हुआ था।

मुहम्मद गोरी (सन् ११७५-१२०६ ई०) ने गजनी को परास्त कर गोर वंश का राज्य स्थापित किया। गोरी ने सन् ११८६ ई० में भारत पर आक्रमण किया। सन् ११९१ ई० में प्रथम पानीपत के युद्ध थानेश्वर में पृथ्वीराज पराजित हो जाता है। गोरी का सन् १२०६ ई० में देहान्त होता है। प्रथम गुलामवंशीय मुसलिम सम्राट् कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् १२०६-१२१० ई०) दिल्ली के सिंहासन पर बैठता है। दिल्ली स्थित विष्णु पर्वत पर विष्णु मन्दिर को नष्ट कर उसे

मसजिद कूवते इसलाम मे बदल दिया जाता है । वही मुसलिम विजय स्तम्भ तुल्य कुतुबमीनार का निर्माण किया जाता है ।

अरबों ने इसलाम को कर्डोविया तक पहुंचाया । इरानियो ने खिलाफत बगदाद मे स्थापित किया। तुर्को ने इसलाम को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया ।

हम उन महान् भारतीयो के ऋण से उऋण नही हो सकेंगे, जिन्होने सन् ६३४ ई० से सन् ६७७ ई० तक मुसलिम आक्रमणकारियो की बाढ़ अफगानिस्तान की सीमा तक रोक रखा । जबकि अफ्रीका और यूरोप ने मुसलिम बाढ़ के सम्मख सर झका दिया । तीन सौ वर्षो तक उन्होंने काबुल से आगे मुसलिम फौज बढ़ने नही दिया । भारत को तीन शताब्दी तक स्वाधीन रखने का श्रेय उन महान् अज्ञात वीरो को है । उनका इतिहास अभी अन्धकार में है । एक दिन प्रकाश मे आयेगा । उनके महान् उत्सर्ग की गाथा हम पढ़ेगे । ऐसा कौन भारतीय होगा जो आज उन स्वाधीन रक्षको को उत्साह के साथ श्रद्धापूर्वक भरी आखो से नमस्कार न करेगा ?

सुबुक्तगीन गुलाम था । भारत का प्रथम बादशाह कुतुबुद्दीन गुलाम था । दूसरा दिल्ली का प्रभावशाली बादशाह अल्तमश गुलाम था । तीसरा तेजस्वी सम्राट् बलबन गुलाम था । गुलाम वश ने भारत मे सन् १२०६ से १२९० ई० तक शासन किया । मुहम्मद गोरी की मृत्यु १२०६ ई० मे हुई थी । भारतीयो ने देखा मुसलिम एकता का रूप । गुलाम भी बादशाह बन सकता है । एक साथ नमाज मे पंक्तिबद्ध खडा हो सकता है । कुलीनता और निम्नता उनके मार्गो मे बाधक नही होती । इन बातो ने भारत के एक बडे वर्ग को मुसलिम विचार समझने के लिए आकर्षित किया ।

महमूद गजनी की सेना मे हिन्दू सैनिक भी थे । सियल्तगीन ने बनारस पर आक्रमण किया । बनारस के मन्दिरो को नष्ट किया । ऊँटों पर सोना लाद कर ले गया । गजनी ने उसे दण्ड देने का भार अपने एक हिन्दू सेनानायक तिलक को दिया । वह नाई का पुत्र था । वह प्रत्युत्पन्नमति था । हिन्दी, फारसी तथा अफगानी तीनो जबान जानता था । बोल सकता था । पजाब के कुछ भागो पर गजनवियो ने किसी-न-किसी रूप में सन् १००१ से ११८६ ई० तक शासन किया था । सन् १०४३-१०४४ ई० मे दिल्ली के राजा महिपाल ने काँगड़ा और थानेश्वर को मुसलमानो से पुन: ले लिया ।

मुहम्मद गोरी लगभग ३० वर्षों तक भारतीयों के साथ संघर्षों मे उलझा रहा । सन् ११९१ ई० मे थानेश्वर में पृथ्वीराज हारते है । भारत अगले ७५६

वर्षों के लिए पराधीन हो जाता है। पानीपत का युद्ध अपने ढंग का निराला युद्ध था। भारत के १५० राजा, ३० हजार अश्वारोही, ३ हजार हाथी, तथा लाखों सैनिक रणभूमि में उतरे थे। मुहम्मद गोरी ने अपनी अश्वारोही सेना को चार टुकड़ियों में बाँट दिया। पृथ्वीराज तथा भारतीय युद्ध परम्परा व्यूह बनाकर युद्ध करने की आदी थी। गोरी के अश्वारोही चारों ओर से घेरकर सेना को परेशान करने लगे। पृथ्वीराज हाथी से उतरकर घोड़े पर सवार हुए। सेना ने समझा राजा घायल होकर गिर गया। गोरी ने समय से लाभ उठाया। भगदड़ मची। पृथ्वीराज की सेना परास्त हो गयी। भारत में मुसलिम राज की नींव पड़ी। उस समय भारत की इतनी हालत खराब हो गयी कि राजनीतिक साहस तथा उत्साह नष्ट हो गया था। तबाकत नासिरी के अनुसार कवल १८ मुसलिम अश्वारोहियों ने बंगाल विजय कर लिया था।

चंगेज खाँ ने भारत पर सन् १२२१-२२ ई० में आक्रमण किया। वह मुसलमान नहीं था। कवि अमीर खुसरो को उसकी सेना में बन्दी बना लिया गया। वह लिखता है—मुसलमान शहीदों के रक्त से रेगिस्तान रंग गया। मुसलमान बन्दियों की गर्दनें मालातुल्य एक-दूसरे की गर्दनों में बाँध दी गयीं।

अल्तमश ने भारत पर सन् १२११-१२३६ ई० तक राज्य किया। उसने मुसलमानी हुकूमत भारत में जमायी। राज्य का संघटन किया। गुलाम वंश का द्वितीय बड़ा राजा गयासुद्दीन बलबन (सन् १२८६ ई०) ने राज्य की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया। गुलाम वंश की शासन-व्यवस्था पूर्णतया अलौकिक थी। उसमें लौकिक भावना की गन्ध भी नहीं मिलती। बलबन गुलाम वंश का वह राजा था जिसके विषय में कहा जा सकता है कि उसमें शासन की योग्यता थी।

गुलाम वंश के पश्चात् सन् १२९० ई० में खिलजी वंश का शासन आरम्भ हुआ। अलाउद्दीन खिलजी (सन् १२९६-१३१८ ई०) प्रथम मुसलिम बादशाह था जिसने दक्षिण भारत में विजय प्राप्त की। द्वारसमुद्र, तेलंगाना, मदुरा, मलबार आदि विजय किया। उसका शासनकाल महत्त्वपूर्ण था। उसने कुछ नवीन परम्पराएँ स्थापित कीं।

वह पहला मुसलिम बादशाह था जिसने धर्मनिरपेक्ष किंवा लौकिक शासन व्यवस्था स्थापित करने का कुछ प्रयास किया। वह यथार्थवादी था।

राजनीति से धर्म को अलग करने का प्रयत्न किया। उसने अपने चाचा की हत्या कर राज्य प्राप्त किया था। चित्तौर की पद्मिनी उसी के समय सती हुई थी। राजपूतों का स्मरणीय जौहर इसी के काल से आरम्भ होता है। अलाउद्दीन मुसलिम जगत् में ख्याति प्राप्त करने की दृष्टि से खलीफा से 'यमीन-उव-खिलाफत नासिरी अमीर-उल-मोमनीन' की पदवी प्राप्त की।

अलाउद्दीन का पुत्र मुबारक (सन् १३१६-१३२० ई०) राजनीतिक दृष्टियों से अपने पिता से साहसी निकला। उसने खलीफा की प्रभुता नाम के लिए स्वीकार करना पसन्द नहीं किया। राज्यसूत्र बगदाद के प्रभाव में नहीं जाने दिया। दिल्ली की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखी। प्रभुसत्ता-सम्पन्न भारतीय राष्ट्र का स्वरूप समझाया। उसने स्वयं 'अल इमाम उल आजम खलीफाई रब्बुल आलमीन' की पदवी धारण की।

अलाउद्दीन कहा करता था—यथाकाल जिसमें भी राज्य की भलाई देखता हूँ, उसी का आदेश देता हूँ। अलाउद्दीन ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि बिना धर्म की सहायता के भी राज्य स्थापित तथा स्थित रह सकता है। राजा का दृष्टिकोण केवल राजकीय हो सकता है। उसने कहा था—क्या नियमानुकूल है और क्या प्रतिकूल मैं नहीं जानता। राज्य तथा परिस्थितियों के लिए जो हितकर होता है उसी के लिए आदेश देता हूँ। कयामत में मेरा क्या होगा कौन जाने?

मुबारक के पश्चात् उसका प्रधान मंत्री और सेनानी खुसरू खाँ उसकी हत्या कर स्वयं दिल्ली का बादशाह बन गया। वह पश्चिमी भारत का घेर हिन्दू था जो मुसलमान हो गया था। कुछ समय पश्चात् उसकी भी हत्या कर दी गयी। गयासुद्दीन तुगलक ८ सितम्बर, सन् १३२० ई० को दिल्ली के तख्त पर बैठा।

गयासुद्दीन तुगलक की माँ हिन्दू जाट थी। वह वृद्ध था। हिन्दू-मुसलिम रक्त-मिश्रण के कारण उसमें विनम्रता के साथ ही साथ वीरता भी आ गयी थी। वह योग्य शासक साबित हुआ। कवि अमीर खुसरो की माँ भी हिन्दू थी। गयासुद्दीन तुगलक की उसने बड़ी प्रशंसा की है। उसने न्याय-दृष्टि से कार्य किया। डाक विभाग खोला। वह उदार था। उसमें कट्टरता न थी। अकबर का वह जैसे प्रारंभिक रूप था। उसने जिन कार्यों की नींव डाली थी अकबर ने उन्हें ही एक तरह से बढ़ाया।

बंगाल विजय कर फरवरी, सन् १३२५ ई० में वह लौटा। उसके पुत्र उलगू खाँ (जूना) ने पिता का धूमधाम के साथ स्वागत किया। एक मंडप

में बादशाह ने अपने कनिष्ठ पुत्र के साथ प्रवेश किया। मण्डप षड्यंत्र का एक साधन था। मण्डप टूटकर गिर पड़ा। मलवा हटाया गया। वृद्ध पिता अपने पुत्र के ऊपर पड़ा पाया गया। मानो वह गिरते मलवे को अपनी पीठ पर रोकना पुत्र की रक्षा करना चाहता था। उसने उस विकट परिस्थिति में भी वात्सल्य भाव का त्याग न किया। जब कि उसका दूसरा पुत्र उसे काल-द्वार पहुँचा रहा था।

युवराज जूना पिता का हत्यारा था। वह मुहम्मद तुगलक (सन् १३२५-१३५१ ई०) के नाम से दिल्ली के तख्त पर मार्च, सन् १३२५ ई० में बैठा। उसने भी अपने पिता की हत्या की थी। अलाउद्दीन खिलजी के समान खलीफा से अपनी बादशाहत की मान्यता प्राप्त की। उसने दिल्ली से राजधानी हटाकर दौलताबाद में स्थापित करने का प्रयत्न किया।

मुहम्मद ने अपने सिक्के पर "दारुल इसलाम" शब्द अंकित करवाया। जोश में समझ लिया कि, भारत दारुल हरब से दारुल इसलाम में परिणत हो गया है। उसके पिता से लौकिकता की जो ज्योति झलक उठी थी उसके समय में चुपचाप बुझ गयी।

मंगोलों ने तर्माशिरी के नेतृत्व में सन् १३२८-१३२९ ई० में पंजाब पर आक्रमण किया। मुगलों ने मुलतान, लाहौर से लेकर दिल्ली तक का क्षेत्र रौंद डाला। तुगलक सामना करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। मुगलों को काफी सम्पत्ति देकर लौटा दिया गया। उसने अपने समय में सिक्का खूब चलाया। कैरो के खलीफा से मान्यता सन् १३४१ ई० में प्राप्त की। खलीफा ने उसे फरमान दिया। उसने भारतीय सिक्के पर अपने नाम के साथ खलीफा का भी नाम अंकित करवाया। बात यही तक नही रही। भारतीय इमारतों पर भी उसने खलीफा का नाम खुदवाना आरम्भ किया। मसजिदों में खलीफा के नाम का खुतबा पढा जाने लगा। खलीफा के प्रमाण-पत्रों तथा मान्यताओं के कारण देश में बढता असन्तोष कम न हुआ। उसका शासन बुद्धि, सनक तथा धर्मान्धता का विचित्र मिश्रण था।

फिरोजशाह तुगलक (सन् १३५१-१३८८ ई) की माँ हिन्दू थी। वह गयासुद्दीन तुगलक के भाई रजब का पुत्र था। मुहम्मद तुगलक के कोई पुत्र नही था। उसने फिरोज तुगलक के नाम का निर्देशन उत्तराधिकार के लिए अपने जीवनकाल में ही कर दिया था। फिरोज तुगलक साधिकार गद्दी पर बैठा।

उसमें अशोक तथा अकबर तुल्य महान् भारतीय शासक होने की क्षमता थी पर धर्मान्धता तथा कट्टरता ने उसके जीवन को सोख लिया था। उससे भारत वह लाभ नहीं उठा सका, जिसके द्वारा भारत महान् बन सकता था। यदि उसमें धार्मिक सहिष्णुता होती, जिसकी अपेक्षा उससे की जा सकती थी, तो अपने पीछे वह इतिहास छोड़ जाता। वह अपने दादा गयासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद खिलजी की नीति के ठीक विरुद्ध चला। उसने हिन्दुओं पर सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब से कम अत्याचार नहीं किये। वह अपने ही जैसे अर्ध हिन्दू मुसलमान रक्तीय मुसलिम बादशाह गयासुद्दीन, जहाँगीर, शाहजहाँ, दारा आदि का विरोधी स्वरूप उपस्थित करता है।

मन्दिरों को उसने खूब तोड़ा। धार्मिक प्रतिहिंसा उसमें जैसे गरज उठी थी। उसने नवीन मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा रद्द कर दी। मुसलिम काल में शताब्दियों से ब्राह्मण जजिया से मुक्त थे। उन पर भी जजिया लगा दिया गया। उसने हिन्दू विरोधी कार्य करते हुए भी फारसी में संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कराया। शासन में महत्त्वपूर्ण सुधार किया। यदि वह लौकिकता की ओर चलता तो अकबर से कम महान् न होता और भारतीय इतिहास की प्रगति किसी दूसरी दिशा में हुई होती।

फिरोज तुगलक अपनी आत्म-कथा लिख गया है। उसमें स्वीकार किया गया है कि उसने हिन्दुओं के मन्दिरों को नष्ट किया है। उनके स्थान पर मसजिदें बनवायी है। उसकी यह असहिष्णुता हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उसने शिया मुसलमानों को भी खूब परेशान किया। वह स्वयं लिखता है—मैंने उनकी पुस्तकों को सार्वजनिक रूप से जलवा दिया। शिया सम्प्रदाय का प्रभाव प्रायः नष्ट हो गया। उसका मन्त्री भी तेलगा का निवासी था। वह हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

फिरोज तो आधा हिन्दू था पर उसका मन्त्री मकबूल पूरा हिन्दू था। वह नव मुसलिम अर्थात् स्वयं मुसलमान हुआ था। दोनों जैसे समस्त भारत को मुसलमान बनाने पर जुट गये थे। नव मुसलिम तथा अर्ध मुसलिम मुसलमानों से भी ज्यादा मुसलमान बनने की कोशिश करते है। इसे साबित करने में वे कट्टर हो जाते हैं।

जजिया तथा खिराज कर गैर मुसलिमों पर कठोरतापूर्वक लगाया गया। फिरोज तुगलक ने एक ब्राह्मण को अपने प्रासाद के सम्मुख फाँसी लगवा

दी। उसपर आरोप लगाया गया था कि उसके यहाँ कुछ मुसलमान आते थे और उसकी बात सुनते थे। उससे मुसलमान होने के लिए कहा गया। उसने अस्वीकार कर दिया। अतः फाँसी पर झुला दिया गया।

वह अपनी आत्म-कथा में लिखता है—पैगम्बर के पवित्र धर्म को स्वीकार कराने के लिए लोगों पर जोर दिया। घोषणा की। कलमा पढ़कर मुसलमान होनेवाला जजिया से मुक्त कर दिया जायगा। बड़ी संख्या में गरीब जो कर न दे सकते थे मुसलिम धर्म स्वीकार करने लगे। उन्हें बड़े सम्मान के साथ मुसलमान बनाया गया।

उसकी मृत्यु ८० वर्ष की आयु में सन् १३८८ ई० में हुई। उसकी अलौकिक नीति का फल यह हुआ कि औरंगजेब के पश्चात् जैसे मुगल साम्राज्य बिखरने लगा, ठीक उसी तरह उसकी मृत्यु के पश्चात् ही तुगलक साम्राज्य बिखर चला। दिल्ली में हौज खास में उसकी मजार है। उसके पास रहनेवाले सब हिन्दू हैं। उसकी मजार में खेलनेवाले हिन्दू बच्चे हैं। वहाँ की रखवाली करनेवाला हिन्दू है। क्या उसकी आत्मा कब्र में पड़ी सोचती होगी कि उसकी पारलौकिक नीति उसका स्वप्न पूरा न कर सकी?

फिरोज तुगलक के पश्चात् सन् १३८८ से १४९८ ई० तक ६ उत्तराधिकारी, अबूबक्र, मुहम्मद द्वितीय, सिकन्दर, महमूद, नसरत तथा महमूद बादशाह फिरोज तुगलक से बाबर के आक्रमण अर्थात् १३८ वर्षों का भारतीय इतिहास अत्यन्त दयनीय स्थिति उपस्थित करता है। भारत का केन्द्रीय शासन दुर्बल हो गया था। देश में अराजकता फैली थी। मुसलिम सामन्तों का बोलबाला था।

सन् १३९८ ई० में महमूद नसरत के समय तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर ने भारत पर जिहाद बोला था। उसने कहा था—पैगम्बर के सत्य धर्म का उपदेश भारत को देना है। मन्दिरों से मूर्तियों को नष्ट कर मूर्ति तथा बहुदेववाद को समाप्त करना है। इस प्रकार हम धर्म तथा ईश्वर का समर्थक बनकर गाजी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।

वह अपनी आत्म-कथा "मलफुसाते तिमूरी" में लिखता है—भारत में प्रवेश कर एक लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाया। प्रश्न था उनका किया क्या जाय। निश्चय किया गया। उन सब का कत्ल कर दिया जाय। कत्लेआम का आदेश मिलते ही लोगों ने तलवारें निकाल लीं। एक लाख हिन्दू बन्दियों को मौत के घाट उतार दिया गया।

यहाँ तक कि मौलाना नसीरुद्दीन, जो हजरत उमर जैसे साधु प्रकृति के थे तथा अपने जीवन में जिन्होंने एक चिड़िया तक नहीं मारी थी, उन्हें पन्द्रह हिन्दुओं की हत्या करनी पड़ी थी। एक लाख हिन्दुओं का वध करना आसान न था। स्थानीय समस्त मुसलिम जनता को इस कार्य में लग जाना पड़ा था।

दिल्ली के घेरे के विषय में जफरनामा का लेखक लिखता है—हिन्दुओं के मस्तकों को काटकर उनके ऊँचे ढूहे लगा दिये गये। उनकी लाशों को पशु-पक्षियों को खाने के लिए छोड़ दिया गया।

दिल्ली पर सन् १३९९ से १४०५ ई० तक वजीर इकबाल का अधिकार रहा। नसरतशाह भगा दिया गया। उसने कन्नौज में अपना दरबार जारी किया। मुलतान के सूबेदार खिज्रखाँ ने सन् १४०५ ई० में इकबाल को युद्ध में परास्त कर मार डाला। तुगलकवंशीय मुहम्मद तुगलक द्वितीय को दिल्ली लौटने का मौका मिला। सन् १४१२ ई० तक उसने शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् अव्यवस्था फैल गयी। केवल ९६ वर्ष सत्तारूढ़ रहने के उपरान्त तुगलक वंश का लोप हो गया। सन् १४१४ ई० में खिज्रखाँ ने सैयद वंश की स्थापना दिल्ली में की।

सैयद वंश ने कुल ३७ वर्ष अर्थात् सन् १४१४-१४५१ ई० तक दिल्ली में शासन किया। खिज्रखाँ, मुबारक, मुहम्मद तथा आलम बादशाह हुए। मुबारक की हत्या उसके एक मन्त्री सरवर ने कर दी। उसने सुलतान मुहम्मद की भी हत्या करने का प्रयास किया पर सफल न हो सका। सुलतान आलम से राजसत्ता चल न सकी। उसने बहलोल खां लोदी (सन् १४५१-१४८८ ई०) को शासन का भार दे दिया। लोदी वंश ने कुल ७५ वर्ष अर्थात् बाबर के आक्रमण काल तक शासन किया। इस वंश में बहलोल, सिकन्दर तथा इब्राहीम लोदी बादशाह हुए है।

बहलोल लोदी का तृतीय पुत्र निजाम खाँ सिकन्दर लोदी के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसकी माँ एक सुनार हिन्दू की स्त्री थी। वह फिरोज तुगलक तथा औरंगजेब तुल्य हिन्दुओं से घृणा करता था। फिरोज तुगलक तुल्य ही कट्टर मुसलमान था। मुसलिम शासन के तीन कट्टर—फिरोज तुगलक, सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब—ने ही काशी के मन्दिरों का नाश किया है। तीनों में ही हिन्दू रक्त था। यदि वे लौकिक भावना का आदर कर हिन्दू मुसलमानों को पास लाने का प्रयास करते, तो भारत को अनेक बुरे दिन न देखने पड़ते।

विचार-स्वातन्त्र्य की हालत विचित्र हो गयी थी। बंगाल के एक ब्राह्मण ने कहा कि, हिन्दू और मुसलिम दोनों धर्म सत्य हैं। उसका यह कहना अपराध माना गया। उसे मुसलमान होने के लिए कहा गया। उसने इन्कार किया। उसे मृत्यु-दंड दे दिया गया। नाइयों को आज्ञा दे दी गयी कि वे हिन्दुओं की दाढ़ी न बनायें। हिन्दुओं को जमुना में स्नान करने पर रोक लगा दी गयी। उसने दिल्ली से हटाकर आगरा में नवीन राजधानी कायम की।

यदि उस समय भारत में सिकन्दर लोदी जैसा परलोकवादी उग्र शासक था, तो दूसरी ओर काश्मीर में जैनुल आबदीन (सन् १४१७-१४६७ ई०) आदर्श लौकिक शासक हुआ है। उसने अकबर जैसी लौकिक नीति चलायी। उसने काश्मीर में सर्वप्रथम सन् १३३६ ई० में मुसलिम राजवंश की स्थापना की थी। वह शमशुद्दीन के नाम से तख्त पर बैठा था। इस वंश का पाँचवाँ राजा सिकन्दर (सन् १३८६–१४१० ई०) अत्यन्त धर्मान्ध हुआ है। उसका नाम बुतशिकन रख दिया गया। राज्य-शक्ति का प्रयोग कर उसने लोगों को मुसलमान होने पर बाध्य किया। जैनुल आबदीन आचरणवान् था। उसने केवल एक विवाह किया। राज्य में गोवध बन्द करा दिया। हिन्दुओं को मन्दिर बनाने की आज्ञा दे दी। सिकन्दर के समय काश्मीर से ब्राह्मण निर्वासित कर दिये गये थे। उन्हें पुनः लौट आने का आदेश तथा सुविधा दी गयी। यहाँ तक कि वह स्वयं शाकाहारी हो गया था।

यह काल हिन्दुओं के जागरण का काल कहा जायगा। पारलौकिक राज्य किंवा देवाधि निरंकुश राजतन्त्र से जनता ऊब गयी थी। किसी नवीन मार्ग की तलाश होने लगी। हिन्दुओं में चेतना फैलने लगी। प्रस्तुत स्थिति का अन्त होना चाहिए। मुसलिम सत्ता शताब्दियों से जम गयी थी। उसे उखाड़ना आसान न था। एकता के अभाव में राजनीतिक प्रयास असफल होगा। सबके दिमागों में बात आ गयी थी। मुसलिम जनता में भी एकता न थी। सूबेदार एक दूसरे से सत्ता लेने के लिए लड़ते थे। समय पाते ही स्वतन्त्र हो जाते थे। वे षड्यंत्रों में फँसे रहते थे। हिन्दू समझ चुके थे। जिहाद का नारा था। उसपर सब मुसलिम एक हो जाते थे। उन्हें बाहर से भी सहायता प्राप्त हो सकती थी। हिन्दुओं को कहीं से सहायता प्राप्त होने की आशा नहीं थी।

विचार उठता है। वह अपना घर बना लेता है। नदी की धारा तुल्य रुकता नहीं। कहीं न कहीं मार्ग ढूँढ़कर निकलना चाहता है। यह विचार फैलाया मध्ययुगीय महान् भारतीय सन्तों ने।

इस काल में नामदेव, मीराबाई (सन् १४७० ई०) रामानुज, रामानन्द, चैतन्य (सन् १४८५ ई०), नानक (सन् १४६९-१५३० ई०), कबीर (सन् १४४०-१५१८ ई०), मलूकदास, रैदास और तुलसीदास आदि अनेक महान् सुधारक उत्पन्न हुए। जनता में उन्होंने आत्म-विश्वास उत्पन्न किया। यूरोप में इसी समय पुनर्जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे। भारत में वही बात दूसरे रूप में हो रही थी। संकुचित भावना, मृत्यु का डर, अपने शासन की महत्ता, राजा के प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व, राजा का पिता तुल्य व्यवहार, स्वाधीनता की आकांक्षा, आदि विचार धार्मिक रंग में रंगे हुए उठने लगे।

यूरोप में विदेशी हुकूमत नहीं थी। प्रजा और राजा एक ही धर्म मानने-वाले थे। उनका मार्ग प्रशस्त था। भारत में पग-पग पर कठिनाइयाँ थीं। हवा यूरोप तथा भारत में एक ही साथ बही। हवाओं का रुख एक ही तरफ नहीं रहा। उनकी प्रतिक्रियाएं भिन्न हुईं। यूरोप तथा भारत दोनों ही स्थानों में प्रगति हुई विभिन्न दिशाओं में। यूरोप में वह राष्ट्रीय राष्ट्र तथा लौकिक राज्य स्थापना की ओर बढ़ी। भारत में वह राष्ट्रीय राष्ट्र बनाने की ओर लोगों को प्रवृत्त न कर सकी। वह लोगों के हृदयों में केवल घर करने लगी।

उसने राजनीति की ओर आँख न उठायी। उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य भारतीय राजनीति पर पड़ने लगा। स्वीकार करना होगा। भारत में धर्म के नाम से अनेक धाराएँ बह निकलीं। उन्होंने जनता में आत्म-विश्वास उत्पन्न किया। ईश्वर पर भरोसा करने के लिए अनुप्राणित किया। उत्तर भारत में वह आन्दोलन सन्त आन्दोलन के नाम से प्रख्यात हुआ। दक्षिण में वह राजनीति की ओर मुड़ी।

विजयनगर राज्य की स्थापना हुई। राजपूत पुनः शक्तिशाली होने लगे। राजस्थान में राणा कुम्भ का उदय हुआ। स्पष्ट हो गया। मुसलमान बादशाहों ने भारत की भूमि पर अधिकार किया। परन्तु भारतीय आत्मा व्याकुल थी। जनता के हृदयों को मुसलिम शासक जीत न सके। यदि उनकी दृष्टि किंचित् मात्र लौकिक होती, तो भारतीय जनता उनकी मुट्ठियों में अकबर काल तुल्य हो जाती। वह आत्म-सन्तोष तथा विश्वास से साथ-साथ देती रहती।

प्राग् मुगलकालीन ३३३ वर्षों का मुसलिम इतिहास विजय, मूर्ति-भंग, जिहाद की प्रेरणा, पारलौकिक राज्य अथवा देवाधि निरंकुश राजतन्त्रों का

काल है। इस काल में जनता का कोई भी हाथ शासन-व्यवस्था में न था। जनता जैसे अधिकांश शासकों द्वारा शत्रु समझी जाती रही। बाहुल्य हिन्दुओं का था। उनपर शासन करना था। उन्हें मुसलिम संस्कृति, सभ्यता तथा धर्म में रँगना था। इसी दिशा में अधिकतर बादशाह चलते रहे। कोई रचनात्मक कार्य इस काल में न हो सका। हिन्दू-मुसलमानों को मिलाकर, एक उद्देश्य की ओर ले चलने का प्रयास नहीं किया गया।

मुसलिम शासकों के सम्मुख विचित्र समस्या थी। उन्होंने भारत को मिस्र, पर्शिया, सीरिया या तुर्किस्तान समझ लिया था। उनके सामने नक्शा था। जहाँ गये वहाँ की जनता अपनी संस्कृति, धर्म सबको त्यागकर मुसलमान हो गयी। भारत प्रारम्भ से ही संघर्षशील रहा। फिरोज तुगलक, सिकन्दर लोदी आदि का सामना सन्तोष से किया। जजिया तथा खिराज अपनी गाढ़ी कमाई से पैदा कर जनता देती गयी पर अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा धर्म को तिलांजलि न दे सकी। इस दिशा में सन्तों ने बड़ा काम किया। वे धार्मिक असहिष्णुता का सामना आध्यात्मिक शक्ति से, सन्तोष से, शक्ति से अहिंसा से, भगवान् पर विश्वास कर, करना सिखाया करते थे।

पारलौकिक शासन ने अपनी नैसर्गिक दुर्बलता के कारण भारत में किसी भी वंश के मुसलिम शासन को बहुत दिनों तक जमने नहीं दिया। कोई भी मुसलिम भारतीय बादशाह भारत पर हुए, विदेशी आक्रमणों का सामना करने में समर्थ न हुआ। उन्होंने लौकिकता का आश्रय लेकर जनता की आर्थिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय उन्नति कर, राष्ट्र को मजबूत नहीं बनाया। जनता दबी रही। कुचली गयी। स्वतंत्र न थी। उसका कोई ऐतिहासिक कार्य नहीं रह गया था। उसका कोई विकास नहीं हुआ था। उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिसे ऐतिहासिक कहा जाय। उसका दृष्टिकोण एक निरपेक्ष दर्शक तुल्य हो गया था। दिल्ली के तख्त पर कौन बैठता है, कौन भागता है। इसमें जैसे जनता अथवा कृषक को कोई मतलब नहीं रह गया था। उसके जीवन की सीमा उसके हल, खेत तथा घर तक सीमित रह गयी थी।

मुसलमान बादशाहों की दृष्टि इतनी पारलौकिक हो गयी थी कि उन्होंने बिना प्रयोजन खलीफा की सत्ता मान ली। जो स्वयं अपने मुल्क में बगदाद या कैरो के बादशाहों के हाथों की कठपुतली मात्र थे भारतीय मुसलिम बादशाहों ने भारत का प्रभु उन्हीं खलीफाओं को मान लिया। चाहे वह प्रभुता,

नाम के लिए ही क्यों न मानी जाय। सिक्कों पर खलीफाओं का नाम अंकित होने लगा। उनके नाम का खुतबा पढ़ा जाने लगा।

यही तक बात न रही। सैयद वंश के संस्थापक खिज्रखाँ ने अपने को तैमूर का प्रतिनिधि तक मान लिया। तैमूर के नाम का खुतबा हिन्दुस्तान में पढ़ा जाने लगा। तैमूर भारत से हजारों मील दूर पड़ा अन्तिम साँस ले रहा था। चाहे गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी किसी वंश के बादशाह रहे हों, चाहे वे पठान, तुर्क या अरब रहे हों सबकी विचारधारा एक ही थी। उनका विचार-स्रोत कुरान, हदीस तथा विदेशी मुसलिम लेखकों के ग्रन्थ थे। आँखें विदेशों की ओर उठती थीं। वे ब्रिटिश साम्राज्य के कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों के समान थे। जिनका आदर्श तथा पितृभूमि ब्रिटेन की ओर देखना रहता है। वे भारत में आये थे जैसे केवल उसकी सम्पत्ति का उपभोग करने। उन्होंने जनता का शोषण करना कर्तव्य समझ लिया था। दुख है कि जनता के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक उत्थान की ओर वे ध्यान दे न सके।

उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों पर काबू पाने का अथक परिश्रम किया। परन्तु उनके सब प्रयोग असफल हुए। वे पारलौकिकता त्याग कर लौकिक विचार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। मुसलिम राजवंश परस्पर सर्वदा संघर्षशील रहे। राज्य के लिए पिता, पुत्र, स्वामी, भृत्य किसी की भी हत्या कर देना साधारण बात थी। एक ही आदर्श रह गया था—राजभोग। यदि उनमें कभी एक आदर्श, एक मिशन की भावना ने जोर मारा भी तो वह जोर धर्म की ही ओर गया। धार्मिकता इस बात में आकर ही समाप्त हो जाती थी कि किस प्रकार स्वधर्म का प्रचार किया जाय। उसे लाभ पहुँचाया जाय। मिशन का यह रूप उनमें कट्टरता उत्पन्न कर देता था। वे चाहकर भी लौकिक राज्य प्रवाह की ओर चलना कौन कहे उसका नाम सुनना तक बर्दाश्त न कर सके।

उत्तराधिकार तथा शक्ति हस्तगत करने की दुःखद गाथा इन शताब्दियों की कहानियाँ हैं। यूरोप में नवीन आविष्कार हो रहे थे। यूरोप नये प्रयोगों की ओर बढ़ रहा था। लेकिन भारत ने तीन शताब्दियाँ बेकार खो दीं। जनता की शक्ति का उपयोग न किया गया। सूबों का स्वतंत्र होना, दिल्ली के खिलाफ विद्रोह करना, उन विद्रोहों को दबाना, षड्यंत्रों के चक्कर में पड़े

रहना, समय मिलते ही एक को मार कर दूसरे का गद्दी पर बैठ जाना, इतनी शोचनीय घटनाएँ हुई हैं कि मस्तक लज्जा से झुक जाता है ।

उत्तराधिकार का भी प्रकार बदल गया था। उसके लिए धर्म के प्रति कट्टरता एक खास गुण समझा जाता था। इसलाम के प्रति अटूट श्रद्धा तथा निष्ठाभक्ति होना आवश्यक था। जनता की चिन्ता न थी। धर्म के नाम पर सब माफ था। धर्मान्तरित खुसरो वीर था। सफल शासक होना। किन्तु हिन्दुओं के प्रति अपनी उदार नीति के कारण तख्त से हाथ धोकर उसे तख्ता अपनाना पड़ा। कालान्तर में दाराशिकोह और औरंगजेब की घटना भी इसी प्रकार घटी है ।

मुसलिम सभी समान हैं। सम्पत्ति में सबका अधिकार है। इस भौतिक समता के तथ्य के कारण उत्तराधिकार के लिए संघर्ष अनिवार्य था। पिता के पश्चात् केवल ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो, मुसलिम कानून के विरुद्ध बात थी। प्रत्येक भाई, प्रत्येक पुत्र अपना अधिकार समान समझता था। बाप के मरते ही भाई की गर्दन पर भाई सवार हो जाता था। पिता, चाचा अथवा भाई के खून से हाथ रँगा होने पर भी, हत्यारा होने पर भी किसी प्रकार गद्दी पर बैठते ही, सुलतान मान लिया जाता था। कानून के स्थान पर व्यक्ति की शक्ति, व्यक्ति का महत्त्व बढ गया था। यही कारण है कि कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बाबर तक लगभग ३२ बादशाह गद्दी पर बैठे पर उनका कार्य-काल १० वर्ष से अधिक अनुपाततः नहीं रहा। राज्य का कार्य इस दुनिया, इस लोक की बात सोचकर नहीं चलाया गया। परलोक में पहुँचने की चिन्ता ज्यादा रही। अधिकतर बादशाह हत्या अथवा षड्यंत्रों का शिकार बनकर परलोक पहुँचते रहे ।

मुगल काल में लौकिकता

भारत में मुगल साम्राज्य सन् १५२६ ई० से सन् १८५७ ई० तक किसी-न-किसी रूप में कायम रहा। प्रथम ६ बादशाह महत्त्वपूर्ण थे। शेष केवल नाम के लिए राजा थे। दिल्ली के तख्त पर ३३३ वर्षों में गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी वंशों का राज्य रहा। लगभग उतने ही दिन अर्थात् ३३१ वर्ष केवल एक मुगल वंश ने राज्य किया। इतने काल तक एक ही वंश किस प्रकार राज्य करने में सफल हुआ अध्ययन का विषय है। इसका मुख्य कारण प्रथम पाँच मुगलों की लौकिक भावना थी। जनता की समस्याओं के हल करने की उत्कट अभिलाषा थी। औरंगजेब के समय यह भावना ज्यों ही लुप्त हुई, साम्राज्य बिखर गया। नष्ट हो गया।

मुगलों में बाबर, जहाँगीर, औरंगजेब ने अपना संस्मरण लिख छोड़ा है। अकबर के समय का भी इतिहास अनेक लेखकों के कारण प्राप्त है। इमारतों के रूप में भी उनकी स्मृतियाँ ताजी है। उनसे तत्कालीन समय की प्रवृत्ति का बहुत कुछ पता चल जाता है।

मुगलों की सत्ता नष्ट होने पर भी मराठा, राजपूत तथा सिखों ने मुगलों की कीर्तियाँ नष्ट नहीं की है। पूर्व मुसलिम बादशाहों ने सर्वदा अपने पूर्ववर्ती बादशाहों के कार्यों की उपेक्षा की। पहले के अस्तित्व उनके कारनामों को लोप हो जाने दिया। यहाँ तक कि राजधानी का स्थान भी सर्वदा दूसरे वंश के सत्तारूढ़ होते ही प्रायः बदल दिया जाता था। गुलाम वंश के समय दिल्ली का केन्द्र महरौली था। खिलजियों ने उसे वहाँ से हटाया। विजय मण्डल दिल्ली के समीप लाये। तुगलकों ने नया नगर तथा किला तुगलकाबाद बसाया। किकोबाद ने किलकोरी में अपनी नयी राजधानी बनायी। लोदियों ने अपनी राजधानी को दिल्ली से अलग बसाया। सिकन्दर लोदी राजधानी आगरा लाया। शेरशाह सूरी ने पुराना किला दिल्ली राजधानी बनाया। मुगलों ने आगरा में राजधानी रहने दी। शाहजहाँ ने लाल किला बनवाया। दिल्ली को पुनः महत्त्व दिया। प्रत्येक आनेवाले वंश ने अपने पूर्ववर्ती राजवंशों के एक-एक व्यक्ति की जीवन लीला समाप्त की है। बात यहीं तक नहीं रही। प्रायः

सभी बादशाहों ने अपने पूर्ववर्ती बादशाहों के जितने उत्तराधिकारी हो सकते थे सबको समाप्त किया है। उत्तराधिकार सुरक्षित रखने की भी यह एक धुन थी।

बाबर को भारत पर आक्रमण करने की प्रेरणा उसके एक सामन्त ने दी थी—"ईश्वर ने आपको काबुल पहुँचा दिया है। भारत के द्वार पथ पर आप खड़े हैं। अल्लाह तथा रसूल का हुक्म है। भारत में मूर्त्ति-पूजकों का आप संहार करें।"

बाबर ने सन् १५१९ ई० में बाजौर पर घेरा डाला। तोपों का प्रयोग किया। दुर्ग पर बाबर का झण्डा लहरा उठा। उसने इब्राहीम लोदी के पास मुल्ला मुर्शिद को भेजा। तुर्कों के समय जितने देश मुगलों के अधिकार में थे, सब की माँग की गयी। किसी प्रकार का उत्तर न मिला। राजदूत पाँच मास दिल्ली रहकर काबुल लौट आया।

बाबर ने सन् १५१९ ई० में खैबर पार किया। अफगानिस्तान के बदखशां में उपद्रव हो गया। वह पुनः अफगानिस्तान लौट गया। सन् १५२० ई० में उसने तीसरी बार भारत पर आक्रमण किया। बाजौर होता सीरा पहुँचा। सियालकोट के किले पर अधिकार कर लिया। कंधार के सूबेदार शाह बेग अर्धून के बगावत की खबर मिली। वह अफगानिस्तान लौट गया। सन् १५२२ ई० में कन्धार पर अधिकार कर लिया। सन् १५२४ ई० में चौथी बार भारत पर आक्रमण किया। पंजाब का सूबेदार दौलत खाँ बहुत शक्तिशाली हो गया था। इब्राहीम लोदी के चाचा आलम खां को तख्त पर बैठाना चाहता था। उसने लोदी पर आक्रमण करने के लिए अपने पुत्र दिलावर खां को बाबर के पास भेजा। बाबर ने पूर्ण सहायता देने का वचन दिया।

हिन्दू इतिहास की पुनरावृत्ति अर्थात् जयचन्द जैसा कार्य मुसलिम काल में एक वंश ने दूसरे को हराने के लिए बहुत किया है। उत्सुक बाबर ने स्थिति से लाभ उठाया। भारत की ओर बढ़ा। झेलम तथा चिनाब की उपत्यका पर अधिकार कर लिया। लाहौर और दियालपुर भी उसके अधिकार में आ गये। दियालपुर आलमखाँ को दे दिया गया।

दौलत खाँ दिल्ली की सेना से परास्त हो गया। पहाड़ियों में भाग गया। उसने बाबर से सहायता माँगी। वचन दिया। विजय प्राप्त होने पर बाबर लाहौर तथा पश्चिम का प्रदेश ले लेगा। सन् १५२५ ई० में बाबर ने विशाल

सेना के साथ भारत में पुनः प्रवेश किया। बाबर के साथ चुने हुए १२ हजार सैनिक थे।

बाबर तथा इब्राहीम लोदी की सेनाएं १२ से १९ अप्रैल तक पानीपत के मैदान में पड़ी रही। अप्रैल २१ को संग्राम आरम्भ हुआ। इब्राहीम लोदी का साथ ग्वालियर के राजा विक्रम ने दिया था। इब्राहीम लोदी तथा राजा दोनों ही युद्ध-क्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुए। इब्राहीम लोदी के १५ हजार सैनिक मारे गये। जिस स्थान पर वह मरा पड़ा था, वहाँ ६ हजार सैनिकों की लाशें पड़ी थीं। लोदी की सेना में १ लाख सैनिक थे। बाबर के पास १२ हजार सैनिक थे। लोदी के १५ हजार सैनिक मारे गये। बाबर का एक सैनिक इब्राहीम लोदी के आठ सैनिकों के अनुपात में ठहरा था। बाबर पश्चिमी आधुनिक युद्ध-प्रणाली सीख चुका था। उसके पास आधुनिकतम तोपखाना था।

बाबर को राणा साँगा तथा मेदिनी राय चन्देरी का सामना करना पड़ा। राणा सांगा ने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध हिन्दू मुसलमानों का संयुक्त मोर्चा बनाया। हसन खाँ मेवाती को साँगा ने पत्र लिखा था—सुलतान इब्राहीम लोदी ने वीर गति प्राप्त की है। मुगलों ने देश पर अधिकार कर लिया है। यदि हम लोग संयुक्त प्रयास करें तो मुगलों को जीत सकते हैं। मुगलों का देश पर अधिकार न होने देंगे। प्रतीत होता है कि राणा साँगा समझ गये थे कि बिना दोनों जातियों की एकता के सफलता पाना सम्भव नहीं है। साँगा का यह प्रयास उनकी दूरदर्शिता का परिचायक है।

बाबर का साहस इस भारतीय एकता से टूट रहा था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है—मैंने शाही उपाधि के साथ गाजी शब्द का भी प्रयोग किया। मेरी सेना में ऐसा कोई सैनिक नहीं था जिसका साहस विचलित न हो गया हो। उसने लोगों को अनुप्राणित किया—संसार नाशशील है। अल्लाह हम पर खुश है। इस महान् कार्य का भार उसने हम लोगों को दिया है। अगर मर गये, तो बहिश्त में जगह मिलेगी। जीते रहेंगे तो गाजी होंगे। हमारी विजय ईश्वर के प्रयोजन की पूर्ति करना है। आओ, हम प्रतिज्ञा करें। एक साथ रहेंगे। युद्ध करेंगे। पीछे न हटेंगे। फरवरी ११ सन् १५२७ ई० को उसने काफिरों के खिलाफ जिहाद की घोषणा की।

सैनिकों में धार्मिक उन्माद उत्पन्न करने के लिए १२ मार्च, सन् १५२७ ई० को हिन्दुओं का खुले आम सर काटा। काफिरों को मार कर अल्लाह का

कार्य पूरा किया। सैनिकों का भी कर्तव्य काफिरों को कत्ल करना था। परिणाम यह हुआ कि बाबर की सेना में आत्म-विश्वास लौटा। सब सैनिकों ने कुरान लेकर शपथ खाई। बाबर का अन्त तक साथ देंगे। मार्च १६ सन् १५२७ ई० को फतेहपुर सीकरी से १० मील दूर कानुआ के स्थान पर राणा साँगा से उसकी सेना का सामना हुआ। राजपूत कुलों से कम-से-कम एक-एक योद्धा एक-एक घर से आया था। बाबर की सेना से राजपूतों की सेना सात-आठ गुनी थी। पुरानी रणनीति के कारण राणा साँगा की पराजय हुई। बाबर भारत का सम्राट् बन गया।

बाबर ने दूसरा जिहाद दिसम्बर सन् १५२७ ई० में चन्देरी के मेदनीराय के विरुद्ध किया। चन्देरी में राजपूत सैनिकों ने जौहर किया। बाबर अपने आत्म-संस्मरण में लिखता है—उन्होंने स्त्रियों आदि को मार डाला। मरने का संकल्प किया। नंगे होकर हथियारों के साथ हम पर टूट पड़े। मैंने कुफ्र के गढ़ को इसलाम के घर में बदल दिया। उसने चन्देरी के जौहर को काफिरों का दोजख जाना लिखा है। तिमगा नामक कर उसने मुसलमानों पर से हटा लिया। हिन्दुओं पर कायम रहा।

भूपाल में एक पाण्डुलिपि मिली है। उसे बाबर के हाथों का लिखा बताया जाता है। बाबर का अन्तिम समय का विचार कुछ परिवर्तित होता दिखाई देता है। उसने ईरान से सहायता पाने की आशा से शिया धर्म स्वीकार कर लिया था। जिहाद का नाम लेकर भारत की मुसलिम जनता का समर्थन प्राप्त किया हो तो इसमें भी आश्चर्य नहीं। राणा साँगा ने मुसलमानों से अपील की थी। विदेशियों को भारत से निकाल दिया जाय। भारत में बाबर को जो सबक मिला उससे उसकी विचार-धारा बदल गयी। उसमें लौकिकता का उदय हुआ था। उसने अपनी पीढ़ी के लिए तथाकथित जो वसीयत किया है उसमें लिखता है—

"तुम धार्मिक अन्ध-विश्वास के चक्कर में मत पड़ना। लोगों के धार्मिक विश्वास का आदर तथा विचार रखना, गोवध से बचना, ताकि भारतीय जनता तुम्हारा साथ देती रहे, किसी के धार्मिक स्थान को नष्ट मत करना। इसलाम का प्रचार तलवार से नहीं बल्कि प्रेम तथा उपकार से होगा, शिया सुन्नी के संघर्षों की उपेक्षा करना। उनसे इसलाम कमजोर होगा।"

बाबर ने साम्राज्य का विभाजन अपने पुत्रों में नहीं किया। औरंगजेब

ने अपनी वसीयत द्वारा अपनी सल्तनत अपने पुत्रों में बाँट दी थी। वह सफल न रहा। बाबर ने पूर्ण उत्तराधिकार हुमायूँ को दिया था।

हुमायूँ २२ वर्ष की आयु में सन् १५३० ई० में तख्त पर बैठा। हुमायूँ को भाइयों से युद्ध करना पड़ा। इस अवसर का लाभ उठाकर शेरशाह सूरी ने पठानों का संघटन किया। मुगलों को भारत से निकालो का नारा लगाया। उसने कहा—युद्ध में मुगल पठानों से श्रेष्ठ नही हैं। आपसी झगड़ों के कारण भारतीय सत्ता विदेशियों के अधिकार मे चली गयी है। यदि भाग्य ने साथ दिया, तो मुगलों को भारत से हम निकाल बाहर करेंगे।

शेरशाह ने राणा साँगा के छोड़े कार्य को पूरा किया। हिन्दू, मुसलमान दोनों मिल गये। मुगल सल्तनत भारत से उखाड़ फेंकी गयी। हुमायूँ भाग कर विदेश चला गया। मुगलों को निकालकर शेरशाह ने नवीन व्यवस्था भारत में चलानी चाही। उसने लौकिकता के आधार पर शासन को स्थापित करने का प्रयास किया। उसने हिन्दुओं के प्रति स्नेह तथा सहिष्णुता का व्यवहार आरम्भ किया।

उसने न्याय तथा शासन को साम्प्रदायिकता के शिकंजे से निकाला। उसने कहा—मैं राज्य-प्राप्ति में इसलिए सफल हुआ कि पहले के बादशाहों के मंत्री भ्रष्टाचारी थे। राजा को भ्रष्ट मंत्री तथा न्याय-कर्ता नहीं रखना चाहिए। उसने कितना अच्छा कहा है—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही राजा और बादशाह इसे स्वीकार करते है कि धार्मिक कार्यों मे न्याय सर्वश्रेष्ठ है। वह कहता था—यदि प्रजा के साथ थोड़ी भी कृपा की जाय, तो उससे राजा और शासक को बल मिलता है। अधिक लाभ होता है। राजा और प्रजा का स्वार्थ एक है, वह भिन्न नही है।

शेरशाह ने अपने स्वल्पकालीन शासन में बहुत कुछ किया। उसने बंगाल से पेशावर तक सड़क बनवायी। सड़क पर १७०० सरायों का निर्माण कराया। प्रत्येक सराय में हिन्दू तथा मुसलमानों के लिए अलग स्थान निश्चित थे। प्रत्येक सराय में जल पिलाने के लिए एक ब्राह्मण कर्मचारी रखा गया था। चारपाई, भोजन तथा घोड़ों के लिए दाना-घास का प्रबन्ध था। यात्रियों को सरकार की तरफ से कुछ भोजन भी दिया जाता था। सड़कों के किनारे लखराव अर्थात् फलदार वृक्ष लगाये गये। सन् १५४२ ई० में साम्राज्य को १,१६,००० प्रशासनीय इकाइयों में बाँटा गया। उसने घोड़ों पर नम्बर

लगाने की प्रथा जारी की। कालान्तर में समस्त विश्व में यह प्रथा फैल गयी।

भारतीय रचना तथा निर्माण की भावना सर्वप्रथम शेरशाह में उत्पन्न हुई। वह भारत को राष्ट्रीय राष्ट्र बनाना चाहता था। उसकी यह भावना अंकुरित हुई हुमायूँ की धर्म-निरपेक्ष किवा लौकिक भावना से। पल्लवित हुई अकबर के काल में। उसमें फल लगने लगे जहाँगीर के समय में। शाहजहाँ उस पौधे को सींच न सका। औरंगजेब ने उसे उकठ जाने दिया। पौधा सूखकर गिर गया।

शेरशाह का पुत्र सलीमशाह २५ मई सन् १५४५ ई० में गद्दी पर बैठा। नवम्बर सन् १५५८ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। हिन्दू राज मन्त्री हेमू बन गया। महमूदशाह आदिल (सन् १५५४ ई०) इब्राहीमशाह सूर तथा सिकन्दरशाह इस वंश के राजा हुए हैं।

सात वर्ष के स्वल्पकालीन काल में शेरशाह ने जिस लौकिकता का परिचय दिया उसे सलीमशाह ने और आगे बढ़ाया। उसने अपने पिता की बनवायी हुई सरायों के बीच और एक-एक सराय बनवायी। प्रत्येक सराय में कच्चा तथा पक्का भोजन हिन्दू और मुसलमानों को अलग-अलग मिलने की व्यवस्था की गयी थी।

अमीर उमरा अपने यहाँ पेशेवर रण्डियाँ रखते थे। यह प्रथा उसने तोड़ दी। उसने कर्मचारियों के लिए नकद वेतन की प्रथा चलायी। व्यापारी, किसान, सेना तथा राज-सेवकों के कार्य एवं अनुशासन सम्बन्धी अनेक नियमों को प्रचलित किया। इन आज्ञाओं का प्रभाव पड़ा। काजी और मुफ्ती लोग राज्य मे अपने को ऊपर समझते थे। जनता इनके चंगुल से बच गयी। उनके अधिकार परिमित कर दिये गये। धर्म-सेवकों की अपेक्षा राज्य-सेवकों का अधिकार-क्षेत्र बढ़ गया। शेरशाह तथा उसके पुत्र का मुसलमानी जगत् में अकबर के पूर्व लौकिक राज्य के गठन में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

हुमायूँ की परेशानियों के बीच १५ अक्तूबर सन् १५४२ ई० को अकबर पैदा हुआ। उसका नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा गया। फरवरी १४ सन् १५५६ ई० को अकबर पिता की गद्दी पर बैठा। हेमू ने हिन्दू मुसलमान दोनों की सम्मिलित सेना के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। उस समय अकबर जालंधर में था। हेमू ने अपना सिक्का चलाया। अकबर का अभिभावक बैरमखाँ था। नवम्बर ५ सन् १५५६ ई० को हेमू तथा अकबर की फौजों

का सामना हुआ। हेमू स्वयं हाथी पर सवार चार हजार घुड़सवारों के साथ युद्ध कर रहा था। उसकी आँख में बाण लगा। वह हौदे में गिर पड़ा। लोगों ने समझा राजा मर गया। भगदड़ हुई। मुगलों को अनायास विजय प्राप्त हो गयी। हेमू पकड़ा गया। उसकी हत्या कर दी गयी। अकबर ने दिल्ली, आगरा, मेवाड़, अजमेर, ग्वालियर तथा जौनपुर पर विजय प्राप्त कर ली। सन् १५६१ ई० में बैरम खाँ की हत्या मक्का जाते समय हो गयी।

सन् १५६८ ई० मे चित्तौड़ का प्रसिद्ध घेरा अकबर ने डाला। राणा साँगा के काल से ही मुगलों के परम्परागत शत्रु चित्तौड़ तथा उदयपुर के राणा हो गये थे। दोनों ही एक दूसरे को समझते थे। उनका यह युद्ध औरंगजेब काल तक चलता रहा। महाराणा प्रताप से चिरस्मरणीय युद्ध हुआ। एक ओर भारत की प्राचीन परम्परा के प्रतीक महाराणा प्रताप और दूसरी ओर एक नवीन भारतीय परम्परा चलानेवाले अकबर थे। दोनों ही महान् थे।

सन् १५६२ ई० में अकबर ने आमेर के राजा भारमल की पुत्री से विवाह किया। अगस्त ३० सन् १५६९ ई० को सलीम अर्थात् जहाँगीर का जन्म हुआ। सन् १५७३ ई० में उसने जोधाबाई से विवाह किया। सन् १५७६ ई० में हल्दी-घाटी का प्रसिद्ध संग्राम हुआ। सन् १५८६ ई० में राणा प्रताप ने मेवाड के अनेक भागों पर पुनः अधिकार कर लिया। सन् १५८९ ई० में अकबर ने काबुल की यात्रा की। सन् १५९५ ई० में अकबर और अहमदनगर की रानी चाँदबीबी का डटकर मुकाबला हुआ। सन् १५९७ ई० में महाराणा प्रताप दिवंगत हुए। सन् १५९९ ई० में चाँदबीबी की मृत्यु हुई। सन् १६०० ई० में असीरगढ़ का पतन हुआ। अकबर के विजय-यात्रा की यह अन्तिम मंजिल थी। उसके पाँच वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १६०५ ई० में वह दिवंगत हुआ।

सन् १५७६ ई० तक अकबर का साम्राज्य विश्व में सर्वश्रेष्ठ तथा समृद्धि-शाली हो गया था। विदेशों में उसकी ख्याति पहुँचने लगी थी। अशोक के पश्चात् जैसे भारत जाग उठा था।

अकबर के विषय में बहुत लिखा गया है। बहुत कुछ प्रकाश में आ चुका है। विषयान्तर बचाने के लिए इतना कहूँगा। शेरशाह सूरी जिस लौकिक राज्य की नींव खोदकर मर गया था उस नींव में अकबर ने ईंटें रखना आरम्भ किया। तत्कालीन बातों के देखते हुए उसका राज्य लौकिक कहा जायगा। जन्मजात संस्कार के कारण मानव में भावुकता आ जाती है। परन्तु अकबर ने विवेक, न्याय एवं बुद्धि का आश्रय लिया। उसने जनता, देश तथा सामा-

जिक समस्याओं का हल किसी पारलौकिक अथवा अव्यक्त शक्ति पर नहीं छोड़ा। उसे अपने कौशल तथा सहृदयता से हल करने का प्रयास किया।

उसने भ्रूणहत्या, बालहत्या, सती तथा गोवध समस्त भारत में बन्द कर दिया। विधवा की समस्या हिन्दुओं में अभिशाप रही है। उसने विधवा-विवाह प्रथा को प्रोत्साहित किया। अपनी २१ वर्ष की आयु में ही उसने जजिया तथा खिराज कर उठा दिया। हिन्दू तथा मुसलमानों के संकुचित दृष्टिकोणों को उदार बनाने का प्रयास किया। उसने इस भेद को मिटाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह पर बहुत जोर दिया।

अक्षत यौवना हिन्दू नारी का सती होना पूर्णतया रोक दिया। यदि हिन्दू अबोधावस्था या प्रलोभनों के कारण मुसलमान हो गया है, तो उसेअपने धर्म में लौटने की इजाजत दी गयी। अकबर ने यह एक बहुत बड़ा कदम उठाया था। विश्व का शायद ही कोई मुसलिम इतना बड़ा कदम दृढ़ता तथा साहस के साथ उठाने का प्रयास करता। यह मुसलिम कानून तथा धार्मिक शरह के सर्वथा विपरीत था। मुसलमान होने के पश्चात् पुनः मुसलिम धर्म छोड़ने की सजा इसलाम ने मौत रखी थी। मुसलिम धर्मानुसार यह अक्षम्य अपराध माना जाता है।

अकबर के चरित्र की दृढ़ता इससे प्रकट होती है। उसने भारतीय मुसलिम जनता तथा विदेशी मुसलिम जगत् की किंचित्मात्र परवाह न की। उसको इसकी भी चिंता न हुई कि उसके मुसलिम साथी तथा भारतीय मुसलिम जनता विद्रोह कर देगी। उसे तख्त तथा सर दोनों से हाथ धोना पड़ता।

अकबर ने प्रत्येक व्यक्ति को धर्म परिवर्तन की स्वतंत्रता दे दी। यदि कोई हिन्दू स्त्री किसी मुसलमान से प्रेम करने लगे, तो उसे मुसलमान को न देकर उसके परिवार में भेज दिया जाता था। यही व्यवस्था उसने मुसलिम स्त्री के लिए भी जारी की। मुसलिम शरियत तथा इसलाम के प्रचार की दृष्टि से उसका यह कार्य मुसलिम हित विरोधी कहा जायगा। यह न्यायपूर्ण कार्य था। उसको कानूनी रूप देने से वह न हिचका।

हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर मुसलिम राज्यों ने कर लगाया था। उसका तर्क यह दिया गया था कि तीर्थयात्रा में हिन्दू बुतपरस्ती अर्थात् मूर्तियों की पूजा करते हैं। मुसलिम धर्म में मूर्तिपूजा गुनाह है। इस गुनाह के दण्ड से बचने के लिए उसके एवज में हिन्दुओं पर कर लगाया गया था।

अकबर ने यह कर उठा दिया। प्रत्येक धर्म माननेवाले को छूट दी गयी, कि वह अपने धर्मानुसार चाहे जिस प्रकार उपासना करे अथवा तीर्थ-यात्राओं पर जाय। नये मन्दिर तथा देवस्थान बनाने का हिन्दुओं को हुक्म नहीं था। उसने सब को देवस्थान तथा मन्दिर बनाने की स्वतंत्रता दे दी। राजा टोडरमल ने काशी विश्वनाथ का मन्दिर बनवाया। उस मन्दिर को औरंगजेब ने पुनः तोड़ा। वह टूटी अवस्था में आज भी अकबर की सहिष्णुता, लौकिकता तथा औरंगजेब की असहिष्णुता तथा पारलौकिकता की दुखद गाथा उपस्थित करता है।

जहाँगीर अपने आत्मचरित में लिखता है—हमने पिता से पूछा था कि इन मन्दिरों को आपके बनवाने का क्या कारण है? उन्होंने कहा—बाबा, हम लोग बादशाह हैं। बादशाह खुदा की छाया है। जब खुदा ने प्रजा को अपनी कृपा से हमें सौंपा है तो हमें भी चाहिए कि उन पर दया तथा स्नेह करें। हम खुदा की कुल प्रजा को शान्ति के साथ रखते है। किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते।

हमारे पिता सभी धर्मावलम्बियों से मेल रखते थे। हर जाति तथा धर्म के भले और अच्छे पुरुषों से सत्संग करते थे। आवश्यकतानुसार वह हर एक आदमी से मिलते थे। कभी-कभी इस प्रकार के सत्संग में समस्त रात्रि व्यतीत हो जाती थी।

सोलहवीं शताब्दी विश्व में विचार तथा धर्म स्वातंत्र्य के पुनर्जागरण का काल कहा गया है। भारत भी यूरोप से अकबर के नेतृत्व में पीछे न रहा। दो कदम आगे बढ़ गया। यूरोप तथा भारत के सुधारवादी आन्दोलन में एक बड़ा मौलिक अन्तर रहा है। यूरोप में सुधार आन्दोलन खून-खराबी तथा चर्च और राज्य के संघर्ष और जनता की जागृति के कारण हुआ था। भारत में जनता ने सुधार के लिए आन्दोलन नही किया। वह दबी थी। उपेक्षित थी। मुसलिम राजाओं को कोष-खजाना भरने और उनके निरंकुश राजतंत्र की निरंकुशता सहन करने के लिए थी।

अकबर ने जनता का विश्वास प्राप्त किया। उसे उठाया। उसे उपेक्षित न समझकर, उसका आदर किया। उसके जीवन-स्तर को उठाने का प्रयास किया। भारत में सुधार जन जागृति नहीं, अकबर के आदेशों का, उसकी लौकिक भावना का, उसके उदात्त विचारों का परिणाम था। राज्यादेश के रूप में जनता ने सधारों का अभिनन्दन किया। भारत का वह मुसलिम

गुट्ट जो सर्वदा साम्प्रदायिक भावना उभाड़कर षड्यंत्र करता और तख्त उलटा करता था कुछ न कर सका। कारण स्पष्ट था। जनता का विश्वास अकबर को प्राप्त था। उसकी प्रबल शक्ति अकबर के साथ थी। सनातनी मुसलमान, कठमुल्ले, षड्यंत्रकारी पुराने पठान, सर न उठा सके। उनका साहस टूट गया था।

अकबर के राज्यकाल में विद्रोह तथा गृह-कलह नहीं हुआ। जहाँगीर का पिता के विरुद्ध खड़ा होना मुसलिम प्रकृति के स्वभाव का द्योतक था। परन्तु उसे भी अकबर ने स्नेह से निपटा दिया। जनता किसी विद्रोही तथा अकबर के विरुद्ध आवाज उठानेवाले का साथ देने के लिए तैयार नहीं थी। अकबर ने राज्य की भव्य इमारत लौकिक विचारों की एक-एक ईंट जोड़कर खड़ी की थी।

औरंगजेब ने भी अकबर तुल्य पचास वर्ष शासन किया। उसे सम्पत्तिशाली विशाल साम्राज्य मिला था। अकबर ने लड़कर साम्राज्य बनाया था। वह अकबर की बनायी इमारत को सुन्दर, सुसज्जित निवास योग्य न बनाकर इमारत की एक-एक ईंट उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगा। वह इमारत को खंडहर बनाकर मरा। उस खंडहर तुल्य इमारत का जीर्णोद्धार या मरम्मत करने की किसी आनेवाले मुगल बादशाह में क्षमता नही रह गयी। वे अपनी गरीबी में जैसे उस इमारत के मलबे, उसके ईंट, पत्थर, चौखट-दरवाजों को बेचकर गुजारा करने लगे। वह ईंट वहीं तक नहीं, भारत के बाहर बर्मा में बहादुरशाह के रूप में जमीन में गड़ गयी। मालूम होता था, पश्चिमी वायु तुल्य मुगल पश्चिम से आये और पूरब में भारत के बाहर निकल गये।

नौकरियों अर्थात् राज सेवा में अकबर ने भेदभाव नही रखा। उसने बुद्धि, क्रियाशीलता, ईमानदारी और बहादुरी को तरजीह दी। उसने धर्मोन्माद, साम्प्रदायिकता से प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं किया। दीन इलाही चलाने की उसकी एकमात्र मंशा यही थी कि हिन्दू मुसलमान किसी तरह मिलकर एक राष्ट्र, एक जाति के सूत्र में बँध जायँ।

उन दिनों श्राद्ध की बड़ी चाल थी। उसने मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध करने की अपेक्षा यह आदेश दिया कि लोग अपने जीवन-काल में ही श्राद्ध कर सकते हैं। श्राद्ध और विवाह में हिन्दू उजड़ जाता था। गरीब की मौत आ जाती थी। आज भी बहुत से हिन्दू जो प्रायः निःसंतान होते हैं, अपना श्राद्ध

अपने जीवनकाल में कर लेते हैं। उसने आमिष आहार की सीमा बाँध दी। दीन इलाही के सदस्यों को मांस खाना वर्जित था।

साम्राज्य के मुफ्ती सेखुल नबी ने आज्ञा निकाली—भविष्य में धार्मिक विवाद उत्पन्न हो और जिनके विषय में विभिन्न मत रखे जाते हों, तो यदि सम्राट् राष्ट्र की भलाई तथा राजनैतिक दृष्टि से अपने बुद्धि अनुसार कोई निर्णय तथा आदेश जारी करे, तो वह लोगों तथा देश पर समान रूप से लागू होगा। यदि कोई इस प्रकार की आज्ञा प्रसारित करता है, जो देश के हित में है, तो वह राष्ट्र और जनता को मान्य होगा।

अकबर कुरान का विश्वास वही तक करता था, जहाँ तक वह बुद्धिगम्य तथा विवेकपूर्ण थी। राष्ट्र निष्ठा के लिए उसने चार नियम बनाये थे—सम्राट् के प्रति धन, जीवन, सम्मान तथा दीन भी त्यागने के लिए उद्यत रहना।

मुसलमान दाढ़ी रखना अपना फर्ज समझते थे। आज भी अफगानिस्तान में ९८ प्रतिशत लोग दाढ़ी रखते हैं। अकबर ने दाढ़ी मुड़ाने की स्वतंत्रता दे दी। उसने स्वयं अपनी दाढ़ी बनवा ली थी। सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं को दाढ़ी रखने के लिए बाध्य किया था। कितनी विषमता थी भारत के दो सम्राटों मे ?

महात्मा गान्धी के समान वह सर्वधर्म समभाव में विश्वास करता था। जहाँगीर अपनी आत्मकथा में लिखता है—पिताजी प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय के लोगों का सत्संग करते थे। धार्मिक चर्चा में भाग लेते थे। अकबर ने विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्मों के लोगों को एक स्थान पर एक छाते के नीचे एकत्रित किया। उसने खिलजी, तुगलक जैसे सुलतानों के समान किसी खलीफा, मुल्ला अथवा विदेशी मुसलमान से मान्यता न तो चाही और न उनकी किंचित् परवाह की। उसकी दृष्टि हिन्दुस्तान के बाहर कभी नहीं उठी। उसके हृदय में हिन्दुस्तान के अतिरिक्त और किसी देश अथवा धर्मक्षेत्र के लिए स्थान हुआ ही नहीं।

अकबर एक सच्चे नागरिक तथा राष्ट्र के प्रतीकस्वरूप हमारे सम्मुख आता है। उसने लौकिक राज्य के गूढ़ार्थ को समझा था। उसने यह भी समझ लिया था कि अनेक जातियों, धर्मों में पड़े भारत को, किस प्रकार एक सूत्र में बाँधा जा सकता है। उसने भारत का कल्याण लौकिक नीति में ही देखा। उसकी सहिष्णुता तथा उदारता का हमें उस समय परिचय

मिलता है जब उसने अपने सम्बन्धी मानसिंह को दीन इलाही स्वीकार करने के लिए कहा था। मानसिंह ने हिन्दू धर्म की बड़ाई करते हुए, दीन इलाही स्वीकार करना अस्वीकार कर दिया। अकबर ने उनसे जरा भी बुरा नही माना। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह विचार स्वातंत्र्य को कितना महत्त्व देता था।

सलीम अर्थात् जहाँगीर की माँ हिन्दू थी। उसकी शादी राजा भगवान-दास की कन्या मानबाई से १३ फरवरी, सन् १५८५ ई० में हुई थी। विवाह हिन्दू तथा मुसलिम दोनों रीतियों से किया गया था। उससे खुसरू का जन्म हुआ था। उसने सन् १६०४ ई० में आत्महत्या कर ली थी। खुसरो ने अपने पिता के विरुद्ध सन् १६०६ ई० में राज्य के लिए संघर्ष किया। उसकी तथा उसके माता की कब्र खुसरो बाग, इलाहाबाद में है।

जहाँगीर का प्रारंभिक विचार अकबर तुल्य था। कालान्तर में वह बदल गया। जहाँगीर आत्मचरित में लिखता है—हिन्दू स्त्रियों के जलाने के सम्बन्ध मे जो इस मत के आदमियों में प्रचलित है, आज्ञा दी कि, जो स्त्री सती न होना चाहे, उसे न जलाये। गर्भवती स्त्री सती कदापि नहीं की जाय। अन्य के लिए जैसा उनके धर्म के अनुसार उचित हो वैसा करे। कोई एक दूसरे के कार्य मे हस्तक्षेप न करे। इसलिए कि ईश्वर ने हमको अपना साया बनाया है। ईश्वरीय क्रिया समान रूप से सारी सृष्टि में होती है। यह ईश्वरी साया के लिए उचित है कि, वैसा ही हो। संसार का कत्लेआम करना सम्भव नही है। हिन्दुस्तान के ६ भाग के मनुष्यों में पाँच भाग हिन्दू तथा मूर्तिपूजक हैं। बहुत सा व्यापार, खेती, वस्त्र बुनना, कारीगरी तथा अन्य कार्य इन्ही के हाथ में है। यदि चाहे कि सबको मुसलमान बना ले तो सम्भव नही कि, ये सब मारे जावें। यह कार्य कठिन है। अन्त में ईश्वर उन्हें नर्क में दण्ड देगा। मुझे उन्हें मारने से क्या काम है।

बनारस के शेख को शरीअत के भीतर आज्ञापत्र भेजा कि, हिन्दू लोग अपने मन्दिरों में एक प्रकार की पूजा करते हैं। वे वास्तव में खुदा की ओर ध्यान लगाते हैं। अतएव उनके कार्य में बाधा न दी जाय। इसी प्रकार मदर के अन्य अधिकारी लोग भी उसमें हस्तक्षेप न करें।

कहा जाता है कि खुसरो की सहायता गुरु अर्जुनसिंह देव ने की थी। पाँच हजार रुपया दिया था। जहाँगीर ने खुसरो के सभी साथियों को मिर्जा कामरान के बाग से लेकर नगर तक दोहरी खूँटों की पातों में ठुकवा दिया

था। खुसरो अन्धा कर दिया गया। अनन्तर उसकी हत्या कर दी गयी। बुरहानपुर में दफना दिया गया। तत्पश्चात् गहाँगीर की आज्ञा से खुसरोबाग में उसकी माँ के पास उसे गाड़ दिया गया।

गुरु अर्जुनदेव पर २ लाख रुपयों का जुर्माना कर दिया गया। गुरु ने उत्तर दिया—मेरा धन अनाथों और गरीबों का है। यदि तुम्हें धन की आवश्यकता है, तो हमारे पास जो कुछ है उसे ले सकते हो। दण्डस्वरूप यदि किसी अपराध के बदले चाहते है, तो मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। गुरु ग्रन्थ साहब में से हिन्दू तथा मुसलमान विरोधी शब्द निकालने के लिए कहा गया है। मैं उसमें से एक पद भी नही निकालूँगा। असत्य का नाश तथा सत्य का प्रचार हमारा आदर्श है। उसके निमित्त यदि यह शरीर नष्ट हो जाय तो मेरा सौभाग्य होगा।

जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव जी को मृत्युदण्ड दे दिया। मुगल राज्य की स्थापना के पश्चात् यह प्रथम धार्मिक वध किया गया था। मुगल शासन की हवा कुछ बदलने लगी थी। अहमदाबाद के श्वेताम्बर जैन मानसिंह भी दण्ड से बच न सके। खुसरो की सहायता की थी। इतिहास लेखकों ने कहा है कि जहाँगीर ने राजनीतिक कारणों से दण्ड दिया था। उसमें धार्मिक द्वेष की भावना नही थी। वह अपने आत्मचरित में लिखता है—

गोविन्दवाल में व्यास नदी के तट पर अर्जुन नामक एक हिन्दू रहता था। उसने सरल हृदय हिन्दू तथा मूर्ख, अशिक्षित मुसलमानों को अपने आचरण तथा व्यवहार से आकर्षित कर रखा था। अपनी सिद्धता का ढिंढोरा पीट रखा था। वे उन्हें गुरु कहते थे। मूर्ख लोग उसकी पूजा करने और उस पर पूर्ण श्रद्धा दिखलाने एकत्र होते थे। तीन-चार पीढ़ी से इस दुकान को गर्म कर रखा था। कई बार हमारा विचार हुआ कि इस व्यर्थ कार्य को रोक देने अथवा उसे मुसलमान बना ले।

खुसरो इस रास्ते से गुजरा तो हमने अपने पास उसे आने के लिए कहा। खुसरो उसी के रहने के स्थान पर उतरा। उसने खुसरो के साथ अच्छा सलूक किया। उसके माथे पर केसर का अंगुलि चिन्ह (कश्क) लगाया। इसे हिन्दू टीका कहते हैं। शुभ समझते हैं। जब हमने यह सुना, तो उसे अपने पास लाने की आज्ञा दी। उसका घर निवासस्थान तथा सन्तानों को

मुर्तजा खाँ को सौंप दिया। उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर उसको मार डालने का आदेश दिया।

जहाँगीर की दूसरी शादी जगत गोसाईं अर्थात् जोधाबाई के साथ हुआ था। उससे खुर्रम अर्थात् शाहजहाँ का जन्म हुआ था। वह मारवाड़ राजा उदयसिंह की कन्या थी। इस प्रकार शाहजहाँ में लगभग तीन चौथाई हिन्दू खून था।

जहाँगीर का व्यक्तिगत विचार लौकिक था। वह सहिष्णु था। दादी अपने पिता के समान नही रखी थी। उस पर हिन्दू मुसलमान दोनों का प्रभाव था। उसने भी पशु बलि का कुछ दिनों के लिए निषेध कर दिया था। रविवार तथा बृहस्पतिवार को पशु बिलकुल नही काटे जाते थे। फादर टैरी ने लिखा है कि सभी धर्मानुयायियों के साथ सहिष्णु व्यवहार किया जाता है। उनके धर्माधिकारियों का आदर किया जाता है। यदि राज्य के मुसलिम मुल्ला या काजी अथवा कोई धर्माधिकारी खतरनाक साबित होते थे तो उन्हें भी गुरु अर्जुनदेव तुल्य दण्ड दिया जाता था।

चुनार में दरगाह नाम की एक बड़ी इमारत बनी है। उसकी पत्थर की जालियाँ देखने योग्य हैं। सन् १६०६ ई० में जहाँगीर ने पठान शेख इब्राहीम बाबा को चुनार में कैद किया। चुनार में ही उसकी मृत्यु हो गयी। दरगाह में दफनाया गया। वह पठानों को प्रश्रय देता था। जनश्रुति है कि मुगल सहिष्णु नीति का विरोधी था। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का घोर पक्ष-पाती था। जिहाद के नाम पर एक बहुत बडी गोल उसके साथ इकट्ठी हो गयी थी। उसमें पठान ज्यादा थे। राज्य के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। जहाँगीर ने तुरन्त उसे कैद कर, चुनार भेज दिया। शेख अहमद सर-हिन्दी ने मेहदी होने का दावा किया। उसने उसे ग्वालियर में एक हिन्दू के नियन्त्रण में नजरबन्द कर दिया। जहाँगीर साधुओं तथा फकीरों को मानता था। जैन साधु जगरूप का भक्त था। उनके यहाँ समय-समय पर जाया करता था। उसे शान्ति मिलती थी।

सन १६११ ई० में जहाँगीर ने नूरजहाँ से शादी की। मुगल राज की समाप्ति के लिए विष बोया गया। उस विष वृक्ष का बीज थी पार-लौकिकता। नूरजहाँ के साथ विदेशी तथा मुसलिमपरस्ती ने राज्य में प्रवेश

किया। जहाँगीर लौकिक दृष्टिकोण का व्यक्ति था। उसकी शिक्षा-दीक्षा उसी वातावरण में हुई थी। उसका विचार भी लौकिक था। नूरजहाँ के प्रति विशेष आसक्ति तथा प्रभाव के कारण वह उसके हाथों की कठपुतली बन गया।

उसने अपनी आत्मकथा के आठवें जलूसी वर्ष में स्वयं लिखा है कि, पुष्कर में उसने वाराह मूर्ति स्वयं तुड़वायी थी। इसलिए तुड़वायी कि मूर्ति का मुख सूअर अर्थात् वाराह तुल्य था। वह राणा साँगा का बनवाया था। मुसलमान सूअर को हराम समझते है। हिन्दू वाराह रूप में पूजा करते हैं। वही पहाड़ी पर बने एक श्वेत गुम्बद में बनी मूर्ति भी उसने इसी समय तुड़वा दिया। उसकी सुप्त मुसलिम भावना जाग उठी होगी। चाहे विचार जो भी रहे हों मुगल राज्य मे पहली घटना अपने ढंग की हुई। लौकिक प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो गया। मुगलों में मुसलिमपरस्ती घर करने लगी। उसके पोते आलमगीर औरंगजेब के समय वह पूर्णता प्राप्त करती है। इस विचार परिवर्तन के लिए नूरजहाँ के जीवन पर एक दृष्टि डालना आवश्यक होगा।

अकबर के चलाये हिन्दू मुसलिम विवाह तथा सम्बन्ध में भी जहाँगीर ने मुसलिमपरस्ती की छाप लगा दी। अपनी आत्मकथा के जलूसी वर्ष १५ में लिखता है—राजौर के लोग पहले हिन्दू थे। फिरोजशाह तुगलक ने उन्हें मुसलमान बनाया था। वे अब भी राजा कहे जाते थे। जिस प्रकार हिन्दू स्त्रियाँ अपने पति के साथ सती हो जाती है उसी प्रकार इनकी स्त्रियाँ पतियों के साथ कब्र में गड़ जाती थी।...के हिन्दुओं से सम्बन्ध करते हैं। लड़की देते हैं। लेते हैं। लड़की लेना तो अच्छा है। भगवान् न करे लड़कियाँ दी जायँ। हमने आदेश दिया कि जो मुसलमान लड़की देगा उसे प्राण दण्ड दिया जायगा।

ख्वाजा मुहम्मद इरानी तेहरान नगर का निवासी था। खुरासान के सूबेदार मुहम्मद खाँ तकलू का वजीर था। बाद में यज्द का वजीर हुआ। सन् १५७७ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र अब्दुलताहिर तथा गयास बेग थे। गयास बेग अपने दो पुत्र और एक कन्या के साथ भारत के लिए प्रस्थान किया। कन्धार में उसे एक और कन्या हुई। फतेहपुर में वह अकबर के सम्पर्क में आया। दिवान नियुक्त किया गया। रिश्वत लेने में सिद्धहस्त था। अकबर एक बार लाहौर में ठहरे थे। इराक से अली कुली बेग स्तेलू

भारत आया। उसका पालन-पोषण शाह इस्माइल द्वितीय ने किया था। अकबर की सेना में उसे स्थान मिला। उसका विवाह कन्धार में उत्पन्न गयास बेग की कन्या मेहरुन्निसा से कर दिया गया। उसे शेर अफगान की उपाधि दी गयी। वह बंगाल भेजा गया। वहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। किसी षड्यंत्र का शिकार हो गया। कथा है कि जहाँगीर ने नूरजहाँ को हस्तगत करने के ख्याल से उसकी हत्या करवा दी थी।

मेहरुन्निसा अर्थात् नूरजहाँ जहाँगीर की माँ के पास रख दी गयी। उसके पिता गयास को इतमातुद्दौला की उपाधि दी गयी। मार्च सन् १६११ ई० में जहाँगीर ने नूरजहाँ से विवाह कर लिया। उसे नूरमहल तथा बाद में नूर-जहाँ की उपाधि दी गयी। सन् १६२० ई० में शेर अफगान से उत्पन्न अपनी कन्या की शादी नूरजहाँ ने अपने सौतेले पुत्र अर्थात् जहाँगीर के पुत्र शहरयार से कर दी। शहरयार की माता जहाँगीर की अवैध स्त्री थी।

नूरजहाँ विदेशी महिला थी। विदेश में पैदा हुई थी। उसका लालन-पालन भारतीय ढंग से नही हुआ था। उसके लिए भारत के लिए वह स्नेह होना नामुमकिन था, जो एक भारतीय से आशा की जा सकती है। उसका विवाह शेर अफगान के साथ हुआ था। वह भी इराकी था। नूरजहाँ का प्रभाव जहाँगीर पर बढ़ने लगा। सन् १६११ ई० से १६२७ तक भारत का शासन पूर्णतया नूरजहाँ के हाथों में रहा।

सन् १६२० ई० के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य कार्य करना प्रायः बन्द कर दिया था। सब व्यवस्था नूरजहाँ करती थी। नूरजहाँ ने इरानी तथा विदेशी सजातीय मुसलमानों को प्रश्रय देना आरम्भ किया। हिन्दुओं का महत्त्व घटने लगा। उन सभी स्थानों पर जहाँ हिन्दू थे, मुसलमान मुख्यतः इरानी भरे जाने लगे। स्थानीय मुसलमानों का भी महत्त्व घटा।

शुद्ध वैदेशिक मुसलिम भावना भारतीय इसलामी भावना के स्थान पर जमने लगी। लगभग एक शताब्दी में बाबर से जहाँगीर तक मुगल राज्य जमाने की जो कोशिश की गयी थी, हिन्दू मुसलमानों को एक स्थान पर लाने की नीति अपनायी गयी थी, उसमें परिवर्तन होने लगा। अनजाने इरानी सभ्यता अरबी सभ्यता के स्थान पर जमने लगी। अरबी के स्थान पर फारसी को अधिक प्रश्रय दिया जाने लगा।

भारत की ओर से आँखें उठकर ईरान पहुँचने लगीं। सभी ईरानी चीजें पसन्द की जाने लगीं। ईरानी पोशाक, रहन-सहन, बोल-चाल तथा वास्तु एवं

स्थापत्य भी भारतीय के स्थान पर अपना घर करने लगा। किस्से, लतीफे, साहित्य ईरानी फैलने लगे। उसे प्रश्रय मिला। शुद्ध मुसलमानी प्रभाव में शाहजहाँ तथा औरंगजेब दोनों आये। शाहजहाँ ने ईरानियों के समान दाढ़ी रख लिया। उसका अनुकरण औरंगजेब ने किया। उसके पश्चात् तो प्रायः सभी मुगल बादशाहों ने दाढ़ी रखना प्रारम्भ किया। दाढ़ी रखना कट्टर मुसलिम भावना का द्योतक था। अकबर और जहाँगीर ने मिलन की जो नीति अपनायी थी वह दाढ़ी में आकर लुप्त हो गयी। दाढ़ी जैसे विज्ञापन थी। अकबर और जहाँगीर का काल समाप्त हो गया।

मैंने जहाँगीर की आत्मकथा पढ़ी है। उसका अन्तिम भाग उसके हाथों का लिखा नहीं है। अत्यन्त शराब सेवन के कारण हाथ काँपने लगा था। उसने उसे दूसरे के हाथों लिखवाया है। नूरजहाँ के प्रवेश के पश्चात् विचारों में अन्तर पड़ने लगा। उसमें ईरान के बादशाह तथा शाह इस्माइल तथशाह अब्बास से सम्बन्ध बढ़ाने की बहुत कोशिश की। पत्रों से पता चलता है कि जहाँगीर उसे अपना भाई कहकर बड़ी आत्मीयता का परिचय देता था। उसके जीवनी में काफी स्थान ईरान के बादशाह से बातचीत तथा सौगात भेजने आदि में दिया गया है। मनुष्य का वातावरण उसे कैसे प्रभावित कर देता है, जहाँगीर उसका एक उदाहरण है।

जहाँगीर ईरानी प्रभाव में रँगने लगा। वह स्वयं कुछ कर न सका। नूरजहाँ जो करती, उसमें वह हस्तक्षेप भी नहीं करता था। अकबर की नीति त्याग दी गयी। नूरजहाँ के हाथों में शासन की बागडोर आयी। उसकी सौतें अर्थात् जहाँगीर की अन्य स्त्री हिन्दू थीं। उनका विचार, उनका पालन-पोषण शुद्ध राजपूत कलीन वर्ग में हुआ था। दोनों ही सभ्यताएँ जैसे जहाँगीर के महल में आमने-सामने खड़ी थीं। राज प्रश्रय में ईरानियत बाजी मार ले गयी और हिन्दू बातें असभ्य तथा त्याज्य मानी जाने लगीं।

परवेज तथा खुर्रम की माँ हिन्दू थी। खुसरो की भी माँ हिन्दू थी। शहरयार, जिसके साथ नूरजहाँ ने अपनी कन्या की शादी की थी, वास्तव में जहाँगीर की अवैध मुसलिम स्त्री का पुत्र था।

नूरजहाँ दामाद को बादशाह बनाना चाहती थी। यह बात हिन्दू रानियों को कैसे पसन्द हो सकती थी? उसका निराकरण नूरजहाँ ने बाहर भीतर दोनों जगह हिन्दू प्रभाव समाप्त कर करना चाहा। उसे भय था कि राजपूत तथा हिन्दू परवेज, खुर्रम आदि की सहायता रक्त संबंध के कारण करेंगे।

उसने हिन्दू विरोधी गुट महल तथा बाहर दोनों स्थानों पर बनाना शुरू किया। दरबार में हिन्दू राजाओं के स्थान पर ईरानी तथा ईरानी प्रभाव वाले उमराओं का प्रभाव बढ़ने लगा। जहाँगीर इतना विवश हो गया था कि वह चाहकर भी अकबर की नीति न चला सका। जहाँगीर के अन्तिम शासनकाल में चाहे राज्य का शरीर लौकिक रह गया हो परन्तु उसकी आत्मा पारलौकिक हो गयी थी। इस आत्मा ने जहाँगीर के पश्चात् काया भी बदल दी। उसका सबसे बड़ा प्रमाण गोवध है जिसे प्रायः सभी अच्छे बादशाहों ने बन्द किया था। उसने अपने १३वें जलूसी वर्ष में आत्मकथा में लिखा—कांगड़ा दुर्ग देखने गये। काजी, मीर अदल तथा अन्य मुल्ले हमारे साथ चले। ईश्वर की कृपा से एक कोस चलकर हम दुर्ग के ऊपर गये। अजाँ की पुकार, खुतबे का पढ़ना, तथा एक बैल का वध सब हमारे सामने हुआ। जैसा कि दुर्ग के निर्माण-काल से आज तक नहीं हुआ था। उस दुर्ग में मैंने एक ऊँची मसजिद बनाने की आज्ञा दी।

इस बढ़ती पारलौकिकता ने जन्म दिया कट्टरपन को, जन्म दिया असहिष्णुता को, जन्म दिया अविश्वास को और जन्म दिया गृह कलह को। उसका शिकार शाहजहाँ हुआ। उसका शिकार औरंगजेब हुआ और शिकार हुए थे निर्दोष बेचारे वे शाहजादे जिनका एकमात्र दोष यह था कि वे बादशाहों के कुल में पैदा हुए थे। शाहजादा परवेज की मृत्यु अट्ठाइस अक्तूबर सन् १६२६ ई० में हुई। जहाँगीर भी अगले वर्ष सन् १६२७ ई० में चल बसा। वह लाहौर में गाड़ा गया।

दावरबख्त नाम मात्र के लिए जहाँगीर के पश्चात् तख्त पर बैठाया गया। शहरयार लाहौर में सुलतान घोषित कर दिया गया। शाहजहाँ तथा शहरयार की फौजों में संघर्ष हुआ। शहरयार हार गया। बन्दी बना। दावरबख्त, उसका भाई गर्शरा, शहरयार, दानियाल के लड़के तहीमुराद तथा हुशंक सभी मार डाले गये। अकबर के वंश में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं बचा जो तख्त के लिए आवाज उठाता। उत्तराधिकारी होने का अधिकार रखता। फरवरी ४ सन् १६२८ ई० को अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मद साहब किराने द्वितीय की पदवी धारण कर शाहजहाँ गद्दी पर बैठा।

शाहजहाँ ने तीन विवाह किये थे। वे सब मुसलिम स्त्रियाँ थीं। मुगलों में शाहजहाँ ने पुरानी परम्परा हिन्दू स्त्रियों से शादी करने की त्याग दी। उसकी सन्तानें उसकी स्त्री मुमताजमहल से थीं। उसमें भी ईरानी खून

था । इस समय मुगल दरबार का भारतीयकरण के स्थान पर ईरानीकरण पूरा हो चुका था । हिन्दुओं के प्रति वह भाव नही रह गया था, जो बाबर मे जहाँगीर के काल तक रहा । हिन्दू पराजित देश, विजित देश और गौण रूप से दारुल हरब के निवासी समझे जाने लगे । इरानी रीति, रिवाज, रस्म की प्रधानता होने लगी । राजभाषा फारसी हो गयी ।

शाहजहाँ जिस वातावरण में था, उसमें धार्मिक सहिष्णुता, दूसरे धर्मों के प्रति आदर का भाव होना कठिन था । बाबर, हुमायूँ, अकबर ने जो कुछ किया उसके विरुद्ध उसी क्रम से, जहाँगीर शाहजहाँ और औरंगजेब ने आचरण करना आरम्भ किया । यदि प्रथम तीन ने मुगल साम्राज्य को आकाश पर चढ़ाया, तो अन्तिम तीनों ने उसे जमीन पर उतारने का प्रयास किया ।

बाबर ने साम्राज्य जीतने के लिए पारलौकिकता अर्थात् जिहाद का आश्रय लिया । साम्राज्य जम जाने पर उसे स्थायी रखने के लिए लौकिकता को अपना लिया । उसकी नीति का प्रभाव घर और बाहर दोनों तरफ पड़ा । हुमायूँ ने परेशान किये जाने पर भी अपने वंश के किसी वंशज के खून से हाथ न रँगा । उसकी सहिष्णुता, दया तथा उदारता जैसी घर मे थी वैसी बाहर भी फैली । उसके पुण्य उसके उदात्त विचारों का फल अकबर था । उसने कभी प्रतिहिंसा की भावना नही रखी । उसने भाइयो तथा अन्य लोगों के आक्रमणों से अपनी रक्षा का प्रयत्न जरूर किया परन्तु स्वयं आक्रमण नहीं किया । बदला लेने की कोशिश नही की ।

हुमायूँ के विचारों का अकबर पर असर था । हुमायूँ के राज्य को अकबर ने बढ़ाया, सजाया, दर्शनीय बनाया । उसने जनता को आकर्षित किया । जनता में स्फूर्ति आयी । भारतवर्ष भारत कहलाने योग्य हुआ । जहाँगीर में अलौकिकता किंवा पारलौकिकता का प्रवेश उसी प्रकार हुआ जैसे बाबर में लौकिकता का प्रवेश उसके जीवन के अन्तिम अध्यायों में हुआ था । शाहजहाँ में प्रारम्भ से ही मुसलिम भावना के कारण पारलौकिकता आ गयी । ईरानी और मुसलिम उमरावों के कारण वह और बढ़ती गयी ।

परिणाम प्रत्यक्ष है । शाहजहाँ ने पहले अपने घर का संहार किया । निरपराध शाहजादों और कुटुम्बियों की हत्या की । बाहर उसने मन्दिर तोड़ने और मुसलमान बनाने की बातें आरम्भ कर दीं । हुमायूँ ने शाहजहाँ का ठीक उल्टा किया था । उसे अपने पिता से लौकिकता की विरासत मिली थी । शाहजहाँ को विरासत मिली थी जहाँगीर से पारलौकिकता की ।

यदि सब तथ्यों, सब तर्कों और सब इतिहासों को त्याग दिया जाय तो मैं जिस सिद्धान्त की पुष्टि करना चाहता हूँ वह केवल हुमायूँ, अकबर एक ओर तथा जहाँगीर शाहजहाँ की बनवायी इमारतों को दूसरी ओर देखने से स्पष्ट हो जायगा । हुमायूँ काल की जो भी इमारतें शेष रह गयी हैं उनमें भारतीयता मिलेगी । दिल्ली में हौज खास के चौराहे से चिराग दिल्ली को जानेवाली सड़क पर हुमायूँ का बनवाया मदरसा है । टूटी अवस्था में पड़ा है । उसमें कुछ शरणार्थी रहते है । उसे देखकर किसी राजपूत इमारत की याद आती है ।

हुमायूँ ने यों तो बहुत कम इमारतें बनवायी परन्तु जो भी बनवायीं उसमें ईरानी, पठानी, अरबीपन नहीं था । वे भारतीय थी । उनमें लौकिकता मुसकराती थी । उनमें अरबी फारसी के एक शब्द, एक अक्षर लिखे न मिलेंगी । उसकी कब्र पर अल्लाह शब्द अंकित नहीं मिलेगा । किसी भी मुसलमान की कब्र को देखिए उस पर अरबी अक्षर, कुरान की आयतें, अवश्य मिलेंगी । वह उनका धार्मिक संस्कार था । परन्तु हुमायूँ के मकबरे में हुमायूँ की स्त्री तथा उसकी कब्र पर कुछ अंकित नहीं है । यह बताता है कि हुमायूँ का आदर्श क्या था । वह भारत को किस प्रकार लौकिक साँचे में ढालने की चिन्ता में अपने धार्मिक विश्वास का भी ख्याल न किया ।

अकबर काल का स्थापत्य पूर्णतया लौकिक है । उसमें ईरानी या मुसलिम संस्कार नहीं है । उसमें हिन्दू मुसलिम की मिली एक नयी धारा का दर्शन होता है । उसकी समाधि, फतेहपुर, सीकरी, आगरा का किला तथा हुमायू का मकबरा यह चार मुख्य इमारतें उसने बनवायी थीं । उसकी समाधि-स्थल सिकन्दरा में कहीं भी अरबी तथा फारसी अक्षर लिखे नहीं मिलेंगे । कुरान के वाक्य तथा धर्मवाक्य अरबी वा फारसी में सिकन्दरा तथा हुमायूँ के मकबरों की भव्य दर्शनीय इमारतों पर न मिलेंगे ।

शाहजहाँ ने सिकन्दरा को मुसलमानी रूप देने के लिए तोरणद्वार तथा मुख्य समाधि स्थल पर संगमरमर के गुम्बदादि खड़े कर, उन पर अरबी तथा फारसी शब्द अंकित कराकर उनके मुसलिमीकरण करने का प्रयास किया है । आगरा के किले की इमारतों में भी शाहजहाँ ने मोती मसजिद आदि बनवाकर अनेक प्रकार के परिवर्धनों को कराया । उन्हें इसलामी स्थापत्य के रूप देने का प्रयास किया है । अकबर की बनवाई सब इमारतों में एक

जीवन एक नवीन कला फूलती मुसकराती दिखाई देती है। उनकी आत्मा और शरीर दोनों भारतीय थे। लौकिक थे।

जहाँगीर तथा शाहजहाँ ठीक उल्टे चले। अकबर ने यदि पत्थरों में भारतीय प्राण फूंक कर उन्हें एक आदर्श का प्रतीक माना तो शाहजहाँ विदेशी मुसलिम स्थापत्य की मुख्यतया ईरानी की नकल की। धार्मिक भावना को कला में उतारा। उसमें केवल एक वर्ग मुसलिम भावना के लिए खुराक थी। उसके लिए आदर था। उसने भारतीय जनता का रुपया एकपक्षीय कला विकास मे लगाया। जिसमें भारतीयता नाम मात्र के लिए न रही। ताजमहल में भारतीयता क्या है? वह ईरानी कला की प्रेरक प्रतिमूर्ति है। किसी गैर मुसलिम को उससे क्या प्रेरणा मिलेगी। वह एक धार्मिक मजार है। अरबी, फारसी शब्दों की प्रशस्ति है। उसकी सुन्दरता भारतीय जनता के धन और श्रम का श्वेत पत्थरो पर लिखी कहानी है।

शाहजहाँ की इमारतें जहाँ भी कही मिलेंगी, उनमे अरबी, फारसी लेखों की भरमार मिलेगी। उनमें ईरान को भारत में प्रस्तुत करने का प्रयास मिलेगा। उसमें हिन्दुत्व अथवा हिन्दू मुसलिम एकता की ध्वनि निकलती न दिखाई देगी। औरंगजेब में यह पारलौकिकता पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो गयी थी। हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर जहाँ भी उसने मसजिद बनवायी, जहाँ भी सराय बनवाया अथवा औरंगाबाद दक्षिण का बीबी का रौजा सबमें सेमेटिक कला की पूर्णता दिखाने का प्रयास किया गया है।

औरंगजेब लौकिकता का घोर शत्रु था। उसने सर्वप्रथम अपने समस्त कुटुम्बियों जिनका उत्तराधिकार से सम्बन्ध था उनके खूनों से अपने पिता के समान हाथ रँगा। अपने पिता से वह एक कदम और आगे बढ़ गया। पिता को मृत्युपर्यन्त कैद रखा। कैदखाने में उसे मार डालने की कई बार कोशिश की गयी। मरने पर भी इस जाँच के लिए कि वास्तव में वह मरा है या नहीं, लोहे की गरम छड़ों से पैर के तलवों को छुवाया गया। पिता की जिन्दगी उसे चैन और आजादी की नींद न लेने देती थी। उसके मरने के पश्चात् विश्वविदित घोर असहिष्णुता, धर्मोन्माद, पारलौकिकता की अग्नि में वह कूदा। उसके साथ ही उसका पीछा करते कूदे मराठे, राजपूत और सिख। आग बुझी। देखा गया, मुगल साम्राज्य ठण्डा हो चुका है।

शाहजहाँ की नीति राज्य के लिए घातक हुई। मुगल साम्राज्य की नींव में जहाँगीर ने पानी देने के लिए नाली बनाया। नूरजहाँ ने नाली के लिए कुआँ खोदा। शाहजहाँ ने पानी खींचा। औरंगजेब ने पानी नींव में डाल दिया। नींव में खूब पानी भरने लगा। नींव धँसी। मुगल साम्राज्य का ढाँचा लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

पारलौकिक भावनाओं को भारतीय जनता सरलतापूर्वक निगलने के लिए तैयार न थी। हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों में भीतर ही भीतर आग सुलगने लगी। पहला विद्रोह बुन्देलखण्ड में हुआ। यह विद्रोह ऊपर से दबा दिया गया। आग सुलगती रही। छत्रसाल के साथ बुन्देलों ने औरंगजेब का हथियारों से अच्छा स्वागत किया।

जुझारुसिंह वीर बुन्देला वीरसिंह का पुत्र था। बुन्देला विद्रोह सन् १५२८ ई० में आरम्भ हुआ। सन् १६३५ ई० तक चलता रहा। जुझारुसिंह परास्त हुआ। वीरसिंह बुन्देला द्वारा निर्मित ओरछा का मन्दिर शाहजहाँ ने नष्ट करा दिया। जुझारुसिंह का कनिष्ठ पुत्र दुर्गाभान तथा विक्रमाजीत के पुत्र दुर्जनशाल बन्दी बना लिये गये। उन्हें मुसलमान बना लिया गया। शाहजहाँ ने अकबर की उस नीति के ठीक विरुद्ध कार्य किया जिसमें अकबर ने आदेश जारी किया था कि कोई प्रलोभन अथवा जबर्दस्ती मुसलमान नहीं बनाया जायगा। दोनों बच्चों का नाम इसलाम कुली तथा अली कुली रखा गया। जुझारुसिंह के प्रासाद से प्राप्त स्त्रियाँ हरमसरा में दासी बनाकर रख दी गयीं।

जुझारुसिंह के दो अन्य पुत्र उदयभान तथा श्यामदेव गोलकुण्डा में चले गये थे। वे भी पकड़वा मँगवाये गये। जुझारुसिंह तथा विक्रमादित्य जंगलों में चले गये थे। उनकी मृत्यु जंगल में गोड़ों द्वारा हुई। उनका शव ढूँढ़ा गया। शव से मस्तक काट कर शाहजहाँ के पास भेज दिया गया। शाहजहाँ ने उनके मस्तकों का अन्तिम संस्कार कराने के आदेश के स्थान पर, सिहोर दुर्ग के फाटक पर लटकाने की आज्ञा दे दी।

उदयभान तथा श्यामदेव को मुसलमान होने या मृत्यु आलिंगन करने के लिए कहा गया। दोनों युवक वीरों ने धर्म के लिए मरना पसन्द किया। मुसलिम इतिहास लेखकों ने लिखा है—वे दोनों काफिर दोजख भेज दिये गये।

स्पष्ट है कि बाबर, हुमायूं, अकबर तथा जहाँगीर इस प्रकार का व्यवहार न करते। शाहजहाँ प्रतीत होता है, कट्टर मुसलिम प्रभाव में आ गया था। बुन्देला विद्रोह इस अत्याचार के बावजूद दब न सका। बुन्देलखण्ड में आग सुलग उठी। महोबा के वीरवर चम्पतराय बुन्देला ने सन् १६३० ई० से अपना संघर्ष जारी रखा।

मुगल सल्तनत जम गयी थी। भारतीय राजा रक्त सम्बन्धों के कारण मुगलों के रिश्तेदार हो गये थे। नयी परिस्थितियों के अनुकूल वे अपने को जल्द ढाल नहीं सके। उसमें समय लगना आवश्यक था। मुगल साम्राज्य के विरुद्ध खुला विद्रोह करना फतिंगों की तरह जलना था। खुले युद्धों में हारते रहे। उन्हें कुचलने में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी शक्तियां लग जाती थीं।

वीरवर चम्पतराय ने गुरेला युद्ध आरम्भ किया। इस युद्ध-प्रणाली को कालान्तर में मराठे, राजपूत तथा सिखों ने भी अपनाया। दिल्ली के बादशाहों की राजनीति का उत्तर अपनी प्राचीन सरल, साफ रण-नीति से न देकर उन्हीं की नीति से देने लगे। जब यह नीति अपनायी गयी तो जेहाद का नारा, धार्मिक उन्माद, मजहब खतरे में है, आदि का नारा कुछ काम न आया। चम्पतराय के पश्चात् छत्रसाल ने संघर्ष जारी रखा। उसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

राजनीतिक दिशा में लौकिकता को तिरोहित ही नहीं किया गया, अपितु धार्मिक भावनाएं राजनीति पर हावी हो गयी। इतिहासज्ञ शाहजहाँ की धर्मविरोधी प्रवृत्ति का कोई उत्तर नहीं देते कि उसने लौकिकता का त्याग क्यों किया? मैंने जो इसका मनोवैज्ञानिक कारण दिया है वह ठीक है, आत्मा ही जब बदल गयी, तो शरीर का बदलना अवश्यम्भावी था।

सन् १६३३ ई० में उसने आज्ञा जारी की। हिन्दुओं के जितने मन्दिर बन रहे हैं, या करीब-करीब बन चुके हैं सब रोक दिये जायँ। केवल काशी में ही ७६ मन्दिरों का बनवाना रोक दिया गया। मुसलमान के समान हिन्दुओं को वस्त्र धारण करने पर रोक लगा दी गयी। युद्ध बन्दी मुसलमानों को हिन्दू नहीं खरीद सकते थे। यद्यपि मुसलमान उसे खरीदने और बेचने के लिए आजाद थे। बात और आगे बढ़ गयी। किसी कबरिस्तान के समीप कोई हिन्दू अपनी चिता नहीं लगा सकता था।

सन् १६४४ ई० में शाहजहाँ का पुत्र औरंगजेब गुजरात का सूबेदार था। अहमदाबाद के नव चिन्तामन मन्दिर में गाय का वध कर उसे मसजिद का रूप दे दिया गया। शाहजहाँ ने औरंगजेब के इस प्रकार के कार्यों को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। औरंगजेब धर्मान्ध होता गया। उसका उत्तर-दायित्व शाहजहाँ पर भी है। शाहजहाँ ने स्वयं गुरु हरगोविन्द तथा उसके शिष्यों को खदेड़ने में कुछ उठा न रखा। उनकी अमृतसर की सम्पत्ति आदि ले ली गयी। और वे किरतपुर काश्मीर की पहाड़ियों में चले गये जहाँ उनका सन् १६४५ ई० में स्वर्गवास हो गया।

शाहजहाँ की इस धार्मिक प्रवृत्ति के कारण, मुसलमानों का ध्यान अधिक-से-अधिक धर्म तथा तीर्थस्थानों और उनकी यात्रा के लिए आकर्षित हुआ। भारतीय मुसलिम शासक विदेशी मुसलिम तीर्थस्थानों की ओर विशेष आकर्षित नहीं हुए थे। वे भारत की समस्याओं में ही उलझे रहे। शाहजहाँ-नामा से प्रतीत होता है कि मदीना में पैगम्बर साहब की मजार के लिए एक विशाल तथा अत्यन्त सुन्दर दीप जिसका मूल्य २,५०,००,००० रुपया था, बनवाया गया। उसमें गोलकुण्डा से प्राप्त हुआ १,५०,००,००० का हीरा लगा था। मीर सैयद अहमद सैयद बहारी ने उसे लेकर मदीने की यात्रा की। दो बार अरब तीर्थस्थानों के लिए शाहजहाँ ने उसे उपहार भेजा। मक्का के काजी के लिए ५०,००० रुपये की भेंट भेजी गयी। मक्का में खैरात के लिए ६०,००० तथा मदीना में ५०,००० रुपया दिया गया।

बाबर, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के जीवन कालों में कुछ भी विदेशों में खैरात के लिए नहीं भेजा गया। उन्होंने भारत की भलाई तथा यहाँ खर्च करने में ध्यान दिया था। उनकी दृष्टि अरब तथा ईरान की तरफ नहीं गयी। उन्होंने उन्हें कभी अपना आदर्श नहीं माना। अकबर के जीवन-काल में जहाँगीर एक बार उत्तराधिकार के लिए उत्सुक हुआ। अकबर ने उसे दबा नहीं दिया। पितृजन्य वात्सल्य में उसने पुत्र को क्षमा कर दिया। जहाँगीर फिर अन्त तक शान्त रहा।

जहाँगीर के विरुद्ध उसके जीवन-काल में ही चारों पुत्रों ने समय-समय पर विद्रोह किया था। उसे अपदस्थ करना चाहा। उसके पुत्रों की हत्या उसके समय में हुई। बाबर, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर अपने पिताओं की दैविक मृत्यु के पश्चात् ही गद्दी पर बैठे। किन्तु शाहजहाँ अपने वंश का नाश कर खूनी गद्दी पर बैठा था। उसने अपने कुटुम्बियों की हत्या देखी।

उसने अपने पुत्रों की हत्या देखी। उसने अपने से भी उग्र धर्मान्ध मुसलिमपन औरंगजेब में पाया। अपने पुत्र के ही बन्दीगृह में बहुत दिनों तक जीता रहा। कितने ही कष्ट उठाने के पश्चात् मृत्यु ने उस पर ठण्डा हाथ रखा। अपनी आँखों उसने अपनी पारलौकिक नीति का फल देख लिया।

लौकिक राज्य में जनता को राजा के प्रति सहानुभूति तथा राजकार्य में कुछ रुचि रहती है। भूत, वर्तमान, भविष्य का विचार जनता करती है। दैनिक समस्याओं की चर्चा करती है। अलौकिक किंवा पारलौकिक राज्य तथा सब कुछ अव्यक्त के आश्रित रहता है। अव्यक्त अनुमान की सामग्री है। एक कल्पना की वस्तु है। अतएव सब कुछ काल्पनिक रह जाता है। जनता इस कल्पना की निरपेक्ष दर्शक मात्र रहती है। अतएव जब काल्पनिक गिरता है तो वह भी कल्पना का ही एक अंग बन जाता है। शाहजहाँ गिरा। जनता उसके लिए आँसू न बहा सकी। उसे बचाने के लिए औरंगजेब के खिलाफ विद्रोह नही किया। हिन्दू धर्म के प्रति असहिष्णु नीति के कारण हिन्दुओं की सद्भावना खो चुका था। राजपूत राजपुत्रों की हत्या की। उनके साथ बुरा व्यवहार किया। राजपूत उसके लिए क्यों खून बहाते? उसने उनसे ब्याह-शादी का सम्बन्ध त्याग दिया। अतएव केवल अपनी जाति, अपने धर्म का होकर शाहजहाँ मात्र रह गया।

जिस मुसलिम समाज किंवा मुसलिम जाति और धर्म के लिए उसने सब कुछ किया था वे भी चुप बैठ रहे। उन्हें औरंगजेब में उससे अधिक कट्टर मुसलमान, धर्मप्रचारक मिल गया था। वह सन् १६५८ ई० में औरंगजेब का बन्दी बना। मरकर ही जेल से उसकी लाश बाहर निकली। औरंगजेब अपने कुटुम्बियों की हत्या करने तथा षड्यंत्रों में सबसे आगे निकल गया। उसने अपनी बहनों के विरुद्ध भी षड्यंत्र किया। उनकी हत्या करवायी। उसने शाहजहाँ को भी वंशहत्या में मात दे दिया। स्वयं मात खाने का रास्ता भी प्रशस्त करता गया।

पाकिस्तान के एक लेखक ने विश्व के ६ महान् मुसलिम नेताओं में औरंगजेब को भी रखा है। उसका कथन है कि औरंगजेब ने भारतीय मुसलिम जनता के लिए जो कुछ किया, वह किसी भी दूसरे मुसलिम बादशाह ने भारत में नहीं किया। यह एक दृष्टिकोण है। इसलाम के उपदेशानुसार भारत दारुल हरब था। भारत को जितना जल्दी और उतावलेपन से दारुल इसलाम में बनाने का औरंगजेब ने प्रयास किया यह सत्य है कि, उतना उग्र कार्य, किसी दूसरे भारतीय मुसलिम

शासक ने नहीं किया। वह देवाधिराजतन्त्र तथा पारलौकिक राज्य का विचित्र, अत्यन्त कठोर तथा संकुचित रूप उपस्थित करता है।

अकबर ने बिखरे राज्य को जीतकर मुगल साम्राज्य को गौरव गरिमा पर पहुँचा दिया। अलौकिकता का आश्रय लेकर औरंगजेब ने उसे बिखेर दिया। अकबर सोलह वर्ष का युवक था जब गद्दी पर बैठा। बुद्धि परिपक्व नहीं थी। औरंगजेब चालीस वर्ष का प्रौढ़ बुद्धिशील व्यक्ति था। दोनों ने ५० वर्ष राज्य किया। दोनों की शासन प्रक्रिया एक दूसरे से भिन्न थी। एक ऊर्ध्वमुखी था तो दूसरा नतमुखी।

औरंगजेब ५ जून, १६५९ ई० को गद्दी पर बैठा था। उसने अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन, मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर बादशाह गाजी की उपाधि धारण की। उसका स्वप्न भारत को दारुल इसलाम में पूर्णतया परिणत कर पैगम्बर के वचनों को पूरा करना था। मुसलिम धर्मान्ध बादशाहों के छोड़े अधूरे कार्य को पूरा करना था। इसलाम का रक्षक तथा इसलाम का महान् प्रचारक बनना था।

मुसलिम राज्य दैव राज्य है। बादशाह उसकी छाया है। प्रशासन का अस्तित्व केवल मुसलिम धर्म-प्रचार के लिए है। इन विचारों के कारण राज्य की कोई आर्थिक योजना न बन सकी थी। आर्थिक योजना के अभाव तथा शान्ति-काल में इस प्रकार के राज्य का ठहरना कठिन होता है। औरंगजेब ने अपने राज्य को स्थिर रखने के लिए शान्ति को संघर्ष में बदल दिया। मुसलिम जाति का ध्यान हिन्दुस्तान को दारुल इसलाम में बदलने की ओर आकर्षित किया। इसके लिए उसने मरते दम तक कार्य किया। मुसलिम साम्प्रदायिकता का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया जब कि उसने मुसलिम जाति को विशेष अधिकारप्राप्त जाति घोषित कर दिया था। उसने इस सिद्धान्त को मान लिया था कि, मुसलमान सैनिकों को केवल आदेश मानकर, काम करना चाहिए। बाकी की खबर खुदा स्वयं ले लेगा। उसके शासन में दैवाधिराज्य तथा कुलीनतंत्र के जितने दोष थे सब विदेशी शासन की प्रवृत्ति में मिलकर अत्यन्त कुत्सित रूप ग्रहण कर लिये थे। इस प्रकार राज्य कभी राष्ट्रीय राज्य नहीं कहा जा सकता।

पारलौकिक किंवा देवाधिराज राज्य की स्थापना निमित्त विचित्र साधन अपनाये गये। हिन्दू मन्दिरों का ध्वंस तथा उनके स्थानों पर मसजिद निर्माण—जजिया तथा खिराज का पुनः कठोरतापूर्वक जारी करना, राजसेवा में हिन्दुओं

को स्थान न देना, हिन्दू मेलों को बन्द करना, होली आदि सार्वजनिक त्योहारों को सार्वजनिक रूप से न मनाना, हिन्दुओं को अस्त्र-शस्त्र तथा घोडा रखने की मनाही, हिन्दुओं को सुन्दर वस्त्र न पहनने की निषेधाज्ञा, हिन्दू धर्म की शिक्षा लेने तथा देने पर मनाही, हिन्दू व्यापारियों से पाँच प्रतिशत तथा मुसलमान व्यापारियों से ढाई प्रतिशत कर लेने की भेद-नीति।

औरंगजेब स्वयं कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाने मे गौरव का अनुभव करता था। हिन्दू से मुसलमान बने हुए लोगों को खिअलत देता था। नव मुसलिमों को इतना दान दिया जाता था कि, उतना शायद ही किसी बादशाह ने कभी दान दिया होगा।

भारतीय कोष से मसजिदों का जीर्णोद्धार कराया गया। प्रत्येक मसजिदों में इमाम तथा खुतबा पढ़नेवालों को वेतन सरकारी खजाने से दिया जाता था। मुल्लाओं तथा उलमाओ के लिए पेन्शन तथा भत्ता मुकर्रर कर दिया गया। मुसलिम धर्म की शिक्षा लेनेवालों को वजीफा दिया जाने लगा।

सन् १६५९ ई० के अपने फरमान मे काशी के मन्दिरों के विषय में लिखा है—मुसलिम धर्म का यह अनुशासन है कि नवीन मन्दिरों का निर्माण न किया जाय। प्राचीन मन्दिरों को यथावत् रहने दिया जाय। वह आज्ञा सभी मन्दिरों के लिए लागू कर दी गयी अर्थात् किसी मन्दिर का जीर्णोद्धार तथा मरम्मत भी सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था।

उसके सन् १६७० ई० के जिला कड़ा के फरमान मे जाहिर होता है—थट्टा, मुलतान तथा मुख्यतया काशी में मूर्ख पंडित अपनी पाठशालाओं में मूर्खतापूर्ण पुस्तकों की शिक्षा देते हैं। उनके पास दूर-दूर से हिन्दू तथा मुसलमान विद्यार्थी आते हैं—बादशाह ने सूबेदारों को आज्ञा दी है कि हिन्दुओं की पाठशालाएँ बन्द कर दी जायँ। मन्दिर नष्ट कर दिये जायँ। मूर्तिपूजा सम्बन्धी प्रचार तथा शिक्षा पूर्णतया रोक दी जाय। इस फरमान का लक्ष्य भारतीय भाषाओं में शिक्षा देना रोक देना था। केवल फारसी, अरबी या उर्दू के सार्वजनिक रूप से पढ़ने तथा पढ़ाने की इजाजत रह गयी थी।

एक दूसरा फरमान जागीरदारों, थानेदारों, गुमाश्तों, करोड़ियों तथा आमिलों के नाम भेजा गया—दस या बारह वर्ष के अन्दर बने सभी मन्दिरों को नष्ट कर दिया जाय। वे चाहे पक्की ईंटों के बने हों अथवा कच्ची के। पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार रोक दिया जाय। मन्दिर भंग की सूचना काजी की मुहर तथा शेखों के दस्तखत के साथ दरबार में भेजी जाय।

इस फरमान ने छोटे सरकारी अधिकारियों को हिन्दुओं पर अत्याचार करने की छूट दे दी। एक आन्दोलन के रूप में भारत के मन्दिरों का नाश किया जाने लगा। यह बात यहीं तक नहीं रह गयी। सन् १६६५ ई० के नवम्बर मास में गुजरात में फरमान जारी किया गया—हिन्दू दीपावली पर दीपक तथा होली पर होली न जलाया करें।

उसने सन् १६६८ ई० में फिरोज तुगलक के समान हिन्दुओं की तीर्थयात्रा पर रोक लगा दी। सन् १६७१ ई० में खालसी जमीन के कर वसूल करनेवालों में केवल मुसलमान रखे जायँ, आज्ञा दे दी। हिन्दू मुहर्रिरों को सरकारी कार्य-भार से मुक्त कर दिया गया।

सन् १६७४ ई० में गुजरात प्रान्त में धर्मादा अर्थात् धर्म कार्य के लिए छोड़ी गयी हिन्दुओं की चल अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। सन् १६९५ ई० में राजपूतों को छोड़कर, अन्य लोगों को घोड़े की सवारी से रोक दिया गया।

भारत में आतंक फैल गया। अत्याचार, अन्याय, लूट-पाट धर्म-प्रचार के नाम पर होने लगा। भारतीय जनता त्रस्त हो उठी। हिन्दू जाग उठा। इस खतरे का सामना करना उन्होंने अच्छा समझा। सन् १६६९ ई० में जाटों ने विद्रोह किया। सतनामियों ने सन् १६७२ ई० में विद्रोह किया। सिखों पर आक्रमण किया गया। श्री गुरु अर्जुनदेवजी के पुत्र श्री हरगोविन्द ने स्पष्ट कहा—मैं दो कृपाण धारण करता हूँ। एक है आध्यात्मिक कृपाण और दूसरा कृपाण है प्रतीक, लौकिक सत्ता का।

श्री गुरु तेगबहादुर सन् १६६८ ई० में मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र रामराज के साथ मुगलों की तरफ से आसाम के युद्ध में भाग ले चुके थे। पंजाब लौटने पर वे भारतव्यापी औरंगजेब विद्रोह आन्दोलन से अलग न रह सके। उन्हें दरबार में बुलाया गया। गुरुद्वारा शीशगंज के स्थान पर पुरानी दिल्ली लाल किला के सम्मुख कोतवाली के बगल में है उन्हें मृत्यु दंड दिया गया। श्री गुरु ने धर्म के निमित्त महान् आत्मोत्सर्ग किया।

धार्मिक क्षेत्र की यह एक झाँकी मात्र है। भारत में शायद ही कोई गाँव नगर या जनपद बचा हो जहाँ मन्दिर न टूटे हों। लोगों पर नाना प्रकार का अत्याचार मुसलिम धर्म स्वीकार करने के लिए न किया गया हो। औरंगजेब की उपाधि आलमगीर जिन्दापीर हो गयी थी।

राजनीतिक क्षेत्र में हवा कुछ उग्र बही। खुली क्रान्ति तथा विद्रोह की तैयारी हो चुकी थी। औरंगजेब के धार्मिक उन्माद का उत्तर भारत ने राज-

नीतिक अस्त्र से दिया। वह अस्त्र था—मुगल साम्राज्य को समूल नष्ट कर देना। यह भेरीघोष भारत भूमि के कण-कण से मुखरित होने लगा। मराठे दक्षिण में, राजपूत पश्चिम में, बुन्देले पूर्व में, सिख उत्तर में, जैसे दिल्ली शाही को घेर कर समाप्त करने पर तुल गये थे। यह आन्दोलन मुसलिम जाति के विरुद्ध नहीं था। कहीं भी किसी मुसलमान के ऊपर किसी ने हाथ न उठाया। इसका रूप शुद्ध राजनैतिक था। मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिहिंसा की भावना नही थी। भावना थी मुगल राज्य की तत्कालीन नीति के विरुद्ध। वह जितने शीघ्र समाप्त हो उतना ही अच्छा है। भारत का उसी में कल्याण है।

छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, राजसिंह, राठौर वीर दुर्गादास, छत्रसाल, इस महान् क्रान्ति के नेता थे। शिवाजी की मृत्यु अप्रैल ४ सन् १६६४ ई० में हो गयी थी परन्तु उनका छोड़ा काम मराठा जाति ने अपने हाथों में ले लिया। हिन्दू वह जमाना भूल गये थे, जब राजा के मरते ही सेना हथियार रख दती थी। जनता चारों ओर उठ खड़ी हुई थी। औरंगजेब को एक क्षण के लिए भी आराम नही लेने दिया। लोग तुल गये थे। शासन से मुक्ति पाने के लिए।

औरंगजेब ने अपने पुत्र मुअज्जम को लिखते हुए कहा है—मुझे ज्ञान नही कि मैं क्या हूँ? क्या करता रहा हूँ? वास्तविकता तो यह है कि वस्तुतः मैंने शासन नही किया है। किसानों का पोषण भी नहीं कर सका। तुम लोगों का कर्त्तव्य है कि, तुम लोग देखते रहो कि, लोगों का मुख्यतया मुसलमानों का अन्यायपूर्वक वध न किया जाय।

औरंगजेब की विफलता तथा मुगल साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता तथा लौकिकता का त्याग करना था। उसके ठीक विपरीत शिवाजी आदि तत्कालीन नेताओं ने धार्मिकता का आश्रय नहीं लिया। यदि उनमें भी धर्मान्धता आ गयी होती, तो शायद भारत में मुसलमानों का इतिहास कुछ और ही होता। मराठों, राजपूतों, सिखों तथा बुन्देलों के विरुद्ध मुसलिम जनता ने हथियार नहीं उठाया। उनके विरुद्ध किसी प्रकार का आन्दोलन नहीं किया। उनके विरुद्ध कोई सक्रिय कार्य नही किया। इसका एकमात्र कारण भारतीय नेताओं की लौकिक दृष्टि थी।

शिवाजी ने औरंगजेब को जो पत्र लिखा था उससे उनकी लौकिकता कितनी स्पष्ट झलकती है—आपकी आत्मा कैसे इस बात को गवारा करती है कि आप रिआया पर जजिया लगाकर उसकी तकलीफों को बढ़ा रहे हैं? आपकी यह

अपकीर्ति पश्चिम से पूर्व तक फैल जायगी। भारतीय इतिहास साक्षी रहेगा कि भारत का सम्राट् भिक्षुकों के कमण्डल को भी लेना चाहता है। ब्राह्मण, जैन, योगियों, संन्यासियों, वैरागियों, साधुओं, अकिंचनों, उत्पीड़ितों, दुर्भिक्षग्रस्तों से भी जजिया की आकांक्षा करता है। वह भिक्षुकों के कमंडलों पर आक्रमण कर अपनी महान् शक्ति का परिचय दे रहा है।

यदि आप कुरान में विश्वास करते हैं तो उसमें ईश्वर के लिए "रबीउल आलमीन" का संबोधन किया गया है। उसमें कहीं "रबीउल मुसलमीन" अर्थात् वह केवल मुसलमानों का ईश्वर है, नहीं प्रयोग किया गया है। हिन्दू और इसलाम केवल शब्दों के भेद हैं। वे अनेक प्रकार के रंग हैं। इनको दैवी चित्रकार ने अपने चित्र में जैसे रंग भरने के लिए बनाया है। मसजिद मे उठती अजाँ की आवाज उसी की याद दिलाती है। मन्दिर का घण्टा उसी का स्मरण कराता है। धर्मों के प्रति असहिष्णुता का अर्थ है, कुरान के आदेशों की अवहेलना करना। यदि जनता को उत्पीड़ित करना ही आप अपना धर्म समझते है तो सर्वप्रथम आप उदयपुर के राणा राजसिंह मे जजिया वसूल कीजिए। वे हिन्दुओं के नेता हैं। उसके पश्चात् मुझसे जजिया वसूल करना कठिन नहीं होगा। चींटियों और मक्खियों के मसलने में वीरता नही है।

श्री गुरु गोविन्दसिंह जी ने औरंगजेब को जो पत्र लिखा था वह कितना हृदयस्पर्शी है—"ईश्वर को पहचानना तुम्हारा कर्तव्य है। उसने दूसरों को सताने की तुम्हें आज्ञा नहीं दी है—किसी पर तलवार का वार जुल्म के साथ न कर, अन्यथा तू ऊपर से आनेवाली कृपाण के प्रहार से बच न सकेगा। क्या जीवन का पौरुष कुछ ज्योतियों को बुझा देने में है? तुम्हें अपनी सेना तथा धन का भरोसा है। मेरा सहारा परमेश्वर की अनुकम्पा है। तुम्हें अपने साम्राज्य पर गर्व है। मुझे अपने भगवान् का अभिमान है। यह कारवाँ सराय चन्दरोजा है। हमेशा लोग उसे छोड़कर आते-जाते रहते हैं। दुर्बलों को मत सताओ। अपने राज्य की जड़ मत खोदो।"

औरंगजेब के पुत्र अकबर की कन्या जब राजपूतों के हाथों में पड़ गयी तो दुर्गादास राठौर ने उसका प्रबन्ध अपनी कन्या तुल्य किया। उसे सन् १६९४ ई० में शाही दरबार में सम्मान के साथ भेज दिया। यहीं तक नहीं जब तक वह राजस्थान में रही उसकी धार्मिक शिक्षा का पूरा प्रबन्ध किया गया था।

चारों मुगल सम्राटों ने १४७ वर्ष शासन किया। उनका औसतन शासन काल ३७ वर्ष का रहा। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र शाह

आलम ने बहादुरशाह के नाम से राज्य सम्हाला। काश्मीर के राजा राजौरी की कन्या नवाब बाई से विवाह किया था। पिता की मृत्यु के पश्चात् सन् १७०७ ई० में गद्दी पर बैठा। उसे उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा। जून १६ सन् १७०७ ई० के जाजू के युद्ध में राजकुमार आलम परास्त हुआ। उसकी विधिवत् हत्या कर दी गयी। कामबक्स ने भी दक्षिण में विद्रोह किया। सन् १७०९ ई० में उसकी भी लीला समाप्त कर दी गयी।

उसने राजपूतों, सिखों तथा मराठों से सम्बन्ध सुधारने का प्रयास किया। उदयपुर के राणा से उसने सन्धि कर ली। अकबर के समय राजपूतों को जो सुविधाएँ थीं, सब पुनः दे दी गयीं। उनका विजित देश उन्हें वापस दे दिया गया। शिवाजी के नाती शाहू को मुक्त कर दिया गया। बन्दा वैरागी के नेतृत्व में सिखों ने बादशाह के विरुद्ध हथियार उठाया। सन् १७१२ ई०में उसकी मृत्यु हो गयी। वह यदि कुछ दिन और जीता रहता तो बहुत कुछ करता। बहादुरशाह ने सन् १७१२-१७१३ ई० तक शासन किया। फरुखशियर ने सन् १७१३-१७१९ ई० तक शासन किया। उसका विवाह राजा अजितसिंह की कन्या से हुआ था।

फरुखशियर के मरते ही राजपूत लोग विधवा को जोधपुर वापस ले गये। उसका मुसलमानी वस्त्र उतार दिया गया। मुसलमानी नौकर निकाल दिये गये। वह हिन्दू नारी की तरह जीवन व्यतीत करने लगी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि मुगल शासन कितना शक्तिहीन हो गया था। फरुखशियर ने जजिया तथा खिराज कर हिन्दुओं पर से उठा दिया।

निजामुल मुल्क हैदराबाद राज्य का संस्थापक, जब मुगल बादशाह का वजीर हुआ, तो उसने पुनः जजिया लगाने की कोशिश की। अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया। मथुरा में मन्दिरों को नष्ट किया। यह मुसलिम सत्ता का भारत में अन्तिम पारलौकिक कार्य था। अब्दाली लौट गया। मुसलिम शासन भी भारत में समाप्तप्राय हो गया। मराठों के घोड़े अटक से कटक में पानी पीने लगे। भारत में एक नवीन शक्ति उदय हो रही थी। उसके प्रकाश में मुसलमान, मराठा, राजपूत, सिख और बुन्देले अस्त हो गये। वह शक्ति थी अंग्रेज।

चतुर्थ खण्ड

आधुनिक जगत्

—धर्म और लौकिकता

—लौकिक आन्दोलन

—आजकल

—भारतीय संविधान

धर्म और लौकिकता

सिक्यूलर शब्द का मूल लैटिन शब्द सैक्यूलरिस है। सेकुलम शब्द का अर्थ किसी युग तथा काल से सम्बन्धित होता है। सैक्युलरिस का अर्थ होता है जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से न हो। मध्ययुग तथा उत्तर लेटिन काल में इस शब्द का बोध उस बात से होता था, जिसका सम्बन्ध ऐहिक जीवन किंवा इस जगत से होता था। इहलौकिक का पर्यायवाची तथा धार्मिक और आध्यात्मिक भावना-विरोधी विचार के लिए प्रयुक्त होता था। धार्मिक अथवा धर्मादा तथा आध्यात्मिक संस्थान से जो सम्पत्ति इहलौकिक कार्य-निमित्त हस्तान्तरित होती थी उसे सेकुलेराइज्ड अर्थात् लौकिक बना लेना कहा जाता था। लौकिकवाद अर्थात् सेकुलरिज्म का प्रयोग सामाजिक जीवन में राजकीय तथा धार्मिक अर्थात् धर्म किंवा चर्च के अधिकार-क्षेत्रों का पृथक्करण माना जाने लगा था। सेकुलर एडुकेशन के सम्बन्ध में भी एक आन्दोलन यूरोप में चला था। उसका अर्थ लौकिक शिक्षा की वह प्रणाली थी जिसका सम्बन्ध धार्मिकता तथा साम्प्रदायिकता से नहीं था।

लौकिकता मानव के भाग्य की मर्यादा उसके वर्तमान जगत् तक ही मर्यादित कर देती थी। ब्रिटेन में इस सिद्धान्त के अनुयायियों का आदर्श दुनिया तथा मानव-कल्याण-निमित्त जीना और मरना था। इसके प्रचारकों के विरुद्ध अनीश्वर-वादी, उपयोगितावादी तथा अज्ञेयवादी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। उन्हें अनीश्वरवादी केवल इसलिए कहते थे कि वे ईश्वर के विषय में चर्चा नहीं करते थे। होली ओक के शब्दों में यह सब धारणाएँ मिथ्या तथा विरोधियों का प्रचार-मात्र थी।

लौकिक सिद्धान्त की रूपरेखा को किंचित् समझ लेना आवश्यक होगा। यह एक आन्दोलन के रूप में ब्रिटेन में उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था। गत अध्यायों में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ऐतिहासिक युगों में लौकिकता की क्या स्थिति प्रमुख देशों के राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन में रही है। भारत में भी आजादी मिलने के बाद, इस आन्दोलन को बड़े पैमाने पर जारी रखना आवश्यक होगा। भारत में प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता आदि को

निरोहित कर, भारत को एक पूर्ण राष्ट्र बनाने में, केवल लौकिक भावना ही हमारी सहायता कर सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से लौकिक भावना एक नैतिक जागृति थी। राजनीतिक तथा ऐतिहासिक पूर्वगामी दृष्टियों से यह धर्म नैषेधिक दृष्टि रखती थी। इसका उदय राजनीतिक परिस्थितियों तथा दार्शनिक प्रभावों के कारण हुआ था। सन् १८३२ ई० में ब्रिटेन के सुधार-विधेयक के सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद चला था। उस विवाद में कुछ बातें जनता के सम्मुख आयीं। उनमें मुख्यतया, धनी प्रभावकारी वर्गों की स्वार्थपरता, राजनीतिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के विचारों का अविवेकपूर्ण विरोध, धर्मशास्त्र के जड़ सिद्धान्तों के प्रति जनता का क्षोभ आदि प्रमुख बातें थीं। यह एक प्रकार का प्रगतिशील तथा विरोध प्रकट करनेवाला आन्दोलन था। यथार्थवादी दर्शन जगत् को देने का एक प्रयास था।

विचार स्वतंत्रतादि की ओर दार्शनिक मार्ग से बढ़ने के लिए अनेक संस्थाएं उस समय अस्तित्व में आयी। जेम्स मिल तथा जरमी बेन्थम के एसोशिएनिस्ट स्कूल की स्थापना हुई। रिचार्ड कार्टेल तथा पेन के अनीश्वरवादी विचारों के विरुद्ध उसकी स्थापना हुई थी। इस यथार्थवाद ने ब्रिटिश उपयोगितावादियों को जो वास्तव में लौकिकवादी थे प्रभावित किया। यह आन्दोलन सन् १८४९ ई० में आरम्भ हुआ। इसमें श्री ओक के अनुकरण करनेवालों का अधिक हाथ था। उनमें सर्वश्री चार्ल्स साउथ विल, थामस कुपर, थामस पेटर्सन, विलियम चिल्टन प्रमुख थे। लौकिक धारा के इस प्रवाह का समर्थन सर्वश्री चार्ल्स ब्राडला, चार्ल्स वाट तथा डब्लू फूटे तथा अन्य नास्तिकों ने किया। यही कारण है कि लौकिक सिद्धान्तों को लोग ब्रिटेन में नास्तिकों का आन्दोलन कहने लगे थे। परन्तु श्री ओक ने स्पष्ट कहा कि लौकिक सिद्धान्त के समर्थन के लिए किसी का नास्तिक होना आवश्यक नहीं है।

इस समय धर्म तथा विज्ञान दोनों एक दूसरे के सम्मुख खड़े हो गये थे। विज्ञान-प्रवाह जोरों पर था। खोज की जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी। श्री ओक ने इस समय से लाभ उठाया। उन्होंने कहा, लौकिकता का प्रयोजन इस विश्व तथा उसके भाष्य से है। यह मनुष्य का अधिकार है कि ईश्वर-ज्ञानविषयक दोषों, प्रमादों का खंडन अथवा प्रत्याख्यान किया जाय अथवा नहीं। उन दिनों इस प्रकार का विचार वर्जित था। ईश्वर का अस्तित्व मान लिया गया था। शास्त्र-वचन सदा-सर्वदा कयामत तक के लिए शाश्वत थे। यूरोप में इस प्रकार का विचार प्रकट करना खतरनाक था। जिन लौकिकपक्षीय भावों ने इन पर

चर्चा करने की बात उठायी उन्होंने विचार-स्वातंत्र्य को और उदार बनाने का प्रयास किया।

उनके प्रयासों से वह समय आया। कतिपय अन्ध-विश्वासों के आधार पर मान लिये गये सत्य, गलत साबित हुए। चुनौती दी गयी। स्पष्ट कहा गया। स्वतंत्र किंवा स्वतः स्वतन्त्र सिद्धान्त क्या विवेक, सद्गुण तथा बुद्धि आदि का स्थान ले सकते हैं? इस बात का भरोसा दिया गया कि सार्वजनिक सदाचार तथा नैतिकता को केवल जारी ही नहीं रखा जायगा बल्कि उनके गुणों का विकास किया जायगा। यही लौकिक जीवन के नवीन आन्दोलन का रूप था। स्वतंत्र समालोचना के परिणाम तथा स्तुति की धारा का नाम लौकिकता रखा गया। लौकिक समाज विवेक के साथ इस जगत् की समस्याओं पर चर्चा करने के लिए लोगों को अनुप्राणित करता था। इस चर्चा में नास्तिक भी सम्मिलित हो सकते थे।

कतिपय महानुभाव ब्रिटेन में इस प्रकार के स्पष्टीकरण के बावजूद इसे नास्तिकता का समान वाचक मानते थे। चर्च संघर्ष का द्योतक बताते थे। वास्तव में लौकिकता एक नवीन विचाराधारा थी। उसका कलेवर नवीन था। आत्मा वही थी जिसकी धारा इतिहास के साथ बहती चली आ रही थी। लौकिक सिद्धान्त में नास्तिकता का समावेश नही हो सकता। दोनों का विचार-क्षेत्र भिन्न है। एक का सम्बन्ध मानव के समाज, इतिहास और राजनीति से है। दूसरे का उसके निजी जीवन से है। लौकिकता के लिए आवश्यक नहीं है कि वह अज्ञेयवाद, आलोचना अविश्वास तथा अश्रद्धा के साथ चले।

लौकिकता मानव के नैसर्गिक नैतिकता पर आधारित है। वह पारलौकिक बातों तथा धर्म के दिव्यत्व भावनाओं की मर्यादा से अपने को स्वतंत्र रखती है। वह विचार-स्वातंत्र्य और प्रत्येक मानव को अपने अनुसार चर्चा करने तथा सोचने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। वह ऐहिक जीवन की सभी समस्याओं पर बहस करने और किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करती। वह मानती है। वर्तमान जीवन की अच्छाई ही वास्तविक अच्छाई है। उसे खोजना अच्छा है। वह जीवन के प्राण तथा सदाचार का सिद्धान्त है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लौकिकता भौतिक साधनों द्वारा अभिवृद्धि चाहती है। विज्ञान को मानव का प्राप्य भाग्य मानती है। जो अच्छा है, जो हितकर है, उसे और अच्छा और हितकर बनाने की ओर बढ़ती है। इस विषय पर थोड़ा विस्तार के साथ लिखना आवश्यक है।

धर्मों के आलोचनात्मक अध्ययन से, यह बात स्पष्ट हो जायगी कि धर्मों ने गणतन्त्र के विरुद्ध कभी आवाज नहीं उठायी थी। धर्मों के मिशनरी रूप लेने पर उनका सम्बन्ध राजनीति से हो गया था। मिशनरी रूप का अर्थ विधर्मियों को अपने धर्म में मिलाना है। पूर्वधर्म त्यागकर प्रचारक धर्म बहुत सी जातियों ने ग्रहण किया है। विश्व के प्रचारक धर्मों में जिन्होंने धर्म-परिवर्तन पर जोर दिया तथा सबसे अधिक कार्य किया है, वे हैं—ईसाई और मुसलमान धर्म। मुसलिम धर्म को गणतन्त्र पर चलाने का प्रयास किया गया था। वह असफल रहा। ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात अंशतः कही जायगी।

भगवान् बुद्ध गणतंत्र के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने धार्मिक संघ का संघटन गण-तन्त्रीय सिद्धान्त पर किया था। उनकी संघ-परम्परा कालान्तर में ईसाइयों ने अपनाकर उसे चर्च का रूप दिया। भगवान् ने कहा—संघ की शरण जाओ। ईसामसीह ने कहा—चर्च ही हमारा शरीर है।

बुद्धि तथा विचार-स्वातंत्र्य संतुलित चलते है तो लौकिक भावना आपसे आप अंकुरित होती है। लौकिक राज्य सुदृढ़ होता है। असन्तुलन में गण किंवा लोकतन्त्र असफल होने लगता है।

संघवाद व्यष्टि के स्थान पर समष्टि पर जोर देता है। व्यष्टिवादी भावना राजतन्त्र, तानाशाही तथा वर्गों के स्वार्थों में पनपती है। समष्टिवादी भावना में समष्टि के कल्याण की भावना झलकती है। सबके हित का प्रश्न उपस्थित होता है। समष्टिवादी विचार स्वीकार करने पर भी ईसाई तथा मुसलमान जगत् लौकिक राज्य के समीप न पहुँच सके। उसका मुख्य कारण यह था कि उनका दृष्टिकोण सम्प्रदाय तथा धर्म-विशेष भावना से संकुचित हो गया था। उनकी समष्टि में अन्य धर्मावलम्बियों के लिए स्थान न रह गया था। विचारों की अलग दुनिया बनायी गयी। दूसरे की दुनिया जीतने अथवा दूसरे की दुनिया को अपनी दुनिया में आत्मसात् करना पुण्य बन गया। राजसत्ता आने पर सत्ता-धारियों तथा चर्च में सहयोग हुआ। राजशक्ति का प्रयोग अन्य धर्मावलम्बियों को अपने में सम्मिलित करने के लिए प्रलोभन के रूप में किया गया। उसके असफल होने पर शक्ति का प्रयोग किया गया।

भारत में केवल अशोक अपवाद कहे जा सकते हैं। उन पर लांछन लगाया गया है। राज्यसत्ता का प्रयोग धर्म-प्रचार के लिए किया। किन्तु अशोक ने कहीं शक्ति, शस्त्र अथवा प्रलोभन का आश्रय नहीं लिया। शक्ति का प्रयोग किया होता तो शायद भारत तथा कितने ही देश बौद्ध-धर्मावलम्बी हो गये होते। भारत में बौद्ध-धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में ही रहा। जनता की उसके

साथ सहानुभूति थी। वह एक विचारधारा के रूप में प्रचलित हुआ। किन्तु भारतीय जनता उस रंग में रँगकर हिन्दुत्व को नमस्कार नहीं कर सकी। यहाँ एक उदाहरण देना ठीक होगा। महात्माजी ने सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। गान्धीवाद की धारा बह चली। जनता ने सत्याग्रह तथा गान्धीवाद का समर्थन किया। किन्तु सभी लोग न तो सत्याग्रही हो गये और न गान्धीवादी। बौद्ध-धर्म की भी प्रायः यही अवस्था भारत में रही होगी।

बौद्ध-संघ-व्यवस्था रोम तथा यूनान के गणतन्त्रीय प्रणाली से अधिक परिष्कृत, विकसित तथा सरल थी। ब्रिटेन जिसे आधुनिक लोकतन्त्र का जनक कहकर सम्बोधन करते हैं, उससे भी भारतीय गणतन्त्रीय प्रथा प्राचीन थी। ईसाई धर्म में पिता परमेश्वर की सन्तान होने के कारण मानव समान माने जाते हैं। वह समानता ईमान लानेवालों तक ही सीमित है। इस्लाम भी धार्मिक समानता अपनी मिल्लत तथा जमाअत तक ही सीमित रखता है। यह समानताएँ सार्वजनिक नहीं हैं। एक कुटुम्ब एक संघ के लोगों की पारस्परिक समानताएँ हैं। इसलाम तथा ईसाई धर्म के उत्थान काल से अठारहवीं शताब्दी तक सार्वजनिक समानता किंवा मानवीय समानना का स्पष्ट दर्शन नहीं मिलता। गणतन्त्र इसलिए इस काल में सफल न हो सका। क्योंकि परलोक के सुखमय जीवन का विश्वास लौकिक जीवन में समानता को कम प्रेरणा देता है।

उनका प्रारंभिक विचार धार्मिक राज्य किंवा देवाधिराज की तरफ था। देवाधिराज का मुख्याधिष्ठाता पुरोहित, धर्म गुरु, धर्माध्यक्ष अथवा धर्मप्राणप्रिय लोगों का एक वर्ग होता है। एकतन्त्र न होने का कारण वह राजतंत्र नहीं होता था। बहुतों द्वारा शासित होने पर गण अथवा लोकतन्त्र का रूप न लेता था। एक वर्ग-विशेष के शासन के कारण वह अभिजाततन्त्र के अत्यन्त समीप आ जाता था।

देवाधिराजतन्त्र का सिद्धान्त लौकिक राजतन्त्र के सर्वथा विपरीत है। जहाँ अथवा जिस देश अथवा राष्ट्र में एक ही सम्प्रदाय के लोग हों, वहाँ वह समस्या उपस्थित नहीं करता। परन्तु जहाँ एक ही धर्म, अनेक उपधर्म, पन्थ तथा सम्प्रदाय हों अथवा जहाँ रहनेवालों में विविध धर्मावलम्बियों की काफी संख्या हो, वहाँ यह विचित्र समस्या उपस्थित कर देता है। एक ही राष्ट्र में दो-तीन धर्मावलम्बियों का प्रबल अल्पमत हो, वहाँ यदि एक धर्मावलम्बी के हाथों में शासन-सूत्र रहता है तो अन्य धर्मावलम्बी सुरक्षा का अनुभव नहीं करते। एक धर्मावलम्बी दसरे को सन्देह की दृष्टि से देखता है। सतर्क रहता है। शासक किंवा

सत्ताधारी वर्ग को उसके अनुयायियों की निष्ठा प्राप्त रहती है। उनसे आपत्ति-काल में समर्थन की आशा रहती है। शासन यन्त्र धर्म-विशेष के लोगों के हाथों में रहता है। शासन में उन्हीं को स्थान मिलता है। इसका मूल कारण भय होता है। संकट काल में अपने लोग काम आयेंगे. इस मानवीय दुर्बलता का शिकार होना स्वाभाविक है। यह बात उस समय और उग्र हो जाती है जब धार्मिक सत्ताधारी शुद्धि या धर्म-परिवर्तन का आश्रय लेते हैं। अपने धर्मानुयायियों की संख्या बढ़ाकर सर्वदा अपने ही अधीन सत्ता रखने का प्रयास करते हैं।

देवाधिराज वही सफल हो सकता है जहाँ जनता अत्यन्त धर्मभीरु हो। सामाजिक तथा आर्थिक की अपेक्षा धर्म की ओर अधिक झुकाव हो। इस प्रकार का देवाधिराज तिब्बत में अपनी पूर्णता प्राप्त कर सका था। मुसलमानों के चार प्रथम खलीफाओं के समय में भी इसका रूप मिलता है। देवाधिराज में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में बहुत कम विषमता होती है।

फिर भी बौद्ध जगत् में सहिष्णुता थी। विचार स्वातंत्र्य था। बौद्ध जगत् ने कभी धर्म-परिवर्तन के लिए शक्ति तथा प्रलोभनों का आश्रय नही लिया। अतएव बौद्ध जगत् में लौकिकता थी। उनके राज्य का रूप लौकिक था। पार-लौकिकता तथा ईश्वर में विश्वास न करने के कारण उनका सर्वदा से झुकाव लौकिक जीवन को ऊपर उठाने में रहा है। उन्हें स्वर्ग-नरक की चिन्ता न थी। उन्हें किसी दैवी शक्ति के प्रसाद किंवा आशीर्वाद की अपेक्षा न थी।

ईसाई तथा मुसलमान जगत् इसके सर्वथा भिन्न था। वहाँ स्वर्ग था। नरक था। सब कामों का कोई देखनेवाला था। सब बातों की साक्षी तैयार रहती थी। वह कयामत किंवा अन्तिम न्याय के दिन काम आती थी। ईश्वर के सम्मुख अपने पाप, पुण्य, विश्वास, अविश्वास, श्रद्धा, अश्रद्धा आदि का हिसाब देना पड़ता था। अव्यक्त शक्ति की कृपा से पाप माफ हो सकता था। नरक से स्वर्ग में या स्वर्ग से नरक में आदमी ढकेला जा सकता था। यह सब बातें ऐसी थीं, जो सरल मन में एक विश्वास जमा देती थीं। धर्म गुरु, धर्म पुरोहित की बात मानने, शास्त्रों की बातों पर अन्धविश्वास करने के लिए, सरल भीरु चित्त बाध्य हो जाता था। बिना विश्वास मुक्ति नहीं। बालकाल से रटता था। ईश्वर है। जहाँ से आये हैं, वहाँ जाना है। नित्य सुनता है। अतएव ईश्वर के प्रसाद, उसका आशीर्वाद पाने के लिए दुर्बल मन व्याकुल हो उठता है।

इस व्याकुलता से लाभ उठानेवालों की कमी नहीं रही है। जनता को जेहाद, क्रुसेड, धर्मयुद्ध तथा अनेक संघर्षों की ओर अनायास प्रवृत्त किया गया

है। जनता को चाहे कुछ लाभ मिला हो या नहीं, परन्तु वर्ग-विशेष इससे फूलता-फलता रहा है। जनता के लिए केवल यह सन्तोष था। उसने भगवान् का आदेश माना। उस पर अव्यक्त की कृपा होगी।

बौद्ध अनीश्वरवादी रहे हैं। बौद्धधर्म मिशनरी होने पर भी यही कारण है कि असहिष्णु न हो सका। उसकी विचारधारा लौकिक सिद्धान्त से मेल खाती रही। आज भी खाती है। लौकिक राज्य का सिद्धान्त बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के विचार के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है—मानव में प्रेम, अन्त-दृष्टि, आचार, जन्म-मृत्यु, भय और अभय का विचार सर्वत्र समान रूप से स्थित है। यही उसकी समता की मौलिकता है। समता का आधार कोई रूढ़ विचार न होकर वास्तविक परिस्थितियाँ होती हैं। इन्हीं वास्तविक परिस्थितियों को मानवोपयोगी बनाना लौकिक राज्य की कल्पना कही गयी है।

भारत पर आक्षेप किया जाता है। वह धर्म-प्रधान देश है। धर्म जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित करता है। विदेशों में बुरी तरह चित्रित किया जाता है। अन्तिम कलंक लगाया जाता है कि धर्म के आधार पर उसका बँटवारा हुआ था। धर्म के आधार पर बँटवारा चाहे कुछ लोग मानें परन्तु यह अधिकार तत्कालीन व्यवस्थापक सभाओं को दिया गया था। प्रदेश चाहे हिन्दुस्तान में रहें अथवा पाकिस्तान में। जिसमें जाना चाहे चले जायँ। यदि प्रदेशों की सीमा बननेवाले दोनों राष्ट्रों से मिलती हो। कानूनी दृष्टि से बटवारा धर्म के आधार पर नहीं हुआ था। यद्यपि मूल उसका धार्मिक ही था।

प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं। संस्कृत में भारतीय ज्ञान भंडार भरा पड़ा है। उसे देवभाषा कहा जाता है। धर्म शब्द का प्रयोग आजकल के अर्थ में पहले नहीं होता था। उसका अर्थ अत्यन्त व्यापक था जिसमें ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, कानून, स्मृति आदि जीवन-सम्बन्धी बहुत-सी बातों का समावेश था। आजकल धर्म का प्रयोग जिसके अर्थ में होता है, उसका प्राचीन काल में मत शब्द में समावेश हो जाता था। अज्ञान के कारण संस्कृत भाषा में जो कुछ लिखा था, लोग उसे ही शास्त्र मानने लगे। ब्रह्मवाक्य मानने लगे। देववाक्य कहने लगे। देवभाषा कहने लगे।

इस दृष्टिकोण में अन्तर लाने की आवश्यकता है। संस्कृत में जो कुछ लिखा वह विचार समुच्चय है। उन्हें देववचन न मानकर ज्ञान-भण्डार कहना अधिक तर्कसम्मत होगा। चाणक्य, शुक्र, वृहस्पति आदि राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्रियों ने सम्प्रदाय, मत-मतान्तरों के आधारों पर भेद नीति व्यवहार करने की भर्त्सना

की। विधर्मी के प्रति सहिष्णुता, उनके विचारों के प्रति आदर, उनके साथ समता तथा उदार व्यवहार करने के लिए कहा गया है।

भारतीय परम्परा की प्रकृति में धर्मनिरपेक्षता तथा लौकिकता है। मुसलमान विधर्मी थे। उन्होंने हिन्दुओं के मन्दिरों को नष्ट किया। लोगों का बल से धर्म परिवर्तन किया। बातें ज्ञात थीं। फिर भी मुसलिम बादशाहों से लड़कर, राज्य लेने पर भी कहीं मराठे, राजपूत, डोगरे तथा सिखों ने मुसलमानों के साथ कुव्यवहार नहीं किया। भारत में एक भी मसजिद नहीं टूटी। हिन्दू धर्म को किसी के ऊपर लादने की कोशिश नही की गयी। जातीयता के आधार पर जनजीवन में भेद नहीं किया। मुसलमानों को वही स्थान अपने राज्यों में मराठों, राजपूतों, डोगरे और सिखों ने दिया, जो अपने जाति को देते रहे। इसका एकमात्र कारण हिन्दुओं किंवा भारतीयों में जन्मजात सहिष्णुता तथा लौकिकता का उदार दृष्टिकोण था।

मुसलिम लीग और श्री जिन्ना, दुःख है कि महात्मा गांधी को हिन्दुओं का नेता कहते थे। किन्तु वह समय आ रहा है, जब विश्व महात्माजी को बीसवी शताब्दी का सबसे बड़ा दार्शनिक मानने के लिए बाध्य हो जायगा। महात्माजी गणतंत्र और लौकिकता के सबसे बड़े समर्थक कहे जायेंगे। उन्होंने गणतन्त्र के लिए एक नवीन दिशा खोज निकाली है। वे अपने समय के महान् लोकतन्त्रीय विचारक हैं।

महात्माजी ईश्वरवादी थे। ईश्वर उनके शब्दों में, उनके राजनीतिक कार्य-कलाप का एक अंग था। उनके आन्दोलनों तथा राजनीतिक विचारों का प्रेरक था। धर्म की ओर झुकाव होने, अपने धर्म को श्रेष्ठ मानते हुए भी, उन्होंने लौकिक राज्य का आदर्श रखा है। उनकी यह विचित्र समन्वयी विचारधारा राजनीतिक विज्ञान को सबसे बड़ी देन है।

उन्होंने राजनीति और धर्म को एक तुला के दो पलड़े की तरह माना है। उन्होंने राजनीति और धर्म को एक में मिला कर मुसलिम लीग की तरह भयंकर गलती नहीं की जिसके कारण मातृभूमि का बँटवारा हो गया। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की कि किसी राज्य का कोई धर्म होता है। राज्य किसी धर्म विशेष का अनुकरण करे। यह उनकी कल्पना के बाहर की बात थी। वह पूर्ण धार्मिक थे। धर्म बिना रह नहीं सकते थे। किन्तु धर्म को उन्होंने व्यष्टि की चीज माना है। इसीलिए वह कहते थे—सर्व धर्म समान हैं। अन्य धर्म के प्रति आदर भगवान का आदर है। धर्म का सम्बन्ध मानव के अन्तर से

है। उसके व्यक्तिगत जीवन से है। उससे राज के कार्यों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

वह कहते थे—लोकतंत्र की प्रेरणा अन्दर से उठेगी। वह बाहर से नहीं आयेगी। लोकतन्त्र की आत्मा हृदय में है। वह बाहर से लाकर बैठायी नहीं जा सकती। लोकतन्त्र मानसिक धारणा है। एक विचार है। उसका सम्बन्ध है मानव के आचार से। बाहर से आचरण लाकर कहीं स्थापित नही किया जा सकता। उसी प्रकार यदि मानव की अन्तरात्मा से लोकतन्त्र की प्रेरणा नहीं उठती तो वह लोकतंत्र प्राणहीन ढाँचा होगा। उसकी प्राणहीन काया अपनी भौतिक सुन्दरता के साथ खड़ी रहेगी। महात्माजी की दृष्टि में पाश्चात्य लोकतन्त्र अपने आदर्श पर स्थिर नहीं रह सका है।

महात्माजी ने लौकिक राज के स्वरूप का दर्शन कराया है। वे कहते हैं—हिंसा पर खड़ा हुआ लोकतन्त्र वास्तव में लोकतन्त्र नहीं है। वह तो शक्तियों का खिलवाड़ है। हिंसा का अर्थ है दबाना। उससे दबनेवाला क्या अपनी स्वतंत्रता रख सकता है? क्या स्वतंत्र विचार रख सकता है? हिंसा का आश्रय लेनेवाला क्या कभी लौकिक भावना रख सकता है? यदि हिंसा का प्रयोग आज अच्छे कार्य के लिए किया जा सकता है तो कल उसी का प्रयोग बुरे कार्य के लिए भी किया जा सकता है?

मौलाना आजाद ने २० फरवरी, सन् १९४९ के अपने अलीगढ़ विश्वविद्यालय के भाषण में कहा था—सिक्यूलर और लोकतन्त्रीय राज्य का प्राण है वह स्वतंत्रता, जो प्रत्येक व्यक्ति को बिना उसकी जात-पाँत और सम्प्रदाय के भेद के काम करने का अवसर देती है।

कराची कांग्रेस का मौलिक अधिकार का प्रस्ताव राजनीतिक जगत् में बहुत महत्त्व रखता है। उसमें लौकिक राज्य के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। कांग्रेस महान् स्वातंत्र्य संग्राम में गांधी-अरविन समझौता इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। शताब्दियों से पराधीन भारतीयों में नैराश्य के स्थान पर आशा का संचार हुआ था। भारत में राष्ट्रीयता की लहर उठी थी। पराधीन तिमिराच्छन्न आकाश से जैसे स्वाधीनता उषा मुसकुरा उठी थी। भारत ने उस उषा का अभिनन्दन किया कराची कांग्रेस के लौकिक राज्य के सिद्धान्त की पुष्पमाला के साथ।

यहाँ हमें राज्य, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, देश आदि के अन्तरों को किंचित् समझ लेने से विषय बोधगम्य होने में सहायता मिलेगी। उक्त शब्द आजकल बहुत

प्रचलित है। समानार्थक भी माने जाते हैं। इनका रूप समयानुसार बदलता रहा है। यूनान, प्राचीन भारत, रोम, मुसलिम शासन में राज्य, राष्ट्र, राष्ट्रीयता का जो स्वरूप समझा जाता था, वह वस्तुतः आज नहीं है।

किसी भी राज्य-गठन के लिए मुख्यतया सुनिश्चित भूखण्ड, जनसंख्या, शासन, प्रभुसत्ता आवश्यक है। कोई राज्य चीन तथा भारत के समान विशाल साठ या चालीस करोड़ का हो सकता है और कोई इटालियन राज्य सत्तमारिनो तुल्य ३८ मील अथवा आधुनिक पेरीनीज की तरह केवल ५००० जन-समुदाय का हो सकता है। समाज का अर्थ बहुत व्यापक है। मानव समाज के अन्तर्गत अनेक राज्य आ जायेंगे। एक ही प्रकार के समाज में अनेक प्रकार की राष्ट्रीयता, राज्य तथा राष्ट्र का समावेश हो सकता है। यूनानी दार्शनिक राज्य को समाज से पृथक् नहीं मानते थे।

राज्य का राष्ट्र होना आवश्यक नहीं है। आस्ट्रिया हंगरी सन् १९१८ ई० तक एक राज्य था। परन्तु एक राष्ट्र नहीं था। जर्मनी, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवेकिया आदि जर्मन भावी राज्य सन् १९३८ से १९४५ ई० तक स्थित थे। परन्तु उनकी राष्ट्रीयता भिन्न थी। उन्हें एक राष्ट्र कहना अनुचित होगा। राष्ट्रीय एकता के अभाव में भी राज्य का रूप प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्र का सम्बन्ध मनोभावना से है। उसका सम्बन्ध जातीय एकता से है। राष्ट्र की राष्ट्रीयता आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एकता की द्योतक है। राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य का विकास १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था। सन् १७७२ से १८२० ई० तक के काल में पर्शिया, रूस, आस्ट्रिया ने पोलैण्ड का विभाजन कर दिया था। सन् १९४० ई० में रूस तथा जर्मनी ने मिलकर पुनः पोलैण्ड बाँट लिया। पोलिश जनता की आत्मा उन दिनों उस आत्मा तुल्य थी जो जीवन आरम्भ करने के लिए शरीर ढूँढ़ती थी। पोलैण्ड राज्य की भावना लोगों के मन में रही। समय आते ही पोलैण्ड राष्ट्रीय राज्य के रूप में संघटित हो जाता था। सन् १७८९ ई० में फ्रान्स की राज्य क्रान्ति हुई। यूरोप का बड़ा भूभाग नेपोलियन ने फ्रान्सीसी राज्य में सम्मिलित कर लिया। सन् १८१५ ई० में वाटरलू के युद्ध में नैपोलियन ने पलायन किया। वियना कांग्रेस ने नवीन राज्यों का निर्माण किया। सन् १८२० से १८७८ ई० के बीच यूरोप में शक्तिशाली राष्ट्रीय राष्ट्रों का उदय इटली, जर्मनी, यूनान, सर्विया, रूमानिया, माण्टी नीग्रो, वेलजियम, हालैण्ड के रूप में हुआ। सन् १८७१ ई० में इटली ने राष्ट्रीय राष्ट्र और राज्य का रूप विक्टर एमानुएल

द्वितीय के राजत्व में गैरीबाल्डी तथा मेजनी के प्रयास से प्राप्त किया। इटली के एकीकरण का प्रभाव जर्मनी पर पड़ा। बिस्मार्क के प्रयत्न से सन् १८६२ से १८९० ई० के बीच अनेक जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मनी का राष्ट्रीय राष्ट्र तथा राज्य बनाया गया। सन् १९०० ई० के पश्चात् नार्वे, स्वीडन, एक दूसरे से अलग होकर नवीन राष्ट्र के रूप बन गये। सन् १९०८ ई० में बलगेरिया, तुर्की से अलग होकर राष्ट्रीय राज्य बन गया। सन् १९१४-१९१८ ई० में जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी तथा तुर्की के राज्य छिन्न-भिन्न हो गये। पोलैण्ड, लुथानिया, लटेविया, एस्टोनिया, फिनलैण्ड, चेकोस्लोवेकिया का निर्माण उत्तर में तथा आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया मध्य यूरोप में तथा दक्षिण में तुर्की साम्राज्य, मिस्र, इराक, सीरिया, लेबनान, जार्दन, फिलस्तीन राज्यों में बँट गया। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के समय यूरोप में २१ राज्य थे। युद्ध के पश्चात् सन् १९२० ई० में २७ राष्ट्रीय राज्य हो गये। हिटलर-मुसोलिनी के समय में राष्ट्रीय राज्यों का नक्शा फिर बदला। इस नक्शे ने पुनः सन् १९४६ ई० में अपना रूप परिवर्तित किया। यहाँ तक कि स्वयं जर्मनी कई राज्यों में विभक्त हो गया।

राष्ट्रीयता के आधार पर राज्यों का गठन साधारणतया हो जाता है। उसका कारण ऐतिहासिक, सामाजिक एकता, जातीयता तथा भाईचारे की भावना है। सन् १९१८ ई० के पूर्व यहूदियों की एक राष्ट्रीयता थी। उनका दो हजार वर्षों से कोई राज्य नही था। उनकी वही राष्ट्रीयता फिलस्तीन राष्ट्र तथा राज्य में परिणत हो गयी। राष्ट्रीयता के निर्माण में जातीय एकता का प्रमुख स्थान रहता है। राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करनेवाली आन्तरिक एकता की भावना है। पाकिस्तान राष्ट्र बनने का एकमात्र कारण मुसलमानों की जातीयता है। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक देश है। परन्तु उस देश में दो राष्ट्र बन गये। राष्ट्रीयना की भावना जब अविकसित रहती है तो जातीयता पर निर्भर हो जाती है। मेजनी ने सत्य कहा है—राष्ट्र के लिए जातीयता आवश्यक नहीं है। आज कोई भी राष्ट्र शुद्ध वर्ण का नहीं कहा जा सकता। मुसोलिनी ने उसे दूसरे ढंग से कहा है—जातीयता केवल मात्र एक भावना है। वास्तविकता नहीं है। स्विट्जरलैण्ड में तीन भाषाभाषी, तीन जाति अर्थात् जर्मन, इटली और फ्रान्स के लोग रहते हैं। फिर भी वह एक राज्य है।

धर्म तुल्य राष्ट्रीयता भी आत्मपरक है। मनोवैज्ञानिक है। मानव की एक स्थिति है। एक भावना शैली है। विचार और जीवन है। भारत में अनेक जातियाँ, अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदाय, अनेक भाषाएँ हैं। परन्तु कौन कहेगा कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। उसकी एक राष्ट्रीयता नहीं है। राष्ट्रीयता वास्तव

में सांस्कृतिक है। उसका राजनीतिक रूप धारण करना एक संयोग ही कहा जायगा। राष्ट्रीयता के अस्तित्व के बिना भी एक राष्ट्रीय राज्य होना सम्भव हो गया है। राष्ट्रीयता केवल राजनीतिक पूर्ववृत्ति की एकता है।

अधिकतर आधुनिक राष्ट्रीयता धार्मिक विश्वास किंवा धार्मिक कृत्यों की एकरूपता पर जोर दिये बिना ही फूल रही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की राष्ट्रीयता, इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेज, इटली इन सभी देशों के लोग आबाद होकर अपनी जाति तथा अपने पूर्व राष्ट्र की राष्ट्रीयता का बिना विचार किये एक राष्ट्रीयता में एक राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा के साथ बँधे हैं। जर्मनवंशी अमेरिकी निवासी की निष्ठा के प्रति एक क्षण के लिए भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। यद्यपि दो विश्व-युद्ध जर्मन जाति के विरुद्ध हुए हैं।

विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार करते हैं। धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भेद भावना उनके राष्ट्रीय जीवन में व्यवधान उपस्थित नही करती। धर्म खतरे में है। यह आज एक अर्थहीन पुकार है। वास्तव में सहानुभूतिक एवं ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली सच्ची धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता है। यहूदियों में धर्म ही उनके राष्ट्रीय जीवन का स्रोत रहा है। परन्तु आज उनका राज्य ऐहिक जीवन पर जोर देता है। लौकिकता की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा है।

भारतीय राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र को हमें आधुनिक दृष्टियों से देखना चाहिए। राष्ट्रीय जागरण के लिए राष्ट्र की भावना निस्सन्देह अनिवार्य है। देश-भक्ति होगी किसकी, यदि देश न होगा ? भारत देश दो भागों में बँट गया। विभाजन की ठेस लगी। नवीन राष्ट्रीय भावना उठी। यह राष्ट्रीयता देशिक भावना के प्रति अतीव निष्ठा का द्योतक है।

अन्तर्राष्ट्रीयता महान् विश्व की कल्पना का आदर्श है। राष्ट्र का समूह ही अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्तराष्ट्र संघ है। बिना अनुशासित राष्ट्रीयता के अन्तर्राष्ट्रीयता सफल न होगी। हिटलर तथा मुसोलिनी यही कहा करते थे। आंशिक दृष्टि से यह चाहे ठीक भी हो परन्तु आदर्श नहीं हो सकता।

बिना राष्ट्र के राष्ट्रभक्ति किंवा देशभक्ति पराधीनता है। यहूदियों में राष्ट्रीयता थी। किन्तु उनका कोई देश नहीं था। फिलस्तीन में वे आबाद हुए। एक देश, एक राष्ट्र के रूप में प्रकट हुए। विश्व के कोने-कोने से फिलस्तीन में जाकर आबाद होनेवाला यहूदी अपने नवीन देश तथा राष्ट्र के प्रति निष्ठावान्

है। उसके लिए सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए तैयार है। बिखरी शक्ति एकत्रित हुई। वे राष्ट्र धर्म में बँध गये। मरुस्थल में नगर खड़े हो गये। जहाँ जल नहीं था, वहाँ पानी बहने लगा। जहाँ खजूर के पत्तों की झोपड़ियाँ थीं, वहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी हो गयीं। विश्व में बिखरे व्यष्टिवादी यहूदी समष्टिवादी हो गये। एकशक्ति बन गये।

किन्तु बात कुछ और ही ओर चली। जहाँ देश-भक्ति पर धर्म का प्रभाव होता है वहाँ राजनीति व्यर्थ हो जाती है। लौकिकता का विकास नहीं हो सकता। वह संघर्ष का कारण बन जाती है। यहूदी राज्य गणतन्त्रीय है। ऐहिक जीवन सम्बन्धी विकासों से समुन्नत है। परन्तु उसका बीज है धर्म। उनके राष्ट्र का उदय ही धर्म के आधार पर हुआ है। यहूदी जाति का कोई देश नहीं है। उसे भी एक देश होना चाहिए। इस विचार के कारण उसका जन्म हुआ है। इस भावना को रखकर ही राष्ट्र का संघटन किया गया है। बीज के अनुसार फल होगा। यहूदी और अरब राज्यों के संघर्षों का यही कारण है, जिसका मूल उनकी अलौकिक भावनाओं में है।

इसका ठीक उलटा उदाहरण अमेरिका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और कनाडा हैं। वहाँ लोग बाहर से जाकर आबाद हुए हैं। उनमें साम्प्रदायिक भावना नहीं थी। उनमें लौकिकता थी। वे एक राष्ट्र, एक देश के सूत्र में बँध गये। फिलस्तीन में आबाद होनेवाला केवल यहूदी है। वह उसका पितृ पवित्र देश है। उसके धर्म का राज्य है। उस पर किसी समय विधर्मियों के कारण खतरा हो सकता है। यह भय ही उनके धर्म पर अतीव आश्रय लेने का कारण है। जहाँ भय होगा वहाँ लौकिक राज्य पनप नही सकता। लौकिक राज्य की नींव अभय एवं मुक्त विचारधारा पर ही हो सकती है।

पाक्स रोमना ने विश्व में राज्य करना चाहा था, ईसाइयत की धार्मिक तलवार हाथों में लेकर। रोमन कैथोलिक चर्च, पवित्र रोमन साम्राज्य तथा मुसलिम जेहादादि के सुहावने नारे के पीछे विचारा धर्म साधन मात्र रह गया था। साध्य जब साधन बन गया तो फिर उसमें अपना क्या रहेगा? जिन लोगों ने साम्प्रदायिक किंवा धार्मिक तत्त्वों को साधन बनाने का प्रयास किया है उन्होंने मानवता तथा स्वतन्त्रता के उठते विचार के सम्मुख समय आते ही मस्तक झुका दिया है।

धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भावना उत्तेजित कर, उससे चाहे तात्कालिक लाभ उठा लिया जाय परन्तु उसमें स्थायित्व आ नहीं सकता। वास्तविक सफलता

मिल नहीं सकती। भारत में मुसलिम लीग ने मुसलिम भावना को उभाड़कर पाकिस्तान बनवाया। कालान्तर में वह स्वयं पाकिस्तान में समाप्त हो गयी। मुसलिम लीग का कहीं पता नहीं है। पाकिस्तान बनानेवालों का कहीं पता नहीं है। पाकिस्तान में लोकतन्त्र का कहीं पता नहीं है।

पाकिस्तान को मजबूत बनाने के लिए उसे इसलामी गणतन्त्र का चोगा पहनाया गया। वह चोगा आपसे आप फट गया। वर्षाकालीन मेघ तुल्य बदलते गणतन्त्रीय नामधारी मन्त्रिमण्डलों के बीच बिजली के समान चमक उठा, सैनिक अधिनायकतन्त्र। पाकिस्तान में मुसलिम लीग के जनाजे पर जनता ने दो बूंद आँसू नहीं बहाये। गणतन्त्र की गड़ती लाश पर दो चार आहें भरना भी उचित नहीं समझा गया। पाकिस्तान ने इस सिद्धान्त को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिया है कि जो किसी शक्ति के आश्रय में शक्ति संचय करना चाहता है, वह कभी साधारण जनता की भलाई का ध्यान नही रखता।

पाकिस्तान के नेताओं ने यही किया। वे गये तो किसी ने उनकी ओर उलट कर देखा भी नहीं। यदि आज पाकिस्तान में हिन्दू होते, लौकिक भावना होती, तो गणतन्त्र फलता, फूलता, उसे मजबूत बनाता। दुर्भाग्य है कि विश्व के किसी भी मुसलिम राज्य ने अपने संविधान में लौकिक विचार को स्थान नहीं दिया है। सभी ने अपने को इसलामिक गणतन्त्र घोषित किया है। परिणाम-स्वरूप मुसलिम जगत् में वास्तविक लोकतन्त्र अथवा गणतन्त्र का दर्शन होना दुर्लभ हो गया है।

पाक्स रोमना के समान पाक्स ब्रिटानिया की ईसाई जनता भी नैतिकता की संरक्षक रही है। उसे प्रोत्साहित करती रही है। ब्रिटेन का इस्टेब्लिश्ड चर्च ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्धित है। ब्रिटेन के राजा का प्रोटेस्टेण्ट होना अनिवार्य है। कोई कैथोलिक मतानुयायी राजा ब्रिटेन के सिंहासन पर बैठ नहीं सकता। यद्यपि लौकिकता की भावना को ब्रटिश पार्लियामेण्ट ने स्वीकार ही नहीं किया है, उसको व्यावहारिक रूप भी दिया है। पर यहूदी और ईसाई जाति में सनातन संघर्ष चला आ रहा है। ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाने की जिम्मेदारी यहूदियों की थी। परन्तु ब्रिटेन में यहूदियों ने राज्य कार्य में सक्रिय भाग लिया। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री डिसरैली कई बार प्रधान मन्त्रित्व अनुदार दल के नेता की हैसियत से कर चुके हैं। भारत के वायसराय लार्ड रीडिंग यहूदी थे। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में भारतीय, यहूदी, रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेण्ट सभी सदस्य बिना जाति विभेद के होते रहे हैं। ग्लेडस्टन जैसे महान् नेता को पराजित कर

अनुदार दलीय सरकार सर्वदा बनानेवाले डिसरैली, यहूदी धर्मावलम्बी ही था। यदि एक दृष्टि से ब्रिटेन अलौकिक राज्य है, तो दूसरी ओर पूर्ण लोकतन्त्रीय होने के कारण वह लौकिक राज्य है। साम्राज्यवादी होने के कारण उसकी तीसरी दृष्टि साम्राज्यवादी है।

मुसलमानों के समान ब्रिटेन में भी ईसाइयों का एक दल है जो विश्वास करता है, कि भारत में ईसाइयों की आबादी बढ़ाकर शासन किया जा सकता है। यह साम्राज्यवादी दृष्टिकोण था। इसने ईसाई जगत्, ईसाई चर्च का प्रयोग किया। उसने मानवीय सभ्यता का आधार ईसाइयत को माना। गैर ईसाई असभ्य हैं; उन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाना है। वे सभ्यता का पाठ पढ़ा सके या नहीं यह बात तो दूर रही, परन्तु उनकी धार्मिकता राजनीति में प्रवेश कर गयी। उनमें एक वर्ग पैदा हो गया। विश्वास करने लगा। भारत को ईसाई बनाना चाहिए। ईसाइयों की संख्या बढ़ानी चाहिए। ईसाई बनकर कोई सद्गुणी होता है या नहीं यह दृष्टि गौण हो गयी है। संख्या-वृद्धि पर जोर दिया गया। उनके कारण त्यागी सच्चरित्र सेवक मिशनरियों के नामों पर कलंक लगने लगा। भारतीय करदाता के कर का एक अंश ब्रिटिश भारतीय सरकार एकलिजियास्टिकल विभाग चलाने के लिए खर्च करती रही।

यह विश्वास बैठाया जाने लगा। ईसाई धर्म का समर्थन जिस राज्य को प्राप्त है अथवा जो राज्य ईसाई शासकों के अधीन है, वही प्रभु ईसा मसीह की पवित्र भूमि है। इस प्रकार की विचारधाराओं ने ईसा मसीह के उदात्त सिद्धान्तों को संकुचित कर दिया। भारत तथा बर्मा में एक बात देखने में आयी। केरेन लोग ईसाई बने। उन्होंने बर्मा गणतन्त्र के अन्दर इसलिए रहना पसन्द नहीं किया कि बर्मा का शासक वर्ग बौद्ध धर्मावलम्बी है। नागा क्षेत्र में ईसाइयों की संख्या अधिक है। उन्होंने भी वही मार्ग ग्रहण किया जो बर्मा में केरेन लोगों ने किया। केरेन ने बर्मा में तथा भारत में ईसाई नागाओं ने गृह-युद्ध सुलगा दिया। यह विचार गलत है। सोलहवीं शताब्दी में ब्रिटेन के राजा हेनरी अष्टम धर्मरक्षक के रूप में माने जाते थे। आज धर्म की रक्षा या प्रसार शक्ति और प्रलोभन से नहीं हो सकता। वह बढ़ सकता है त्याग, अहिंसा और सेवा से। पुरानी बातें पुराने समय की तरह लौटतीं नहीं।

लौकिक आन्दोलन

सन् १४५० से १८०० ई० तक का समय यूरोप में बौद्धिक अन्तर्क्षोभ तथा सांस्कृतिक प्रगति का काल रहा है। इस युग का बढ़ता लौकिकवाद रोमन कैथोलिक चर्च तथा अलौकिकवादियों से बिना संघर्ष किये चुपचाप जैसे प्रोटेस्टेण्टों के सुधारवादी आन्दोलन से चिपक गया। लोग लौकिक तथा हेतुवाद की ओर अनजाने बढ़ने लगे। एक ओर सुधारवादी प्रगति हो रही थी, दूसरी ओर पूंजीवाद भी पैर जमाने लगा था। समय आया। चर्च ने सांसारिक समृद्धि की आकांक्षा स्वतः त्याग दी। सामाजिक तथा मानवीय कल्याणकारी कार्यों तक अपने को मर्यादित कर लिया।

राजनीतिक लौकिकवाद रोमन कानून के ज्ञान के साथ बढ़ने लगा। रोमन कानून तथा न्याय के सिद्धान्त जितने ही अन्धकार में थे, उतने ही प्रकाश में आ गये। बुद्धिवादी वर्ग का झुकाव धर्मशास्त्र की अपेक्षा व्यावहारिक रोमन कानून तथा ज्ञान की ओर झुका। रोम साम्राज्य किस प्रकार बढ़ा? किस प्रकार कायम रहा? मुसलमान रोमन साम्राज्य पर कैसे विजय पा सके? कैसे विजित देशों को वे मुसलमान बनाने में सफल हुए? कैसे ईसाई तथा ईसाई देशों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया? जटिल तथा स्पष्ट प्रश्न जनता के सम्मुख आने लगे। इन प्रश्नों का समाधान शताब्दियों तक यूरोपीय लेखकों की लेखनियों ने कर आधुनिक युग के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

आधुनिक लौकिकवाद फ्रान्स राज्य-क्रान्ति की देन है। समता, भ्रातृत्व तथा स्वतंत्रता का नारा लौकिक राज्य सिद्धान्त का मूलमन्त्र है। भारतीय संविधान के प्रमुख तथा प्रथम पृष्ठ पर घोषणा का केन्द्र स्थान है। लोकतंत्र पर आधारित अमेरिका तथा ब्रिटेन में भी यह अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। फ्रान्स के उस उद्घोष को उस समय दोनों ही देश समझ न सके थे। हमारा संविधान लौकिक है। भारत में लौकिक राज्य के अतिरिक्त और कोई राज्य सफल नहीं हो सका। इसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

यूरोप में श्री जोन जैकब होली ओक ने लौकिकवाद पर बहुत लिखा है। उनके लेख मौलिक और वैज्ञानिक हैं। उन्हें अनेक लोगों ने नास्तिक प्रमाणित

करने का प्रयास किया है। भारत में लौकिक सिद्धान्तवादियों के लिए सनातनियों तथा प्रतिक्रियावादियों ने नास्तिक, धर्मविहीन, मुसलिमपरस्त कहने का फैशन बना लिया है।

श्री होली ओक ने सन् १८४६ ई० में सर्वप्रथम लौकिक विचारधारा जगत् के सम्मुख वैज्ञानिक ढंग से रखी। उनके बाद ही कार्ल मार्क्स ने सन् १८४८ ई० में कम्यूनिस्ट घोषणापत्र निकाला। दोनों ही विचारधाराएँ एक साथ चलीं।

सन् १८५३ ई० तक ब्रिटेन में कोई स्वतंत्र विचारक संघ नहीं था। सर्वश्री पेन, शैली तथा गिबन के लेखों से चर्च सत्ता के प्रति विरोधी भावना जोर पकड़ गयी थी। स्वतंत्र विचारकों की गणना अश्रौनास्तिक तथा नास्तिकों में होती थी।

श्री राबर्ट ओवन तथा उसके शिष्य श्री कारलाइल तथा चार्टिस्ट लोगों ने मुक्त विचार-प्रवाह प्रवाहित करने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास आस्तिकता किंवा ईश्वरवाद की मर्यादा के अन्तर्गत था।

श्री बेन्थम का लौकिक सिद्धान्त दोनों दार्शनिक मिलो आदि ने प्रचारित किया। इसी समय इसी विषय पर श्री स्ट्रास के ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। उसके विचारों से इस विचारधारा को बल मिला।

सर्वश्री कोलरिज कारलाइल तथा इमरसन के विश्व देवैक्यवाद ने अश्रौनास्तिक तथा ईसाइयों के ईश्वरवाद को हलका धक्का लगाया। सर्वश्री साउथवेल, रयाल चिल्टन तथा होली ओक ने यूरोप में सर्वप्रथम लौकिक सिद्धान्त का आन्दोलन उसके लौकिक राज्य सिद्धान्त के नाम से आरम्भ किया।

श्री होली ओक पर आक्षेप किया गया कि उसका आन्दोलन एकेश्वरवाद तथा चर्चों के विरुद्ध चर्चा है। वह प्रच्छन्न नास्तिक है। होली ओक ने उनका उत्तर दिया। उसका सम्बन्ध इस दुनिया से, जिसमें हम रहते हैं, जिसमें हम चलते-फिरते हैं, जो हमारे सामाजिक ढाँचे का मूल कारण है, उसकी अभिवृद्धि तथा लोक स्वार्थ निमित्त विचार तथा कार्य करना है। इस काल की, इस जीवन की परिस्थितियों का आवश्यकतानुसार सुधार, उन्नति तथा व्यवस्था करनी है। मानव जीवन के स्तर को ऊपर उठाने के लिए ठोस कदम बढ़ाना है।

लौकिकवाद स्पष्ट अपील थी। उसका प्रयोजन लोक का ध्यान सांसारिक समस्याओं तथा उसके हल निकालने की ओर दिलाना था; मनुष्य के विषय में चर्चा करना था। किस प्रकार यह ऐहिक जीवन सुन्दर तथा अच्छा हो सकता है—इस पर विवेकपूर्ण दृष्टि से मनन करना था।

सन् १८५१ ई० में होली ओक ने सर्वप्रथम लौकिक शब्द का राजनीतिक अर्थ में प्रयोग किया। वह कहता है—हमें लौकिक शब्द का, लौकिकवादी शब्द का प्रयोग मानव के उस कर्तव्य के लिए करना है जिसका सम्बन्ध इस जीवन से है। पारलौकिक जीवन का सम्बन्ध लौकिक जीवन से नहीं है। मानव भय से, चिन्ता से दुर्बल हो जाता है। उसकी दुर्बलता जब प्रत्यक्ष साधनों से दूर नहीं होती तो वह अव्यक्त का चिन्तन करने लगता है।

इस जीवन के बाद वाले पारलौकिक जीवन की कल्पना चाहे हमें आशांकुर पैदा कर दे, हमें सन्तोष दे, किन्तु इस जीवन की समस्या इस जीवन के कार्यों के कारण ही हल होगी। माला फेरने से परलोक-गमन के पश्चात् स्वर्ग मिल सकता है, ईश्वर की कृपा प्राप्त हो सकती है, परन्तु सुमिरनी के दाने, गेहूँ के दाने नहीं बन सकते। गेहूँ का दाना खेतों से ही आयेगा। समय से जोताई, बोआई, सिंचाई-लवाई करने से ही गेहूँ का भण्डार भरेगा।

अव्यक्त के चमत्कार से शायद हजार दो हजार वर्ष पुरानी गाथाओं में अन्न के भण्डार भरने की बात कही गयी है, परन्तु सर्वसाधारण को नित्य प्रातः-काल रोटी के लिए अन्न चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि परलोक पर विश्वास न किया जाय। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुमिरनी के दानों में जिसका विश्वास है वह सुमिरनी फेंक दे। साधारण बात यह है कि जमीन पर की समस्या जमीन पर खड़े होकर, सुधारी जा सकती है। कल्पना जगत् में उड़कर जमीन की समस्या हल नहीं हो सकती।

मानसिक आहार साहित्य, दार्शनिकों की उड़ान, कवियों की कल्पना, वैज्ञानिकों के प्रयोगों के इतिहासों से मिल सकता है। परन्तु पेट का दैनिक आहार खेत से, चूल्हे से, परिश्रम से, अपने पुरुषार्थ से प्राप्त होगा। यह खेत, यह चूल्हा, यह परिश्रम लोकरंजन के लिए अधिक-से-अधिक कितना सहायक हो सकता है, इसका प्रयोजन ही लौकिकता है।

यदि पारलौकिक किंवा अलौकिक सिद्धान्त स्वर्ग और नरक की कल्पना अज्ञात जगत् में करता है, तो लौकिक सिद्धान्त ऐहिक जीवन के उत्कर्ष की कल्पना दिखाई पड़नेवाले जगत् में करता है। दोनों ही सिद्धान्तों का कार्य-क्षेत्र भिन्न है। दोनों की विचार-शृंखलाएँ भिन्न हैं। यदि दो भिन्न माता-पिता के पुत्र दुनिया में एक साथ रह सकते हैं तो दो जाति, दो धर्म, दो गोत्र, दो वंश, दो विचार के लोग क्या एक साथ नहीं रह सकते? परस्पर संघर्षशील न होकर क्यों न आर्थिक तथा राजनीतिक बातों को अपने अनुरूप बनाने की

कोशिश करे। मैं जहाँ तक समझता हूँ, पं० जवाहरलालजी के लौकिक विचार का भी यही रूप है। यह रूप भारतीय वस्तु परिस्थितियों के कारण कुछ भिन्न हो सकता है। किन्तु मेघ का यह वही जल है जो सरिता, सरोवर, कूप तथा हिमालय शिखर पर भिन्न नाम से सम्बोधित होता है। लौकिक सिद्धान्त की यही वह कड़ी है जो भारतीय वाङ्मय में वैदिक काल किंवा उसके पूर्व से अब तक अविच्छिन्न गति से बहती चली आ रही है। आज भी हमारे जीवन में वह प्रच्छन्न रूप से व्याप्त है।

पं० जवाहरलालजी के विचारों से एक शताब्दी पूर्व पैदा हुए श्री होली ओक का विचार मिलता है। सन् १८४६ ई० में प्रसिद्ध रेवरेण्ड श्री डब्ल्यू० एन० मल्सवर्थ ने होली ओक के सिद्धान्तों के विषय में लिखा था—सिक्युलरिज्म वास्तव में विकल्प धर्म है। धर्मों से इसका संघर्ष होना जरूरी नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता। ईसाइयत के सत्य को भी अस्वीकार नहीं करता। किन्तु यह घोषणा नहीं करता कि वह एक में विश्वास करता है तथा दूसरे में नहीं। इस सिद्धान्त के अनेक समर्थकों ने दोनों को माना है—। यह सिद्धान्त अठारहवीं शताब्दी के स्वतंत्र विचारकों से बहुत कम भिन्नता रखता है। जैसा मैंने दिखाने का प्रयास विगत अध्यायों में किया है।

मिस कोलेट ने अच्छी परिभाषा इस सिद्धान्त की की है—वह विकास तथा स्वतंत्र मानवीय संस्कृति है जो अनुशासित बुद्धि द्वारा प्रशिक्षित है—। लौकिक भावना समझने में लोग असमर्थ रहे हैं। इटली के महान् नेता तथा देशभक्त श्री मेजनी ने सन् १८५६ ई० में श्री होली ओक को लिखा था—आप, महाशय लौकिकवादी हैं। मैं शायद ही इस शब्द का अर्थ समझ सकूं। मुझे सब कुछ अर्थहीन मालूम होता है। समझ में बात नहीं आती।

श्री मेजनी महात्मा गान्धी के समान धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वे धर्म एवं राजनीतिक विचारों को अलग नहीं रख सके। लौकिक राज्य के सिद्धान्त को वे पूर्ण नहीं मानते थे। उनकी धारणा थी कि लौकिकता नास्तिकता की ओर ले जाती है।

महात्माजी ने लौकिक राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि यह सिद्धान्त धार्मिकता से मनुष्यों को दूर हटाता तो वे इसका समर्थन कदापि न करते। महात्माजी विश्वास करते थे कि परमेश्वर प्रत्येक क्रिया-कलाप का प्रेरक है। डाक्टर जोसेफ पारकर ने लिखा था—लौकिक राज लौकिक बातों को सिखाये और चर्च अर्थात् धर्म धार्मिक उपदेश दे।

श्री होली ओक ने अपनी अन्तिम पुस्तक ओरिजिन एंडनेचर आफ सिक्युलरिज्म सन् १८९६ ई० में लिखी। इस समय के उनके विचार प्रारंभिक विचारों से कुछ भिन्न मालूम पड़ते हैं। यह उनके प्रौढ़ बुद्धि तथा समयों के अनुभवों का प्रभाव भी कहा जा सकता है। उनका विचार महात्मा गांधी के लौकिक राज्य सिद्धान्त के और समीप आ गया था। उसने सिक्यूलर अर्थात् लौकिक तथा सिक्युलरिस्ट अर्थात् लौकिकवादी शब्दों की परिभाषा में अन्तर किया है। वह कहते हैं—लौकिक न तो धर्मशास्त्र की उपेक्षा करता है और न उसकी स्तुति करता है और न उसे अस्वीकार करता है। जहाँ लौकिकवाद का अर्थ 'धर्मशास्त्र के विरोधी अर्थ में किया जाता है, वहाँ लौकिक शब्द लौकिक-वाद से भिन्न अर्थ रखता है। स्वतंत्र विचारों का जहाँ अन्त होता है, लौकिकवाद का वहां से आरम्भ होता है। लौकिकवाद स्वतंत्र विचारों का प्रसार नैतिकता तक कर देता है—। श्री ओक उस स्वतंत्र विचार का समर्थक था जो दृढ़ नैतिक संस्कृति को अपने में सम्मिलित करती है।

ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री ग्लेडस्टन ने श्री ओक को लिखा था—मैं इसमें विश्वास नही करता कि लौकिक प्रेरणा हमारे तथा हमारी जाति और उसकी सन्तानों के लिए पर्याप्त है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिकवाद अपनी सामग्री ईसाइयत से प्राप्त करने के लिए उसका ऋणी है। वह कभी भी बिना बाइबिल के सम्भव नहीं थी। दुनिया में जितने लोग हुए हैं, उनमें यूनानी जो विचक्षण मेधावी थे, इसे क्यों नहीं खोज निकाला—। ग्लेडस्टन को ओक ने उत्तर दिया—लौकिकवाद मूलतः नैतिक प्रेरणा के लिए विकसित हो गया था जहाँ कि धर्मशास्त्र कुछ कर सकने में असमर्थ थे।

होली ओक बुद्धिवादी थे। उनकी विचारधारा बौद्ध दर्शन के समीप कुछ पहुँचती है। वह कहते हैं—यदि मनुष्य अपने विवेक के कारण स्वर्ग जाता है तो उसका स्वर्ग जाना कुछ माने रखता है। परन्तु वह स्वर्ग यदि दूसरे के ज्ञान और विश्वास के ऊपर आश्रित है तो उसका यह स्वर्ग-गमन अन्योपयुक्त हो जाता है। वह पुनः कहता है—सत्य से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है। लौकिकता से आशा है कि विश्व में वह मानवीय राज्य स्थापित करेगी।

श्री जान स्टुअर्ट मिल के व्यष्टिवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा—उनका सिद्धान्त लौकिक विचार के विकास में बाधक है। श्री ओक का मत था कि लौकिक राज्य समष्टिवादी है। उसकी लोक दृष्टि होती है। मिल तथा स्पेन्सर व्यष्टिवादी हैं। सर्वश्रेष्ठ के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वह सिद्धान्त स्वतः बल का प्रतीक है। दुर्बल के स्थान पर सबल की चलेगी।

मत्स्यन्याय का घोष होगा। जिससे जगत् को बचाने के लिए पितामह ब्रह्मा ने मनु को उत्पन्न किया था, जो भारतीय राजनीति सिद्धान्त की आधार-शिला है।

यह धारणा मिथ्या है कि लौकिकता नास्तिकता की ओर ले जाती है। लोकतन्त्र का सन् १८५१ से १९५९ ई० का ऐतिहासिक अनुभव इस बात का साक्षी है। प्रोफेसर श्री फ्रान्सिस विलियम न्यूमैन ने कहा था—वे सब लोग जो इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि एक मनुष्य का दूसरे के प्रति कर्तव्य काल और महत्त्व की दृष्टि से ईश्वरीय सिद्धान्त किंवा कल्पना के भी पूर्व का है वे लौकिक हैं। श्री थियोडोर पारकर की दृष्टि से वे सब अपने को लौकिक कह सकते हैं जो ईश्वरवाद को उत्तम तथा एक गम्भीर बात मानते हैं।

श्री ओक कहता है—लौकिकता गणितशास्त्र तुल्य ईश्वरवाद तथा अन्य वादों से सर्वथा अलग और मुक्त है। ज्यामिति के अन्वेषक यूकलिड ने अपने समय के परमेश्वर तथा तत्सम्बन्धी भावनाओं की उपेक्षा नहीं की। ज्यामिति में भगवान् की सत्ता को स्वीकार करना कोई आवश्यक नहीं था। उसने रेखा-गणित में भगवान् की सत्ता का कहीं वर्णन भी नहीं किया है। अतएव ईश्वर सम्बन्धी विचारों पर बिना मत प्रकट किये, लौकिकता गणितशास्त्र तुल्य स्वतंत्र अध्ययन तथा विचार का विषय हो सकती है।

इँगलैण्ड के दो विद्वान् यार्क के यार्क विशप मग्गी तथा ब्राडला (सन् १८५६-१८७० ई०) ने लौकिक सिद्धान्त को नास्तिकवाद के समकक्ष माना है। श्री ओक उत्तर देता है—एक व्यक्ति किसी मकान को उसकी रचना, उसकी उपयोगिता, उसके वातावरण, उसके स्थानादि के विषयों पर विचार करेगा कि उसे वह मकान पसन्द है या नहीं। वह कभी सोचेगा भी नहीं कि उस जमीन का कौन जमींदार तथा राजगीर था। यदि उस मकान की मरम्मत किरायेदार न भी कराये फिर भी यह उसकी भलमनसाहत है कि उस मकान को अच्छी तरह रखे। वह सोचेगा कि मकान उसका आवास है। वह सफाई, मितव्ययिता, व्यवहारादि का विचार करेगा, जिसपर उसका स्वास्थ्य, धन तथा सुरक्षा अवलम्बित है। इन सब बातों के लिए सृष्टि के मूल स्रोत अथवा उसका स्वामी कौन था, जमीन की रचना कैसे हुई, आदि बातें मकान पसन्दगी-नापसन्दगी और निवास के विषयों से सर्वथा भिन्न है। यदि किराये का तकाजा किरायेदार से, निवास निमित्त न किया जाता हो फिर भी कम से कम उसमें रहने के कारण, उससे जो लाभ उठाते हैं उसके कारण निवासी मकान की हिफाजत करेगा, तरक्की करेगा। यही लौकिकता है।

लौकिक पद्धति के विषय में ओक कहता है—यह वह भौतिक पद्धति है जिसके द्वारा मानव विकासशील होता है। भौतिक साधनों पर आश्रित होता है। मानवता के उन्नति-निमित्त जो सब बातें ग्राह्य हैं वे मानव द्वारा मान्य की जायेंगी। उसकी मान्यता निमित्त किसी भी अन्य शक्ति की आवश्यकता नही है। मानव की भलाई के लिए मानव प्रयोग द्वारा, मानव बुद्धि द्वारा, जो भी बातें सम्मत हों, जिन्हें इस जीवन में किया जा सकता है, जिसका सम्बन्ध इस जीवन से है, वही लौकिकता है।

अनुभव बताता है कि मानव का देव विज्ञान है। विज्ञान बताता है कि उन्नति तथा सुधार भौतिक साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। धर्म-शास्त्रीय दिमाग, आत्मा तथा अव्यक्त के विषय में विचार करता है। सामाजिक कल्याण की बातों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देता है। लौकिकता विश्वास करती है कि सत्य तथा समाज कल्याण निमित्त उत्कंठा ही आत्मा का यथार्थ कार्य है। इस सत्य की प्राप्ति हेतु बौद्धिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। किसी प्रकार के प्रलोभन तथा दण्डादि का भय न होना चाहिए। विचारों की स्वाधीनता, प्रचार की स्वतंत्रता, आलोचना की स्वतंत्रता, मत की स्वतंत्रता, लौकिक परिस्थितियों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। श्री ओक के समय धार्मिक विश्वास तथा बुद्धि के बीच द्वन्द्व चल रहा था।

तत्कालीन लौकिक आन्दोलन का मुख्य प्रयोजन नैतिकता को ईसाइयत के प्रभाव से मुक्त करना था। नैतिकता का सामाजिक जीवन में स्वतः विशिष्ट स्थान था। उसे किसी धार्मिक साम्प्रदायिक तथा पन्थीय शिकंजे में बाँध रखना अनुचित था। नैतिकता का मापदण्ड स्वयं नैतिकता थी। उसे किसी विश्वास के मान्यता की आवश्यकता नहीं थी। नैतिकता का स्वरूप एक नही रहता। आज से दो हजार वर्ष पूर्व की नैतिक भावना आज की नहीं है। उस समय मनुष्य को दास तुल्य खरीदना-बेचना अनीतिपूर्ण नही माना जाता था किन्तु आज अपराध है। परदा प्रथा कुछ समय पहले नैतिकता के साथ बँधी थी। आज परदा रखना खराब समझा जाता है। यदि भारत में कोई स्त्री अपने पति का चुम्बन किसी रेलवे प्लेटफार्म पर बिदाई के समय ले ले तो वह अनैतिक समझा जायगा। यूरोप में यह प्रथा है। कौन किस धर्म का माननेवाला है, यह सर्वथा गौण बात है। सम्बन्ध केवल इतने से है कि, उसमें नैतिकता है कि नहीं? उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक नैतिकता है कि नहीं? चरित्र के प्रश्न को लिया जाय। क्या ईसाई ही चरित्रवान् हो सकता है? क्या अन्य

धर्मावलम्बी आचरण तथा चरित्रवान् व्यक्ति केवल इसलिए अच्छा नहीं समझा जायगा कि वह ईसाई नहीं है ?

किसी जाति, धर्म किंवा वर्ग की सम्पत्ति विशेष नैतिकता नहीं है। सत्य तथा चरित्र किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं है। वे मानव की मौलिक क्रियाएँ हैं। उन्हें कोई भी ग्रहण तथा त्याग कर सकता है।

किसी धर्म विशेष का टीका लग जाने से वह सत्य, दया, अहिंसा का पुतला नहीं बन जाता। उसमें इन गुणों का समावेश किसी विश्वास को मान लेने से नहीं हो जाता। मानव जीवन के सामान्य स्वार्थ, समस्या तथा विकास की ओर लौकिकता ध्यान देती है। चाहे वह कोई राज्य क्यों न हो। चाहे कोई जाति विशेष ही का क्यों न हो। ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद में यदि नैतिकता न हो तो क्या अन्तर रह जाता है ? उनमें क्या अन्तर रह जाता है यदि सत्य न हो ? उनमें क्या अन्तर रह जाता है यदि चरित्र न हो ? नैतिकता धर्म की उच्चतम आवश्यकता की पूर्ति करती है।

विश्व में ज्ञात एवं अज्ञात जगत् है। अज्ञात जगत का भाष्य करनेवाला धर्मशास्त्र है। ज्ञात जगत् का भाष्य करनेवाला मानव का अनुभव है। वह अनुभव है जो इसका विवेचन करता है कि दुनिया को किस प्रकार उपयोगी बनाया जाय। लौकिकता प्रत्येक वर्ग में, प्रत्येक दल में सब स्थानों पर स्वतंत्र विचारक खोजती है। वह सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों को, विवेक, अनुभव तथा ऐहिक उन्नति की ओर ले जाती है। मानव-बुद्धिगम्य सत्य को खोजने का प्रयास करती है। वह इस प्रकार के सत्य में विश्वास करने में संकोच करती है जिसकी मान्यता किसी अव्यक्त शक्ति पर निर्भर रहती है। ईश्वर अथवा दैविक शक्ति के आधार पर आँकी जाती है।

पहले कहा जा चुका है कि कार्ल मार्क्स तथा होली ओक का समय एक ही था। मार्क्स का कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुका था। समाजवादी विचार फैल रहे थे। मार्क्सवाद को लौकिक समाजवादी सिद्धान्त कह सकते हैं। मार्क्स ने राज्य को ईश्वर का नगर न मानकर राक्षस का नगर माना है। उसे शैतान का कार्य माना है। उसने हिगेल के हेतुवाद के स्वरूप को बदल दिया है। उसने हेतुवादी आदर्श को हेतुवादी भौतिकवाद में परिणत कर दिया है। उसने कहा--भौतिक जीवन में उत्पादनों के प्रकार सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में जीवन के आध्यात्मिक आचारों को निश्चय करते हैं। मानव

का विवेक उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करता। परिक्रिया उल्टी होती है। सामाजिक अस्तित्व उसके विवेक को निर्धारित करता है।

मार्क्स की प्रणाली नीचे से आरम्भ होकर ऊपर उठती है। वह ऊर्ध्वमुखी है। चाणक्य के समान मार्क्स ने भी राजनीतिक ढाँचे का आधार अर्थ माना है। आर्थिक विकास पर राजनीतिक विकास आश्रित है। मार्क्स के उपदेश का यह मन्त्र सूत्र है। मार्क्स ने बेनिशियन साधु ओरटेस की इस बात को माना है कि किसी देश की आर्थिक अच्छाई और बुराई एक ही स्तर पर रहती है।

मार्क्स तथा उनके साथी एंजिल अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। उनके मत से सर्वहारा के अधिनायक तन्त्र के पश्चात् राज्य का स्वतः लोप हो जायगा। उसने वर्ग संघर्ष में शोषक वर्ग की मुक्ति देखी। उसने जाति-पाँतिहीन, धर्महीन जगत् की कल्पना की। सर्वश्री हरजेन तथा बाकुनिन राष्ट्रीय समाजवादी थे। पोलैण्ड के पतन तथा उसके विभाजन के समय हिटलर ने स्टालिन को जो सन्देश दिया था उसमें उसने अपने को राष्ट्रीय समाजवादी कहा था।

मार्क्स ने सामाजिक विषमताओं तथा वर्गहीन समाज के लिए एक ही औषधि कम्युनिज्म का नुस्खा लिखा था। कम्युनिज्म का सिद्धान्त पूर्णतया लौकिक है। उसमें दैवी शक्ति, दैवी कल्पना, स्वर्ग-नरक, ऊँच-नीच, जात-परजात के लिए स्थान नही था। उन सभी क्रिया-कलापों के लिए स्थान नही था जो मानव में विभिन्नता उत्पन्न करती हैं। एक मानव को दूसरे मानव के शोषण करने के लिए कहती हैं। एक मानव के श्रम पर दूसरे को फूलता देखना चाहती थीं। कम्युनिस्ट देशों में साम्प्रदायिकता, जातीयता का समावेश किसी भी रूप में उसके सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में समावेश नहीं कर पाया है। आज की राजनीति तथा राज्य मानव जीवन के सभी अंगों में सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगा है। इस समय चाहे ज्ञान हो अथवा विज्ञान हो, चाहे कोई भी नीति क्यों न हो, घूम-फिर कर राजनीतिक प्रभाव से अछूते नहीं बचते। यदि वह राजनीतिक प्रभाव सत्य, न्याय तथा कानून पर आधारित हो, तो फिर कहना ही क्या है?

सन् १८४८ ई० के पश्चात् यूरोप तथा विश्व में बहुत उलट-फेर हुए। अनेक राजतन्त्रीय देशों में लोकतन्त्रीय प्रणाली स्थापित हुई। उदार विचार तथा सहिष्णुता का वायुमण्डल बनने लगा। उदारवाद की ओर लोगों का विशेष झुकाव होने लगा। समाजवादी तथा लौकिक विचारों का आश्रय लेकर यूरोप ने सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए पग उठाया। औद्योगिक क्रान्ति

के कारण पुराना सामाजिक रूप, रहन-सहन बदल गया था। नवीन परिस्थितियों में नवीन विचारधाराओं का उदय होना अनिवार्य था। वर्ग-संघर्ष, शोषक-शोषित, श्रमिक, पूंजीपति आदि की इतनी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थीं कि धर्म उन्हें किसी भी प्रकार हल करने में समर्थ हो ही नहीं सकता था। उसने सामाजिक शक्तियों के सम्मुख हथियार डाल दिया। जनता इन समस्याओं को हल करने के लिए आतुर थी। वह कोई मार्ग ढूंढ़ रही थी। उसे समाजवाद तथा लौकिकता में आशा का प्रकाश दिखाई दिया।

जनता ने देखा। शोषक और शोषित एक ही धर्म के माननेवाले है। पूंजीपति और सर्वहारा एक ही सम्प्रदाय के हैं। धार्मिक प्राणी स्वयं आपस में आर्थिक स्वार्थों की टक्कर में टकरा जाता है। उसने देखा कि संघर्षों का आधार आर्थिक है। शोषण एक ओर कैसे रुके और दूसरी ओर पूंजी का बटवारा किस प्रकार हो। जिस समय ईसाई तथा मुसलिम धर्मो का उदय हुआ था उस समय उनके सम्मुख बीसवी शताब्दी जैसी समस्याएँ नहीं उत्पन्न हुई थीं। उस समय लोहा जहाज बनकर पानी पर नही तैरता था। हजारों मीलों की दूरी से एटमिक शस्त्रास्त्र नही चलाये जा सकते थे। मानव हवा में उड़ता न था। लोहा जीवित प्राणी के तुल्य यन्त्र बनकर उत्पादन नही करता था। परिवहन तथा यातायात के साधनों ने विश्व को छोटा नहीं बना दिया था। रेडियो, टेलीविजन, समाचार-पत्रों के कारण मानव अपने घर तथा गाँव की समस्या मे न उलझकर विश्व-समस्या पर विचार करने लगा।

राष्ट्रीय देश की सीमा का भी महत्त्व नहीं रहा। एक देश का आदमी दूसरे देशों में आबाद होने लगा। वहाँ के सामाजिक जीवन में उसी देश के समान भाग लेने लगा। विचारों का आदान-प्रदान होने लगा। अमेरिका में रुई की फसल अच्छी हुई या नही उस पर भारत तथा मिस्र के रुई का भाव निश्चय होने लगा। किसी देश की क्रान्ति वहाँ राज्यों के उलट-फेरों का प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ने के साथ-साथ वह सबके चिन्तन की सामग्री बन गया है। विश्व की इस लोक दृष्टि ने मानव की दृष्टि को उदार बना दिया है। वह केवल अपने देश की परिस्थितियों का गुलाम नहीं बल्कि विश्व की परिस्थितियों का जागरूक दर्शक तथा क्रियापूर्ण सहयोगी हो गया है। जीवन से धर्म का स्थान हटने लगा। चर्चों में जाना कम हो गया। मानव अपनी ऐहिक समस्याओं में बेतरह उलझ गया। धर्म का सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से रह गया। विश्व उस दिशा की ओर बढ़ा, जिसका संकेत महात्माजी ने किया था—धर्म

तथा राजनीति दो चीजें हैं। एक दूसरे को अनजाने मिलाने में उलझन तथा अलग रखने में जीवन सरल तथा सुन्दर होगा।

हम इस निष्कर्ष पर इस प्रकार पहुँचते हैं कि सर्व श्री डीन स्कोट्स तथा ओखम संत तामस एक्विना के विचारों के साथ लौकिकता की ओर बढ़े। रेनासा पुनर्जागरण काल में लौकिक भावना का विचार प्रकाश में खुलकर आया। वह धीरे-धीरे बढ़ने लगी। रेनासां में बीजारोपण हुआ परन्तु अंकुरित सत्रहवीं शताब्दी में हुई। बीज अत्यन्त प्राचीन काल से सुरक्षित रखा था। उसके बोने का समय न आया था। युगों के महान् राजनीतिक पंडित समय-समय पर उसकी चर्चा कर, मानो उस बीज को सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहे। रेनासां काल में उसकी अधिक प्रगति नहीं हो सकी। सर्व श्री डेसकर्टेस, होब्स, स्पिथोनोजा आदि ने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर सृष्टि का एक बौद्धिक रूप जगत् के सम्मुख रखा। उनके वैज्ञानिक विश्लेषण की धारा अनेक दार्शनिक मनीषियों की देन से गहरी होती गयी। अठारहवीं शताब्दी में जो केवल गाथा के आधार पर सृष्टि-सृजन का सिद्धान्त मानते, विश्वास करते थे, उन्होंने तर्क, विवेक तथा विज्ञान का आश्रय लिया। उनका यह आश्रय धर्म की छत्र-छाया में नहीं, उसके बाहर हुआ। धार्मिक संस्कारों से बाहर निकलकर सोचने लगे। उनके विचारों में स्वतंत्रता की लहरें उठी। उन्होंने लौकिक और पार-लौकिक दोनों को विज्ञान, अनुभव, एवं विवेक की तुला पर तौलना आरम्भ किया। दार्शनिक जगत् में लौकिकता ने धार्मिक प्रभाव से मुक्त होने के लिए प्रयास किया। साम्राज्य तथा पवित्र संस्कारवादी विचार संघर्ष के सम्बन्ध में दांते कहता है—लौकिक राजा अपने स्वाधिकार के कारण पूर्ण सत्ता-सम्पन्न था और उसे अपने अधिकार के प्रयोग का अधिकार था। सत्रहवीं शताब्दी मूलतः राजनीतिक तथा दार्शनिक प्रणालियों में लौकिक थी। प्राकृतिक किंवा नैसर्गिक कानून के ग्रोटियस तथा अल्थूसस के विचारों ने उसके प्रसार में सहायता दी। उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राज्य की प्रभुसत्ता स्वतंत्र कल्पना में जैसे साकार होने लगी।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लौकिकता द्वारा प्रभावित सार्वलौकिक-वाद का उदय हुआ। इस प्रवाह को प्रबोध आन्दोलन कहते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के नैसर्गिक कानून तथा अठारहवीं शताब्दी के मानवतावादी दर्शन के प्रभाव से विश्व में एक विचार-प्रवाह फैल गया। इस विचार-प्रवाह को मानवीय सार्वलौकिकवाद कह सकते हैं। यह धारा बढ़ती गयी। इसमें संकुचित जड़

धार्मिकता जैसे डूबने लगी और डूबी राष्ट्रीयता ऊपर उठने लगी। इसी के कारण फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति सफल हो सकी थी।

व्यष्टि के आत्म-प्रकाश की भावना ने यथार्थवादी दार्शनिक सर्व श्री फोन्टेनेला, मान्टेसक् तथा हेल वेट्स को जन्म दिया। उन्होंने अपनी गवेषणा अनुभवों पर आरम्भ की। चर्च के जीवनोपरान्त जीवन, आदर्शवाद, कल्पनावाद को एक ओर हटाकर आगे बढ़ने लगे। यथार्थवादी लौकिकता विकसित होने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी में लौकिक गति-प्रवाह का कारण सामाजिक अवस्था थी। उनमें आबादी की वृद्धि, बाजारों का विश्वव्यापी फैलाव, जीवन-निर्वाह के स्तर में बढ़ती, देश में सम्पत्ति किंवा धन का बढ़ना, आर्थिक प्रतिभास शिल्प, व्यापार, व्यवसाय तथा उत्पादन के साधनों की उन्नति और उद्योग-धन्धों में लगे लोगों में लौकिक मनोवृत्ति के कारण लौकिक भावना वर्षा-जल तुल्य प्रवाहित हो चली। उसने आन्दोलन का रूप, जैसा मैंने लिखा है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ले लिया। उसने अपना प्रयोजन अगले पचास वर्षों में सिद्ध कर लिया। लोग लौकिक विचारधारा से केवल प्रभावित नहीं हुए, उसे व्यावहारिक रूप देना आरम्भ किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे वह आन्दोलन अपना कार्य समाप्त कर स्वयं समाप्त हो गया।

आजकल

आजकल कोई भी राष्ट्र पूर्णतया देवाधिराज की कल्पना नहीं कर सकता आधुनिक परिवहनों की द्रुत गति तथा संचारों के सुगठित संघटन ने देशों की सीमाओं को महत्त्वहीन कर दिया है। केवल इसलामी देशों के अतिरिक्त धार्मिक, राज्य, देवाधिराज अथवा धार्मिक किंवा साम्प्रदायिक विचारों पर आधारित राज्य की कल्पना कोई कर नहीं सकता। मुसलिम देशों में एकाध के अतिरिक्त सभी ने अपने को इसलामी राज्य घोषित किया है। मुसलिम देश जगत की समन्वयी गति से विरत रहना चाहते हैं। उन्हें यह दृष्टिकोण एक दिन बदलना ही होगा। यदि वे विश्व में एक साथ रहना चाहते हैं। आधुनिक विकासों से लाभ उठाना चाहते हैं। विश्व की गति के साथ बढ़ना चाहते हैं।

आज कोई भी राष्ट्र अकेला चलने अथवा बढ़ने में असमर्थ है। सभी राजनीतिक किंवा आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर आश्रित हैं। आस्ट्रेलिया के ऊन का भाव, अमेरिका के गेहूँ का भाव, दक्षिण अफरीका के सोने का भाव, अरब देशों के तेल का भाव, जापान और भारत के कपड़े का भाव दुनिया के साधारण से साधारण व्यक्ति के जीवन को अनायास प्रभावित कर देता है। हम जितना ही समीप आते जाते हैं, उतना ही एक दूसरे पर निर्भर होते जा रहे हैं। दुनिया उतनी ही छोटी होती जा रही है।

आधुनिक राजनीतिक जगत् किंवा विश्व क्रान्तियों की देन है। राजनीतिक दृष्टिकोण क्रान्तियों के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। लोकतन्त्रीय राज लोकतंत्रीय तथा स्वाधीनता प्राप्ति निमित्त क्रांतियाँ हुई हैं। लोकतन्त्रीय क्रान्तियों की संज्ञा उन देशों को दी जा सकती है जो स्वयं स्वाधीन थे। परन्तु शासनतन्त्र क्रान्तियों से बदलने में समर्थ हुए हैं। इस श्रेणी में जर्मनी, इटली, टर्की, फ्रांस, रूस, चीन, प्रभृति देश आते हैं। राज-लोकतन्त्रीय क्रान्तियाँ उन्हें कह सकते हैं, जहाँ राजतन्त्र में ही सुधार कर उन्हें लोकतन्त्रीय परिधान पहना दिया गया है। ब्रिटेन, जापान आदि देशों की गणना द्वितीय वर्ग में की जा सकती है। तृतीय वर्ग में देश की स्वाधीनता प्राप्ति निमित्त की गयी क्रान्तियाँ आती हैं। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, दासता आदि से मुक्त होकर स्वाधीनता प्राप्त करनेवाले देशों में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, आयरलैण्ड, दक्षिण अमेरिका के

लेटिन देश, भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, श्रीलंका, मलाया, मिस्र,सूदान, साइप्रस आदि अनेक देश हैं।

आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफरीका, घाना, राष्ट्रमंडलीय देश हैं। स्वाधीन हैं। उनमें क्रान्तियाँ नहीं हुई हैं। उन्हें स्वराज्य मिला है, सवैधानिक साधनों द्वारा। फ्रांस की कम्यूनिटी आफ नेशन की दासता से मुक्त हुए राष्ट्र भी इसी श्रेणी में आते हैं। यह स्वयं एक अलग वर्ग है।

राजतन्त्रों में लोकतन्त्रीय शासन स्थापनार्थ द्वितीय क्रान्ति वर्ग को पहले लेना अच्छा होगा। इस वर्ग में ब्रिटेन और जापान प्रमुख हैं। आज भी किसी रूप में वहाँ राजा का अस्तित्व बना है।

ब्रिटेन की राज्यक्रान्ति अपने ढंग की अनोखी है। उसने राजनीतिक तथा औद्योगिक दोनों प्रकार की क्रान्तियाँ देखी हैं। औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली और राजनीतिक क्रान्ति ने चरित्र तथा जीवन दिया है।

ब्रिटेन की राजनीतिक क्रान्ति संसद तथा राजा के बीच अधिकारों के लिए होनेवाले संघषों की कहानी है। संसद अर्थात् पार्लियामेण्ट की विजयगाथा है। संसद् का अधिकार स्वीकार करने के लिए राजा विवश हो गया। मानना होगा कि ब्रिटेन की क्रान्ति मुख्यता शान्ति तथा अहिंसक थी। शताब्दियों के संघर्ष का विकसित रूप आज का ब्रिटेन है। क्रामवेल काल अपवाद माना जयगा।

ब्रिटिश संविधान अमेरिका, भारत, फ्रांस, तुल्य पूर्णतया लौकिक नहीं है। लिखित और अलिखित दोनों रूपों में वर्तमान है। ब्रिटिश जनता तथा राज्य का दृष्टिकोण किसी कानून द्वारा नही, बल्कि विचारों के क्रमिक विकासों द्वारा लौकिक हो गया है। उसमें दूसरे धर्मों तथा जाति के लिए सहिष्णुता है। साथ ही साथ अपने धर्म के लिए आस्था भी है।

चर्च आफ इंग्लैण्ड का उद्देश्य तथा संस्कार विषयक नियम सन् १५७१ ई० की विधि द्वारा निश्चित किये गये हैं। उनके संशोधन, परिवर्द्धन तथा विलोपन का अधिकार केवल पार्लियामेण्ट को है। सन् १६६२ ई० की प्रार्थना पुस्तक उसी संसद् के यूनिफार्मेटी एक्ट द्वारा स्वीकृत की गयी है।

सन् १७७० ई० के सेटलमेण्ट एक्ट द्वारा निश्चय किया गया कि ब्रिटेन का राजा या रानी केवल प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मतावलम्बी ही हो सकते हैं। वे चर्च आफ इंग्लैण्ड का रक्षक समझे जायँगे।

राज्याभिषेक के समय धार्मिक कृत्य तथा संस्कार किये जाते हैं। यार्क तथा कैण्ट और अन्य उच्चस्तरीय विशपों की नियुक्ति राजा करता है। यह नियुक्ति प्रधान मन्त्री के सुझाव पर की जाती है। प्रधान मन्त्री पार्लियामेण्ट के सम्मुख उत्तरदायी होता है। अतएव पार्लियामेण्ट इस प्रकार धार्मिक कृत्य तथा कार्य पर अपनी अनुमति देती है। अपनी मुहर लगाती है।

अनेक आर्च विशप तथा विशप अपने पद गौरव के कारण पार्लियामेण्ट के द्वितीय सदन अर्थात् हाउस आफ लार्ड्स के सदस्य होते है। राज्य के राजस्व का कुछ अंश धार्मिक कार्यों के लिए व्यय किया जाता है।

यदि इन दृष्टियों से विचार किया जाय तो ब्रिटेन लौकिक राज्य की नियम-निष्ठ परिभाषा में नहीं आता। सन् १९२० ई० में वेल्स का एँगलिकन चर्च अलग हो गया है। अब उसके विशप हाउस आफ लार्ड्स नही बैठते।

लौकिक शिक्षा का जहां तक सम्बन्ध है, ब्रिटेन आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की अपेक्षा बहुत पीछे है। सन् १९०२ ई० में बालफोर अधि-नियम पारित हुआ। अनुदार अर्थात् कन्जरवेटिव तथा याजकीय किंवा पुरोहित वर्गों के प्रभाव के कारण वैयक्तिक साम्प्रदायिक स्कूलों के निमित्त राज्य अनुदान एवं सहायता की सुविधाएँ प्राप्त की गयीं।

ब्रिटेन के स्कूल पब्लिक और प्राइवेट क्षेत्रों में विभाजित हो गये। सुधार और लौकिकवादियों ने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थापओं को सहायता देने का विरोध किया। सफलता न मिल सकी। फिशर अधिनियम सन् १९१८ ई० के द्वारा युनिवर्सल निःशुल्क अनिवार्य लौकिक शिक्षा ब्रिटेन में आरम्भ की गयी। किन्तु प्राइवेट धार्मिक किंवा साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाओं को जो सुविधाएँ पूर्व में मिली थीं वे मिलती रहीं। बन्द न की जा सकीं।

सन् १९४४ ई० में एजुकेशन अधिनियम पारित किया गया। मन्त्रणालय की स्थापना हुई। निश्चय किया गया। सभी काउण्टी स्कूल सामूहिक प्रार्थना से कार्य आरम्भ करें। प्रार्थना किसी सम्प्रदाय विशेष की न होगी। स्कूलों में धार्मिक शिक्षा का द्वार अनावृत कर दिया गया। केवल अपवाद यह था कि यदि किसी विद्यार्थी के अभिभावक को धार्मिक शिक्षा पर आपत्ति हो तो उसे धार्मिक शिक्षा न दी जायगी।

ब्रिटेन आदि ईसाई राष्ट्रों में जहाँ ईसाइयों की संख्या ९० प्रतिशत से ऊपर है, धार्मिक स्वतन्त्रता का विशेष प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि सभी एक

ही धर्म के माननेवाले हैं। विवाद जैसा दिखाया जा चुका है, विचार स्वातन्त्र्य के प्रश्न को लेकर उठ खड़ा हुआ था। उसने ईसाई जगत् के ही अन्दर अनेक विचारों के आधार पर अनेक सम्प्रदायों तथा संस्थाओं को जन्म दिया।

फिर भी ब्रिटिश दृष्टिकोण लौकिक है। देश में लोकतन्त्र है। धार्मिक और साम्प्रदायिक संकुचित मनोवृत्ति के निकास के लिए केवल शिक्षा ही एक क्षेत्र बच गया था। अतएव शिक्षा के लौकिक रूप पर ही समय समय पर अधिक जोर दिया जाता रहा है। यही उस देश की लौकिक भावना की कसौटी है।

ब्रिटेन तुल्य जापान में भी शान्तिमय परिवर्तन द्वारा सामाजिक, राजनैतिक औद्योगिक--शान्त अहिंसक--क्रांतियाँ हुई हैं। क्रान्ति ने जापान की पुरातनी काया का कायाकल्प कर दिया। जापान में सामन्तवादी कुलीनतन्त्र स्थापित था। उसका प्रमुख राजा था। देश में नृप-पूजा प्रचलित थी। देवाधिराजतन्त्र में राजा के द्वारा जनता का विश्वास था। राजा धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों ही सत्ताओं का स्रोत था। सम्राट् का स्थान पूजनीय था।

सम्राट् जिम्मू प्रथम जापानी राजा थे। सन् ६६० बी० सी० में राज्य सिंहासन पर बैठे थे। इसी समय से जापानी संवत् की गणना प्रारम्भ होती है। वर्तमान सम्राट् हिरो हितो उनकी एक सौ चौबीसवी पीढ़ी में है। राजवंश सूर्यवंशीय है। जापानी राजतन्त्र हिन्दू राजतन्त्र से बहुत अंशों में मिलता-जुलता है।

जापान सम्राट् मेजी के दाहिने हाथ प्रिन्स इतो थे। पश्चिमी यूरोप में अनुभव प्राप्ति निमित्त भेजे गये। इतो जर्मनी में रहे। उनपर प्रिन्स बिस्मार्क की छाप पड़ी। जर्मनी और ब्रिटेन दोनों ही स्थानों में लोकतन्त्रीय राजतन्त्र था। इतो ने संविधान का प्रारूप तैयार किया। सन् १८८९ ई० में सम्राट् ने संविधान का प्रख्यापन किया। जापान में पश्चिमी विचार फैलने लगे। पूर्व का ब्रिटेन बन गया। संविधान की धारा २७ से २९ तक में जापानी नागरिकों के साम्पत्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकारों का वर्णन है।

लौकिक भावना स्वीकार करने पर भी जापान सर्वदा ईसाई जगत् तथा मिशनरियों से सतर्क रहा। उन्हें वह आर्थिक, सैनिक, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवादादि का अग्रदूत तथा साधन समझता रहा। उसने अपने देश में सुसभ्य, शिक्षा तथा सार्वजनिक सेवा के हामी भरनेवाले मिशनरियों के प्रवेश

पर प्रतिबन्ध लगाया। उसने सभ्यता, सेवा, शिक्षा निमित्त जापानी नागरिकों को स्वयं तैयार किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् चुपचाप राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांतियाँ जापान में हो गयीं। विदेशी सेना ने देश पर अधिकार कर लिया। सैनिक-शासन जारी किया गया। जनरल डगलस मेकार्थर प्रशासकीय प्रमुख बने। उनकी एक परामर्शदात्री समिति बनायी गयी। उसमें अमेरिका, रूस, चीन तथा ब्रिटेन के प्रतिनिधि थे। सन् १९४५ ई० में सम्राट् हिरो हितो ने अपने सभी कथित दैवी अधिकारों को त्याग दिया।

सन् १९४६ ई० में मित्र राष्ट्रों ने एक संविधान बनाया। पुरातन देवाधि राजतन्त्र की जो भी छाया बची थी उसे इस संविधान ने समाप्त कर दिया। संविधान की घोषणा विधिवत् सन् १९४७ ई० में सम्राट् हिरो हितो ने की। प्राचीन सामन्तशाही व्यवस्था समाप्त कर दी गयी। जापान दूसरे सदन के लिए पीयर्स अर्थात् लार्ड्स बनाता था। इस व्यवस्था का भी लोप कर दिया गया।

सन् १९४७ ई० में निर्वाचन हुआ। अनेक दल चुनकर संसद में आये। धर्म से राज्य पृथक् कर दिया गया। प्रशासन का रूप लौकिक बना दिया गया। शिन्तो देवस्थानों को मिलनेवाली राजकीय सहायता बन्द कर दी गयी। जापान अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। उसकी आशातीत उन्नति हो रही है। लौकिक भावना ने जनता के विचार, आचार तथा व्यवहार में स्वावलम्बी होने के लिए प्रोत्साहित किया है। पुनर्नवोदित जापान की वही शक्ति है।

लोकतन्त्रीय प्रणाली स्थापनार्थ क्रान्ति के प्रथम वर्ग को लेता हूँ। इनमें बड़े देश फ्रान्स, रूस तथा चीन को विवेचन निमित्त लूँगा। फ्रान्स एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तो रूस तथा चीन दूसरा दृष्टिकोण रखते हैं।

गत अध्यायों में वर्णन कर चुका हूँ कि फ्रान्स की प्रथम राज्यक्रान्ति (सन् १७८९) ई० विश्व के आधुनिक लौकिक लोकतन्त्र की आधारशिला है। मानव अधिकारों की घोषणा की गयी। सन् १७९५ ई० में संविधान बनाया गया। चर्च की सब सम्पत्ति जब्त कर ली गयी थी। क्लर्जी अर्थात् याजक लोगों के सब लौकिक अधिकार ले लिये गये थे। उनका प्रभाव उठ गया था। राज्य पूर्ण-तया लौकिक हो गया था। साम्प्रदायिक तथा धार्मिक संस्थाओं पर सतर्क दृष्टि रखी जाने लगी थी। प्रथम गणतन्त्र का लोप हुआ। नेपोलियन साम्राज्य (सन् १८०४-१८१५ ई०) का उदय हुआ। नेपोलियन के पश्चात् पुनः द्वितीय

गणतन्त्र की स्थापना सन् १८४८ ई० में हुई। द्वितीय गणतन्त्र नेपोलियन तृतीय के साम्राज्य में सन् १८५२ ई० में परिणत हो गया। जर्मनी से फ्रान्स सन् १८७० ई० में पराजित हुआ। तृतीय गणतन्त्र पुनः स्थापित हुआ। सन् १८७१ में लौकिक गणतन्त्र की स्थापना की गयी।

धर्म का सम्बन्ध नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन से रह गया। राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा वर्जित कर दी गयी। सन् १९०५ ई० में पृथक्करण अधिनियम पारित किया गया। दस वर्ष से कम उम्र के बालकों को शिक्षा निमित्त सभी प्रारंभिक स्कूलों में अध्यापकों तथा शिक्षकों का सर्व-साधारण में से भरती करना अनिवार्य कर दिया गया।

सन् १९३९ ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ। सन् १९४० ई० में फ्रान्स का पतन हुआ। विची सरकार का गठन मार्शल पेता के नेतृत्व में किया गया। वयोवृद्ध मार्शल पेता के शासन-काल में धार्मिक शिक्षा देनेवाले स्कूलों को सरकारी अनुदान तथा सहायता भी दी जाने लगी।

विवाद उठ खड़ा हुआ। अध्यापकों तथा याजकों किंवा क्लर्जियों में संघर्ष होने लगा। सन् १९४१ ई० में विची सरकार ने धार्मिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रचारित नियम वापस ले लिये। सन् १९४२ ई० में पुनः धार्मिक शिक्षा पर से बन्धन उठा लिया गया। उन स्कूलों को अनुदान पुनः दिये जाने लगे जहाँ धार्मिक शिक्षा दी जाती थी।

सन् १९४४ ई० मे फ्रान्स में चौथा गणतन्त्र जर्मन सेना के पलायन के पश्चात् स्थापित हुआ। लौकिकता पुनर्जीवित हो उठी। अमेरिका के मोडलपर शिक्षा व्यवस्था फ्रान्स में संघटित की गयी। राजकीय स्कूलों में लौकिक नीति चलायी गयी। धार्मिक तथा साम्प्रदायिक स्कूलों को अनुदान एवं सहायता देना बन्द कर दिया गया।

विश्व की महत्त्वपूर्ण क्रान्तियों में अमेरिका, फ्रान्स, रूस तथा भारत का नाम लिया जायगा। रूस की क्रान्ति की प्रकृति, ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका तथा भारत से भिन्न थी। पूर्व प्रचलित किंवा रूढ़ क्रान्तियों के रूप से उसका रूप और दृष्टिकोण दोनों भिन्न था।

रूस में सन् १८६६-१९०५ ई० तकलोकतन्त्र निमित्त उदार आन्दोलन चलता रहा। सन् १९०५ ई० में सुधार घोषित किया गया। संसद की स्थापना हुई।

द्विसदनीय सदन स्थापित हुआ। अपर हाउस को साम्राज्य परिषद् तथा निम्न सदन को ड्यूमा कहा गया। सन् १६०७ ई० में पुनः कुछ परिवर्तन किया गया।

रूस की प्रथम क्रान्ति फरवरी, मार्च सन् १६१७ ई० में लेनिनग्राड में आरम्भ हुई। इस क्रान्ति को प्रचलित अर्थात् कन्वेन्शनल क्रान्ति कह सकते हैं। इस क्रान्ति का दृष्टिकोण पूर्णतया लौकिक था। जार के निरंकुश शासन ने रूसी राष्ट्र को बाहर भीतर दोनों ओर से खोखला बना दिया था। देश की अधोगति हो गयी था। प्रथम फरवरी क्रान्ति ने जारशाही के स्थान पर पाश्चात्य लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली चलायी। रूसी जनता कुछ और आगे जाना चाहती थी।

लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविकों ने अक्तूबर की राज्य-क्रान्ति की। पुराने कैलेण्डर के अनुसार अक्टूबर तथा नवीन के अनुसार ७ नवम्बर, सन् १६१७ ई० का दिन आता है। मैंने लेनिनग्राड में वह कमरा देखा है, जहाँ करेन्सकी सरकार ने आत्मसमर्पण किया था। वह भी स्थान देखा है, जहाँ से अक्तूबर क्रान्ति की चिनगारी फूटी थी।

क्रान्ति सफल हुई। बोलशेविकों की सत्ता स्थापित हुई। सन् १६१८ ई० के संविधान की धारा १३ जो पुनः सन् १६२७ में स्वीकार की गयी थी, स्पष्ट घोषित करती है—परिश्रमशील जनता के विवेकपूर्ण वास्तविक स्वतन्त्रता-प्राप्ति निमित्त चर्च को राज्य से पृथक् तथा स्कूलों को भी चर्च से पृथक् किया जाता है। धार्मिक एवं धर्म विरोधी प्रचार की स्वतन्त्रता समस्त नागरिकों के लिए स्वीकार की जाती है।

रूस में ईसाई धर्मावलम्बी थे। किन्तु पश्चिमी यूरोप के रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों तुल्य पारस्परिक संघर्ष नहीं हुआ। रूस में ग्रीक अर्थोडाक्स किंवा ग्रीक पेट्यार्कस चर्च का संघटन था। उसी मत की जनता अनुयायी थी। पूर्वी यूरोप इसी मत का प्रभाव क्षेत्र था। चर्च का दृष्टिकोण रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट दोनों से भिन्न था। गत अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है कि रोमन कैथोलिक चर्च राष्ट्रीय जागरण पुनरुत्थान तथा सुधारवादी दृष्टिकोणों के किस प्रकार विरोधी थे। उसे तथा प्रोटेस्टेण्ट चर्चों को राज्य सत्ता हस्तगत करने तथा उसपर प्रभाव रखने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है।

रूस में ग्रीक चर्चों ने राष्ट्रीय भावना तथा नव चेतना का कभी विरोध नहीं किया। वे कभी संघर्ष में आये नहीं। रूस, बलगेरिया, सरविया, रूमानिया और ग्रीस में विचारशील चर्चों की स्थापना हुई। रूस में दैवी अधिकार में

विश्वास करनेवाला सम्राट् जार चर्च के ऊपर था। वही दोनों के अधिकारों का स्रोत था। अतएव राज्य और चर्च दोनों एक साथ सहयात्री तुल्य चलते रहे।

बोलशेविक दल चर्च को जार के कुचक्र तथा पूँजीवादी यन्त्र का पुर्जा मानता था। जार को चर्च का समर्थन गौण प्रच्छन्न दोनों रूपों मे प्राप्त था। दोनों ही अक्टूबर क्रान्ति की आँधी में उड़ गये।

करेन्स्की सरकार ने चर्च और राज्य को अलग करने का प्रयास किया था। शिक्षा व्यवस्था पेरिस चर्चों के नियन्त्रण से निकाल कर शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत कर दी गयी थी। याजकों अर्थात् क्लर्जियों ने इस सरकार का नाम ईश्वरहीन अन्तरिम सरकार रखा था।

करेन्स्की सरकार के पश्चात् बोलशेविक दल की सत्ता स्थापित हुई। दिसम्बर सन् १९१७ ई० में चर्च तथा मठ सम्बन्धी सम्पत्तियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। शिक्षा राजकीय विषय हो गयी। चर्च तथा धार्मिक संस्थाओं में जन्म, मृत्यु तथा विवाह का रजिस्ट्री कराना बन्द कर दिया गया। चर्च की आवाज अरण्यरोदन सावित हुई।

आधुनिक जगत् का विकास चर्च तथा राज्य के क्षेत्रों का पृथक्करण तथा धर्म का स्थान मानव के व्यक्तिगत जीवन तक सीमित कर देने में हुआ है। सभी लोकतन्त्रीय शासनतन्त्रों ने इसे स्वीकार किया है। इसमें यह बात कुछ जोश-खरोश के साथ हुई है।

मार्क्स धर्म को मान्यता नहीं देता था। धर्म की संज्ञा लोगों के अफीम के नशे से देता था। कम्युनिस्ट व्यवस्था में नास्तिकवाद को प्रोत्साहित किया गया। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने सभी धर्मों के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। ईसाई जगत् रूस को धर्म विरोधी घोषित करने लगा। सन् १९२८ ई० में यदि २० लाख धार्मिक संस्थाएँ रूस में थीं तो नास्तिक संघटन केवल एक लाख तेईस हजार थे।

सन् १९३५ ई० तक धर्म विरोधी उन्माद घटने लगा। क्लर्जियों के लड़के स्कूलों में जाने लगे। याजकों तथा पुरोहितों को मताधिकार दे दिया गया। सन् १९३६ ई० का विधान धर्म तथा उपासना की स्वतन्त्रता तथा धर्म के विरुद्ध प्रचार की भी स्वतन्त्रता देता है। वर्तमान रूसी संविधान सन् १९४७ ई० का अनुच्छेद १२४ इस विषय पर स्पष्ट है। नागरिकों के विवेक स्वातन्त्र्य रक्षण निमित्त राज्य को चर्च तथा स्कूल को चर्च से पृथक् किया जाता है।

धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता तथा धर्म-विरोधी प्रचार की स्वतन्त्रता समस्त नागरिकों के लिए स्वीकार की जाती है। संविधान में धार्मिक, धर्मविरोधी तथा अधार्मिक सभी के प्रति सहिष्णुता की भावना का दर्शन मिलता है।

अमेरिका तुल्य रूस में धर्म निजी तथा व्यक्तिगत साधनों तक ही सीमित रह गया है। क्रान्ति के पूर्व रूस में ५४ हजार ग्रीक चर्च थे। विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्भवतः १३ हजार रह गये। रूस में शिक्षा सर्वथा लौकिक है। दृष्टि-कोण लौकिक है। उसका मुख्य कारण यह है कि रूसी क्रान्ति की बुनियाद समाजवाद अर्थात् आर्थिक विकास एवं जनता के कल्याण की भावना पर रखी गयी थी। जब भी इस प्रकार की भावना का उदय होगा तो लौकिकता को बल प्राप्त होगा।

चीन गत दस वर्षों से विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है। उसके आधुनिक उत्थान की कहानी सन् १६११ ई० के चीनी क्रान्ति से आरम्भ होती है। सन् १६११ ई० की क्रान्ति का तात्कालिक परिणाम साम्राज्यवाद का लोप होना था। लोकतन्त्रीय संसदीय शासन-प्रणाली स्थापित की गयी। इस क्रान्ति की मुख्य प्रेरक शक्ति राष्ट्रीयता थी। बाक्सर विद्रोह के समय चीन के विशाल भूखण्ड पर ब्रिटेन, जापान आदि साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शक्तियों की फौजें लड़ती रहीं। चीन विदेशी शक्तियों के प्रभाव में आकर पंगु हो गया। दुर्बलता के कारण उसकी कोई वैदेशिक अथवा अपनी नीति नहीं रह गयी। फारमोसा जापान ने हड़प लिया। हांगकांग पर ब्रिटिश अधिकार हो गया। शंघाई नाम के लिए चीन का था। विदेशी जो चाहते थे वही होता था।

नवचेतना उठी। विदेशियों से मुक्ति तथा लोकतन्त्र स्थापना निमित्त आन्दोलन हुआ। डाक्टर सनयातसेन राष्ट्रीय नेता बने। सन् १६११ ई० की क्रान्ति सफल हुई। सन् १६१२ ई० में नवीन संसद आमन्त्रित की गयी। कोई संविधान सभा का आयोजन न हो सका। संविधान न बन सका। केवल राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र स्थापित हो गया।

सन् १६२३ ई० में संविधान का एक रूप बनाया गया। कुमितांग दल का शासन था। लौकिक सिद्धान्तों का संविधान में समावेश किया गया—चीनी गणतंत्र के नागरिक कानून के सम्मुख बिना किसी जाति, धर्म अथवा वर्गभेद के एक समान समझे जायँगे।

जापान के द्वितीय विश्वयुद्ध में कूद पड़ने पर परिस्थितियाँ बदलीं। युद्ध के प्रथम चरण में प्रशान्त महासागरीय चीनी भूखण्डों पर जापान का अधिकार

हो गया। चीन को बाहर से किसी प्रकार की सहायता न मिल सकती थी। रूस-जापान की उस समय मैत्री थी। रूसी सीमा से चीन में सहायता भेजी न जा सकती थी। रूस अपनी ही उलझन में उलझा था। चीन की सहायता पहुँचाने के निमित्त बर्मा-चीन सड़क का निर्माण किया गया। चीन को रसद तथा सामान मिलने लगा। जापानियों का बर्मा पर अधिकार हो जाने के पश्चात् स्थिति पुनः बिगड़ गयी।

बाहरी खतरे का सामना करने के लिए कुमितांग तथा कम्युनिस्ट दल का मेल हो गया। नेशनल पीपुल दल के नेता जनरल चांग काई शेक घोषित किये गये। वही देश के राष्ट्रपति थे। युद्ध समाप्त होने पर सत्ताप्राप्ति निमित्त प्रतिद्वंद्विता दोनों दलों में बढ़ी। दोनों दलों में गृहयुद्ध छिड़ गया। सफलता कम्युनिस्टों को मिली। चांग काई शेक को चीन त्यागकर फारमोसा में शरण लेनी पड़ गयी। आज चीन की राष्ट्रीय सरकार वहाँ कायम है। संयुक्त राष्ट्र संघ में राष्ट्रीय चीन सरकार चीन देश का प्रतिनिधित्व करती है जब कि उसके अधिकार में चीनी भूखण्ड की एक इंच भूमि नहीं है। वास्तविक सत्ताधारी कम्युनिस्ट शासन संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता अभी तक प्राप्त न कर सका।

नवीन क्रान्ति से चीन नवोदित राष्ट्र तुल्य उठा। चीनी गणतन्त्र का विधान सन् १९४६ ई० में स्वीकार किया गया। सन् १९४७ ई० में देश पर वह लागू किया गया। संविधान के द्वितीय अध्याय की धारा ७ से २४ तक नागरिकों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों को लिपिबद्ध किया गया है। उसमें नागरिकों के उपासना, पूजा तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। पन्द्रह सितम्बर, सन् १९५४ ई० में जनता की कांग्रेस के सम्मुख नवीन संविधान का प्रारूप रखा गया। सितम्बर २० सन् १९५४ ई० को स्वीकार किया गया। अनुच्छेद ८८ स्पष्ट कहता है—गणतन्त्र की जनता को धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता प्राप्त है। अनुच्छेद ३ कहता है—सभी नेशनेलिटीज़ को अपने बोलने और लिखने की भाषा के प्रयोग तथा विकास निमित्त स्वतन्त्रता और अपने रीति-रिवाज और रहन-सहन को सुधारने और रक्षा करने का अधिकार है।

अप्रैल, सन् १९५५ ई० के बाण्डुंग सम्मेलन में चीनी प्रधान मन्त्री चाओ एनलाई ने कहा था—हम कम्युनिस्ट नास्तिक हैं। किन्तु हम उन सबका आदर करते हैं जिनका धर्म में विश्वास है। हमें आशा है कि धर्म में विश्वास करने वाले उनका भी आदर करेंगे जो धर्म में विश्वास नहीं करते।

भारत और चीन के सम्मुख मुसलिम समस्या है। भारत में गत जन-गणना के अनुसार मुसलमानों की संख्या ३ करोड़ ५४ लाख थी। वे कुल जनसंख्या के लगभग १० प्रतिशत हैं। चीन में मुसलमानों की संख्या ४ करोड़ ८० लाख है। चीन में ४२,००० मसजिदें हैं। कहा जाता है कि केन्टन में प्रथम मसजिद हिजरा के केवल ५ वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् ६२७ ई० में बन चुकी थी।

ईसाइयों की संख्या चीन में ३० लाख है। भारत में ईसाइयों की जनसंख्या २·३० प्रतिशत अर्थात् ६२ लाख है। चीन मे लगभग तिगुने ईसाई भारत में है। चीन में बौद्ध, कन्फ्यूसिस तथा ताओ धर्मावलम्बी मुख्यतया है। बौद्ध, ईसाई और मुसलिम धर्म विदेशी माने जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्म जन-जीवन में इतना हिल-मिल गया है कि कोई विचार भी नहीं करता कि वह विदेश से आया है। ईसाई और मुसलिम धर्म अवश्य विदेशी माने जाते है। भारत में ईसाई तथा मुसलमानों की जो मनोवृत्ति रही है उसी का आभास चीन में भी मिलता है।

बौद्ध धर्म के प्रति रुचि होने का मुख्य कारण है कि मूल स्थान भारत होने पर चीनी बौद्धों ने कभी भारत की ओर सहायता या राजनीतिक आकांक्षा निमित्त आँख नहीं उठायी। बौद्ध धर्म राजनीतिक विवादों से दूर रहा। जापानी बौद्ध हैं। चीनी भी अधिक बौद्ध हैं। दोनों में संघर्ष होता रहा। चीन और जापान महायानपन्थी हैं। चीन की सीमा पर स्थित बर्मा, थाइलैण्ड, कम्बोडिया तथा वीयतनाम हीनयानपन्थी है। हीनयान तथा महा-यानपन्थियों में कभी संघर्ष होने की नौबत न आई। चीन के बौद्धों ने अपनी शक्ति बढ़ाने अथवा अपना दुःख दूर करने के लिए देश के बाहर से कुछ प्राप्त करने का प्रयास नही किया।

मुसलिम और ईसाई जनता की मनोवृत्ति इसके प्रतिकूल थी। उन्हें ईसाई जगत् का गर्व था। उनके चर्चों का विश्व स्तर पर संघटन था। उनके लिए आवाज उठाई जा सकती थी। मुसलिम जनता चीन में थी। एक प्रचार से अलग थी। सामाजिक जीवन में पूर्णतया न मिल सकी। उनकी दृष्टि विदेशी मुसलमानों की ओर उठती थी। उन्हें समय पर बाहर से सहायता का भरोसा रहता था। वे एक विश्व मुसलिम मिल्लत के अंग थे। उनका तीर्थस्थान देश में नहीं, बाहर था। फिर भी बौद्धों से उनका कभी संघर्ष नहीं हुआ।

मुसलमानों ने अपनी संख्या बढ़ाने का काफी प्रयास किया था। राज-

नीतिक जगत् में बलशाली अल्पसंख्यक होने की आकांक्षा रखते थे। भारत में जिस प्रकार संख्या बढ़ाने के लिए अनेक नीतियों तथा साधनों का अवलम्बन मुसलमानों ने किया है उसी से मिलते-जुलते का अनुकरण चीन में किया गया है।

परिस्थितियों से लाभ उठाकर गरीबों के बच्चों को चीन में मुसलमान खरीद लेते थे। अकाल, भूख, दरिद्रता आदि परिस्थितियों से पीड़ित तथा युद्ध से त्रस्त बालकों आदि को वे लेकर अपने धर्म में सम्मिलित कर लेते थे। इस प्रकार उनकी संख्या तो बढ़ती गयी परन्तु विदेशी मुसलिम रक्त उनमें कम होता गया। साधारण चीनी जनता उन्हें विदेशी अब भी मानती है। उन्हें "हुई" कहती है। उसका अर्थ अन्य जाति तथा धर्म होता है। बौद्ध को "हन" कहा जाता है। अर्थात् उन्हें चीनी जनता का अंग माना जाता है।

बीसवी शताब्दी में धार्मिक संघर्षों का केन्द्र बालकन, फिलस्तीन तथा भारत रहा है। तीनों भूखण्डों का विभाजन अथवा प्रस्तुत रूप धार्मिक विचारों के कारण हुआ है। उनमें एक पक्ष सर्वदा मुसलिम धर्मानुयायी तथा दूसरा पक्ष क्रम से ईसाई, यहूदी तथा हिन्दू रहा है।

सन् १९५३ ई० में चीन मुसलमान संघ की स्थापना हुई। उनमें साम्प्रदायिक भावना भरने का प्रयास किया गया। कम्युनिस्ट जगत् में एक बार मुल्ला तथा अन्य सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कार्यप्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज भी उठायी गयी थी। इस मनोवृत्ति से सतर्क रहने की आवश्यकता बतायी गयी थी।

भारत तुल्य चीन लौकिक सिद्धान्त के अतिरिक्त दूसरा कोई सिद्धान्त अपना नही सकता। चीन का शासन कम्युनिस्ट दल के हाथों में है। कम्युनिस्ट पार्टी धर्म में विश्वास नहीं करती। साथ ही धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। मानना होगा कि रूस तथा चीन दोनों ही प्रकृतितः लौकिक राज्य हैं।

चीन ने धर्मनिरपेक्ष नीति घोषित की है। तिब्बत में बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ किया गया चीनी व्यवहार उसकी धर्म-निर्पेक्ष नीति का समर्थन नहीं करता। तिब्बत में देवालयों तथा तीर्थ स्थानों पर अधिकार करना और वहाँ की धार्मिक जनता को अपने विचारों की रक्षा निमित्त देश त्याग कर भारत में शरणार्थी बनना शोभनीय बात नहीं है। जिस प्रकार चीनी कम्यु-

निस्टों को अपने विचार पर दृढ़ रहने का अधिकार है, उसी प्रकार तिब्बत निवासियों को बौद्ध धर्मानुसरण करने का अधिकार है। आशा है चीन की लौकिक राज्य नीति उदार, सहिष्णु तथा विचार-स्वातन्त्र्य दृष्टिकोण को सम्मुख रखेगी।

इटली में फासिस्ट तथा जर्मनी में नात्सी क्रान्तियाँ हुई हैं। वे धर्म-निरपेक्ष नहीं कही जायँगी। दोनों ही ने अपनी जाति की श्रेष्ठता का उद्घोष किया है। दोनों ने ही अपने देश की सीमा बढ़ानी चाही है। दोनों ने ही संकुचित धार्मिक भावनाओं का आश्रय लिया है। अतएव उनका पतन अवश्य-म्भावी था। उनकी शक्ति का आज कहीं पता नहीं है।

ईसाई जगत् यहूदी जाति का सनातन शत्रु समझा जाता है। शताब्दियों से यहूदी सताये जाते रहे हैं। नात्सी शासन ने यहूदी धर्मावलम्बियों पर जो अत्याचार किये हैं वे बीसवीं शताब्दी के लिए सर्वदा कलंक रहेंगे। समस्त विश्व देखता रह गया। मानवता ताकती रह गयी और लाखों यहूदियों का संहार कर दिया गया। जातीयता के इस अत्यन्त संकुचित निर्मम भाव से मानवता काँप उठी है।

उसी रंग-भेद, जाति-भेद, नीति का अनुकरण दक्षिण अफरीका कर रहा है। रंग-भेद तथा जाति-भेद के नाम पर जो लोमहर्षक घटनाएँ हुई है, उनसे मानव कहे जानेवाले प्रत्येक व्यक्ति का मस्तिष्क झुक जायगा। यह लौकिकता का अभाव है। केवल धर्म के विषय में निरपेक्ष रहना ही लौकिकता नहीं है। जहाँ भी कहीं असहिष्णुता, अनुदारता, विचार-स्वातन्त्र्य, न्याय के सम्मुख भेद-नीति, रंग अथवा जाति के आधार पर मौलिक अधिकारों का न मिलना दिखाई देगा, वहाँ लौकिक राज्य हो नहीं सकता। लौकिक राज्य की नींव मानवीय समानता है। रंग एवं जाति-भेद के आधार पर किसी को ताड़ित करना, उसे मौलिक अधिकारों से वंचित करना, धार्मिक संघर्षों से भी अधिक घृणास्पद है।

इस विषय को बन्द करते हुए मैं स्विस राष्ट्र के सम्बन्ध में कुछ कह देना चाहता हूँ। वह लौकिक राज्य का आदर्श स्वरूप है। उसकी आबादी में जर्मन, फ्रान्स तथा इटली निवासी हैं। तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। तीनों जातियों की संस्कृतियाँ भिन्न हैं। उनमें संघर्ष नहीं होता। वे एक दूसरे की पूरक हैं न कि विरोधी। मानव राष्ट्र का एक छोटा उदाहरण स्विटजरलैण्ड विश्व के सम्मुख उपस्थित करता है।

आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड राष्ट्रमण्डलीय देश हैं। उन्होंने अपनी नीति लौकिक घोषित की है। वे किसी क्रान्ति के परिणाम नहीं हैं। उनका विकास उपनिवेश से लोकतन्त्रीय शासन में हुआ है। उन्होंने अपने यहाँ शिक्षा लौकिक रखी है।

क्रान्ति के तृतीय वर्ग को लेता हूँ। इस वर्ग में वे देश आते हैं जिन्होंने दासता से मुक्ति पायी है। स्वाधीन हुए हैं। स्वाधीनता के लिए हिंसक अथवा अहिंसक क्रान्तियाँ की हैं। उनमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा भारत को लूँगा। एक ने हिंसक क्रान्ति की है। दूसरे ने अहिंसक क्रान्ति के मार्ग का अनुसरण किया है। इस वर्ग में बहुत-से एशियाई और अफरीकी देश आ जाते हैं। उनका वर्णन स्थानाभाव के कारण विस्तार से न कर सकूँगा। अमेरिका यद्यपि नई दुनिया था परन्तु उसमें आबाद होने वाले पुरानी दुनिया के लोग थे। यूरोप के धार्मिक अत्याचारों से ऊबकर अपनी मातृभूमि त्यागकर एक उद्देश्य, एक सिद्धान्त की रक्षा तथा पालन निमित्त यूरोपीय नागरिक अमेरिका में आकर आबाद हुए थे। वे उन कानूनों के सिकंजे से बचना चाहते थे जिनके द्वारा उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता तथा विचारों पर आघात पहुँचता था।

नाना प्रकार के विचारों तथा सम्प्रदायों के कारण अमेरिका की नवीन आबादी में भी संघर्ष व्याप्त हो उठा। जहाँ प्रोटेस्टेण्टों का बहुमत था वहाँ रोमन केथोलिकों को तथा जहाँ रोमन केथोलिकों का बहुमत था, वहाँ प्रोटेस्टेण्टों को सताया जाने लगा।

मशयूसेट्टस में चर्च राज्य की एक प्रकार की स्थापना हो गई थी। उसमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही बातों ने मिलकर विचित्र स्थिति पैदा कर दी थीं। जगत् में स्वर्गीय राज्य-स्थापन की कल्पना की जाने लगी। मई ६ सन् १६४६ ई० में जनरल कोर्ट के घोषणा में कहा गया—चर्च शासन का सच्चा रूप ईसा मसीह के राज्य की स्थापना पृथ्वी पर करना है। मई २७ सन् १६५२ ई० के कानून के अनुसार वह ईसाई व्यक्ति जिसकी आयु १६ वर्ष से ऊपर थी, यदि पुरातन अथवा नवीन बाइबिल के किसी बात की मौखिक अथवा लिखित रूप से मान्यता में सन्देह करता तो उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की गई थी। इस राज्य में सन् १६३१ ई० के कानून के अनुसार मताधिकार केवल चर्च के सदस्यों को दिया गया था। सन् १६३५ ई० के कानून के अनुसार चर्च में जाना अनिवार्य कर दिया गया था। सन् १६३६ ई० के कानून के अनुसार किसी नवीन चर्च निर्माण निमित्त मजिस्ट्रेट की आज्ञा

प्राप्त करना आवश्यक हो गया था। सन् १६३८ ई० के कानून के अनुसार राज्य चर्च की सहायता करने के लिए मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार परिस्थिति यह हो गई कि जो इन्हें न मानता उसका राज्य त्याग कर चले जाना अवश्यम्भावी बना दिया गया। क्वाकर बैपटिस्ट, रोमन केथोलिक लोग दण्डित होने लगे। कितने ही देश त्यागकर रोजर शरमन के नेतृत्व में रोड द्वीप में जाकर आबाद हुए।

इसी प्रकार वरजीनिया राज्य में सन् १६४१ ई० में रोमन केथोलिकों का रहना कठिन कर दिया गया। इंग्लैण्ड के राजा तथा चर्च आफ इंग्लैण्ड का मानना आवश्यक करार कर दिया गया। अमेरिका के राष्ट्रपति श्री मेडिसन ने कहा कि वरजीनिया के लोगों के लिए कानून बनाना एक प्रकार से असम्भव कर दिया गया था।

क्वाकर उपनिवेश पेनस्वाइल्वेनिया की स्थापना विलियम पेन ने सन् १६८२ ई० में की। यहाँ पर किसी चर्च की कानून स्थापना न हो सकी। सहिष्णुता, समता यहाँ के जीवन की कुंजी थी।

अमेरिका में धार्मिक संघर्ष ने जोर पकड़ लिया। जीवन कठिन हो गया। इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए जनता व्याकुल हो गई। सन् १७७६ ई० के अधिकार घोषणा जिसके रचयिता मेडिसन तथा जोर्ज मेसन के अधिकार पोषण कराने में समर्थ हुए--विचार स्वातन्त्र्य तथा धर्म अनुकरण निमित्त प्रत्येक व्यक्ति मुक्त है।

मेडिसन का प्रारम्भ से ही विचार था कि धर्म का सम्बन्ध मानव के व्यक्तिगत जीवन से है। उसे मनुष्य के विवेक पर छोड देना चाहिए। वह राज्य द्वारा चर्च के स्थापन के घोर विरोधी थे। उनका कहना था कि जिस अधिकार से राज्य चर्च का स्थापन कर सकता है, उसी अधिकार द्वारा वह ईसाइयों के किसी सम्प्रदाय को भी लोगों पर लाद सकता है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अपनी क्रान्ति के साथ ही लौकिक राज्य स्थापना का निश्चय किया था। अमेरिका साम्राज्यवादी ब्रिटेन के अधीन भारत तुल्य था। अंग्रेज उसे आजादी नहीं दे रहे थे। स्वाधीनता निमित्त सशस्त्र क्रान्ति अवश्यम्भावी हो गयी थी।

स्वाधीनता निमित्त अमेरिका ने ऐतिहासिक स्वाधीनता का घोषणा-पत्र सन् १७७६ ई० में घोषित किया था। अमेरिका की सफल क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस की क्रान्ति हुई। उसका यथास्थान वर्णन कर चुका हूँ।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान के रचयिता सर्वश्री जैफरसन तथा मेडिसन धार्मिक स्वतन्त्रता को केवल आदर्श ही नहीं बनाया है, बल्कि धर्म और राज्य के क्षेत्रों को पृथक् किया है। श्री जैफरसन (सन् १७४३-१८२६ ई०) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के तृतीय राष्ट्रपति सन् १८०० से १८०९ ई० तक रहे। सन् १७९६ से १८०० ई० तक उपराष्ट्रपति थे। सर्वप्रथम सन् १७६९ ई० में वरजीनिया में व्यवस्थापक चुने गये थे। मेडिसन (सन् १७५०-१८३६ ई०) अमेरिका के चतुर्थ राष्ट्रपति जेफरसन के पश्चात् सन् १८०९ ई० में हुए। जेफरसन के राष्ट्रपतित्व काल में सन् १८०० ई० से सिक्रेटरी आफ स्टेट थे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संवैधानिक विकास के वे मूल स्रोत थे।

सर्वप्रथम पृथक्करण की प्रक्रिया वरजीनिया राज्य में आरम्भ हुई। अमेरिकी संविधान का सन् १७९१ ई० में प्रथम संशोधन किया गया। संशोधन का उद्देश्य था कि कांग्रेस प्रचलित किसी धर्म के सम्बन्ध में तथा उनके मुक्त व्यवहार निमित्त कोई निषेधात्मक कानून न बनायेगी। सन् १८६८ ई० में देश के अन्य राज्यों ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। रेनाल्ड बनाम सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मुकदमे में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट कहा—न तो संघ तथा न राज्य चर्च की स्थापना कर सकते हैं। न तो वे वही कानून बना सकते हैं कि एक धर्म की सहायता अथवा अनेक धर्मों की सहायता अथवा उनके स्थान पर दूसरों को प्राथमिकता दी जाय। किसी को कोई चर्च जाने अथवा न जाने से रोक नहीं सकता। किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के निमित्त किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जा सकता।

श्री फ्रेंकलिन ने १५ मई सन् १७८१ ई० के पत्र में लिखा था—मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि आपके विधान (मश्शचुसेट्टस) से साधारणतया लोगों को सन्तोष होगा। उसकी एकता लोग पसन्द करेंगे। मैं यहाँ केवल उस धारा का वर्णन करूँगा जिसका सम्बन्ध याजकों अर्थात् क्लर्जियों से है।

उन्होंने ९ अक्टूबर के पत्र में पुनः लिखा—मैं इस प्रकार सोचता हूँ कि यदि कोई धर्म स्वयं अच्छा है तो उसमें इतनी शक्ति होगी कि वह अपने को सम्हाल लेगा। अगर वह अपने को सम्हाल नहीं सकता एवं परमेश्वर भी उसे सम्हालने की चेष्टा नहीं करता और उसके अध्यापक सिविल अथारिटीज अर्थात् राज्य प्रशासन की सहायता निमित्त बाध्य हो जाते हैं तो मुझे शंका होने लगती है कि यह उसकी खराबी की एक निशानी तो नहीं है?

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति तथा क्रान्ति के नेता जार्ज वाशिंगटन

ने २७ नवम्बर, सन् १७८३ ई० को अपने भाषण में कहा था—सिविल प्रशासकीय तथा धार्मिक स्वतन्त्रता ही वे प्रश्न थे जिन्होंने मुझे क्षेत्र में उतरने के लिए प्रोत्साहित किया है। उस आदर्श की प्राप्ति हो चुकी है। हमारी यह हार्दिक इच्छा है तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नागरिकों से निवेदन है कि अपने विवेक तथा नीतियुक्त भाव से इस प्रसाद का सदुपयोग करेंगे जिन्हें उनके सम्मुख उपस्थित किया गया है। सन् १७८७ ई० ग्रीष्म ऋतु में फिडेलफिया के संवैधानिक कन्वेन्शन में संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया गया था। यह विधान वरजीनिया विधान के प्रायः एक वर्ष पश्चात् प्रस्तुत किया गया था। वरजीनिया के विधान में स्पष्टतया लिखा गया था—यहाँ जिन अधिकारों को लेखबद्ध किया गया है, वे मानव के नैसर्गिक अधिकार हैं और यदि कोई कानून आज या कल उन्हें कार्यान्वित करने से रोकता है तो वह मानव के नैसर्गिक अधिकारों का उल्लंघन करना होगा। इसमें मानव को धार्मिक अधिकारों की स्वतन्त्रता दी गई थी।

जेफरसन ने सन् १७९२ ई० में वरजीनिया राज्य के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कहा था—यदि रोमन साम्राज्य ने विचार स्वातन्त्र्य तथा विचार-विमर्श की स्वतन्त्रता लोगों को न दी होती तो क्या आज ईसाई धर्म विश्व में फैल सका होता ? यदि सुधारवादी आन्दोलन के समय यूरोप में स्वतन्त्र चर्चा का आश्रय न लिया गया होता तो क्या ईसाई जगत् में व्याप्त भ्रष्टाचार दूर होता ? मत-विभिन्नता धर्मों के लिए लाभप्रद सिद्ध होती है। अनेक सम्प्रदाय एक दूसरों के दोषों का छिद्रान्वेषण किंवा आलोचना कर दोष-मोचन निमित्त दोष-दर्शक कार्यालय का कार्य करते हैं।

जेफरसन ने सन् १८०२ ई० में बैपटिस्ट मिशन को उत्तर देते हुए कहा था—इस तथ्य को मानते हुए कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन तथा उसके ईश्वर से है, वह अपने विश्वास तथा पूजा निमित्त किसी के सम्मुख उत्तरदायी नहीं है, प्रशासन की सीमा केवल उसके कार्य-क्षेत्र तक ही सीमित रहती है, उसका विचारों से सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी समस्त अमेरिकी जनता के विचारों का समर्थन करने के साथ-ही-साथ मैं धर्म और राज्य के बीच एक दीवार खड़ी करना चाहता हूँ।

लार्ड ब्राइस के शब्दों में अमेरिका में चर्चों का कानूनी स्तर और स्थिति एक सार्वजनिक संस्था के रूप में रह गया था। वहाँ कोई विशेष धार्मिक कानून नहीं रह गया। सभी प्रश्न यहाँ तक चर्च के अनुशासन किंवा विनमन

प्रश्न भी साधारण न्यायालयों के सम्मुख आ सकता है। दो धार्मिक संस्थाओं का एकीकरण भी कानूनी ढंग पर किया जाता है।

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने गृह युद्ध के समय सन् १८६२ ई० में कहा था—मैं इतना और कहना चाहता हूँ कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका चर्चों के चलाने का कार्य न करे। यदि कोई नागरिक चर्च अथवा चर्च के बाहर खतरनाक साबित होता है तो उसे रोकना ही चाहिए।

अमेरिका में लौकिक राज्य के रूप का दर्शन होता है। वहाँ चर्च ठोस नींव पर खड़े हैं। सभी सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय, मत, जाति तथा धर्म कानून के सम्मुख समान स्तर पर खड़े हैं। बराबर हैं। उनमें भेदभाव नहीं है।

सुप्रीम कोर्ट अमेरिका में लौकिकता सम्बन्धी बहुत-से विवाद निर्णय निमित्त जा चुके हैं। न्यायालय ने सर्वदा इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि धर्म किंवा सम्प्रदाय खतरे का नारा लगाकर देश की प्रगति नहीं रोक सकता। रेनाल्डस बनाम संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का मुकद्दमा इस सम्बन्ध में प्रमुख निर्णीत विवाद है। काँग्रेस ने एक कानून बहु-विवाह प्रथा के विरुद्ध पारित किया था। बहु-विवाह अपराध घोषित किया गया। मोरमन चर्च के एक व्यक्ति ने इसके विरुद्ध आचरण किया। वह दण्डित हुआ। उसने सफाई में उज्र किया। कानून धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा के विरुद्ध है। मौलिक अधिकारों के विपरीत है। सुप्रीम कोर्ट ने विधि की वैधानिकता का निर्णय देते हुए लिखा—धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप का अर्थ यह होता है कि जब राज्य किसी के विवेक, मत तथा विचारों में हस्तक्षेप करे। किन्तु, शासन विचार में भी हस्तक्षेप कर सकता है यदि वह उचित अनुशासन किंवा मर्यादा को तोड़ता है। जस्टिस स्तुलेज ने इवरसन बनाम बोर्ड आफ एजुकेशन के मुकदमे के सम्बन्ध में सन् १९४६ ई० में अपना मत प्रदर्शित करते हुए कहा है—धार्मिक स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी शर्त यह है कि वह अपना अस्तित्व बिना किसी प्रकार के गुजारे के करता रहे और साथ ही वह राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त रहे। राज्य तथा चर्च का पृथक्करण राज्य के लिए अच्छा है तथा चर्च के लिए अच्छा है।

अमेरिका के शत-प्रतिशत लोग ईसाई धर्मावलम्बी हैं। भारत, चीन अथवा रूस तुल्य परस्पर विरोधी मतों के संघर्ष एवं विवाद की समस्या वहाँ कभी न उत्पन्न हुई थी। प्रश्न केवल दृष्टिकोण एवं विचार-प्रवाह का है। वह स्वतन्त्र है अथवा किसी संकुचित अथवा सीमा-विशेष में मर्यादित घूमता दूसरे के प्रति वह भाव नहीं रखता जो स्वयं अपने लिए रखना चाहता है।

अमेरिका ने राज्य धर्म ईसाई नहीं घोषित किया है। प्रायः मुसलिम राष्ट्र ने जहाँ मुसलिम जनसंख्या शत-प्रतिशत है, जहाँ किसी दूसरे धर्म के प्रचार तथा संघर्ष का भय नहीं राजधर्म इसलाम घोषित किया गया है। यह संकुचित विचार है। विचार की एक सीमा का द्योतक है। उसका प्रभाव मस्तिष्क पर ठीक नहीं पड़ता। यह भी एक कारण है कि मुसलिम राष्ट्रों में स्थिरता का अभाव सर्वदा पाया जाता रहा है।

अमेरिका सुन्दर उदाहरण चर्च और राज्य के पृथक्करण का उपस्थित करता है। राज्य सहायता के अभाव अथवा संरक्षण में चर्च निर्बल नहीं हुआ है। वह पहले से और सबल हो गया है। अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। उसकी नीव ठोस हो गयी है। अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए मजबूर है। अपने पैरों पर खड़े होने वाले का पैर मजबूत होता है। शक्तिशाली होता है। इस मौलिक सत्य को अमेरिका ने समझा है।

संविधान का अनुच्छेद ६ खण्ड ३ स्पष्ट अंकित करता है—किसी राजकीय सेवा निमित्त किसी प्रकार की धार्मिक परीक्षा आवश्यक नहीं है। परिणाम अवश्यम्भावी था। जनता में सहिष्णुता आयी। उदारता आयी। वास्तविक सेवा तथा मानव जीवन के मूल्य का मूल्यांकन हुआ। यूरोप धार्मिक संघर्षों के विवादों से रक्त-रंजित हो उठा था। मानव का शत्रु मानव बन बैठा था। अमेरिका में मानव की दुर्बलता का यह नाटक न खेला जा सका।

शिक्षालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। उन्हें 'प्राइवेट एजेन्सियों पर छोड़ दिया गया है। वे चाहें तो अपने जन धन बल से उनका प्रचार करें। अमेरिका की काँग्रेस तथा न्यायालय इस प्रश्न पर एकमत हैं कि राज्य को धर्म अभिवृद्धि निमित्त कोई कार्य नहीं करना चाहिए। फिर भी मानव प्रवृत्ति परिस्थितियों पर हावी हो जाती है। काँग्रेस के सदनों में कार्यारम्भ ईश्वर प्रार्थना से होता है। राज्य विधान सभाओं में भी बैठक आरम्भ होने के पूर्व भगवद् बन्दना की जाती है। धार्मिक संस्कारों तथा कृत्यों को करने के लिए स्थल तथा नव सेना में चेपलेन राज व्यय से रखे जाते हैं। बाइबिल पढ़ने की छूट स्कूलों में दे दी गयी है।

सन् १९२२ ई० में औरगोन विधान सभा ने एक अधिनियम पारित किया। आठ से अठारह वर्ष के विद्यार्थियों की शिक्षा स्कूलों में अनिवार्य कर दी गयी। धार्मिक शिक्षा देने वाले प्राइवेट तथा साम्प्रदायिक स्कूलों—जहाँ धार्मिक शिक्षा दी जाती थी—पर कुठाराघात समझा गया। विवाद न्यायालय में गया। सन्

१९२५ ई० में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया—अधिनियम अवैधानिक है। अभिभावक अपने बच्चे को किसी भी स्कूल में भेजने के लिए स्वतन्त्र है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अब भी कहीं-कहीं रंग भेद की भावना है। उसे भी रोकने के लिए तेरहवाँ संशोधन संविधान में किया गया है। दासत्व प्रथा समाप्त कर दी गयी है। पन्द्रहवें संशोधन द्वारा जाति, रंग भेद तथा पूर्वकालिक दासत्व आदि के कारण होने वाले भेदों को भी लोप कर सब को समान मताधिकार दे दिया गया है। जनता की मनोवृत्ति लौकिक है। जो भी भेद-भाव दृष्टिगोचर होता है वह कालान्तर में तिरोहित हो जायगा।

यरूसलम में अन्तरराष्ट्रीय मिशनरी सम्मेलन हुआ है। ईसाई जगत् में लौकिक सिद्धान्त को पुनः धर्म का शत्रु करार दिया जा रहा है। उसकी कार्यवाही में स्पष्ट लिखा गया है कि ईसाई जगत् का शत्रु बौद्ध तथा मुसलिम जगत् नहीं अपितु लौकिकता है। उसमें लौकिकता की परिभाषा की गई है कि वह एक प्रकार का जीवन तथा जीवन का वह भाष्य है जो केवल प्रकृतिजन्य बातों को मान्यता देता है, जो ईश्वर को आध्यात्मिक सत्यता को जीवन के लिए आवश्यक नहीं मानता। उसी में पुनः कहा गया है कि औद्योगिक व्यवसायी तथा लौकिक विश्व का लक्ष्य आत्मा को सुखा देना है।

सन् १९४८ ई० में विश्व-चर्च कान्सिल का सम्मेलन एम्सटर्डम में हुआ। लौकिकता चर्च के चर्चा का विषय था। उसमें भारत के ईसाई श्री एम० एम० टामस ने गान्धीवाद की खुलकर आलोचना की कि नैतिकता के अतिरिक्त और किसी बात की कल्पना गान्धीवाद नहीं करता। पिपरे मौरे ने कहा वर्तमान जगत् के मनुष्य का पाप यह है कि वह इतिहास में विश्वास करने लगा है। भारत के एक अन्य इशाई बन्धु श्री पाल देवानन्दम् ने उपस्थित प्रतिनिधियों को ईसाइयत की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के महत्त्व की याद दिलायी। वरन् एसवेक ने कहा कि चर्च स्पष्ट लक्षित करे कि मानव के अधिकार तथा अन्य मौलिक सिद्धान्त कभी भी ईश्वर के राज्य की तुलना नहीं कर सकते।

लौकिक सिद्धान्त के विरुद्ध प्रचार करने का बीड़ा जैसे पुनः चर्च उठाना चाहता है। परन्तु चर्च का वह प्रयास असफल होगा। आधुनिक जगत् की गति से चर्च दूर है। प्रगतिशील विवेकी मानव को अब चमत्कार तथा चमत्कारपूर्ण गाथाएँ उतनी आकर्षित नहीं करतीं जितना पहले का सरलचित्त आकर्षित होकर अन्धविश्वासी बन जाता था।

धर्म प्राण इकाइयों का सबसे बड़ा आक्रमण लौकिकता के ऊपर यह है कि वह ईश्वर की अपेक्षा जगत् के लिए जीने और मरने के लिए कहती है। वह इस लोक के मानव कल्याण की बात करती है। स्वर्ग की अर्थात् परलोक के कल्याण की बात नहीं सोचती। भगवान् की महत्ता उसके प्रसाद में विश्वास नहीं करती।

लौकिक शब्द चर्चों के लिए जैसे भड़कानेवाली वस्तु हो गई है। वे उसके नाम से चौंकते हैं। वे नारा बुलन्द करने लगे हैं कि सभी धार्मिक शक्तियों को लौकिकता के विरुद्ध उसी प्रकार खड़ा करना चाहिए जैसे प्रारम्भिक ईसाई युग में पगानिज्म के विरुद्ध नारा बुलन्दकर ईसाइयों का सक्रिय संघटन किया गया था अथवा मध्ययुग ने जैसे अनीश्वरवादियों और धर्म-निन्दकों के खिलफ नारा लगाया गया था अथवा सत्रहवीं शताब्दी में जैसे प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायवादियों के खिलाफ जेहाद बोला गया था। ईसाई धार्मिक तथा लौकिक विचारकों में आज एक प्रकार का विवाद चल पड़ा है।

ईसाई जगत् शायद भूल जाता है कि ईसाई आन्दोलन यरूशलम में यहूदी सम्प्रदाय के सुधारक रूप में चला था। प्रभु ईसा मसीह के उपदेशों पर इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। यहूदी, ईसाई तथा मुसलिम परम्परा का मूल स्रोत एक ही है। संत पाल के समय में यहूदी तथा ईसाई विचारधाराएँ अलग हो गईं जब पाल ने कहा प्रभु ईसामसीह महात्मन् मूसा से आगे हैं। उसी समय ईसाई धर्म ने यहूदी धर्म का सुधारक रूप न रखकर अपना अस्तित्व अलग बना लिया।

ईसाई जगत् यूनानी दर्शन तथा उसके संघटन रचना द्वारा प्रभावित है। यूनानी दर्शन तथा संघटन लौकिक था। अतएव यह कहना निर्विवाद होगा कि ईसाई जगत पर लौकिकता का प्रभाव नहीं पड़ा है। रोम के मिथिराइज्म के प्रभाव से ही चौथी शताब्दी में क्रिसमस, ईसाई पर्व बन गया। यही प्रचार ईस्टर पर्व, जिसका मूल शब्द इस्ट्रे है अर्थात् वसन्त देवी हू से लिया गया है। यह वसंत ऋतु का पर्व है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ईसाई जगत् यहूदी धर्म और यूनानी दर्शन द्वारा प्रभावित ही नहीं उनकी एक प्रकार से देन है। यह शब्द कुछ धर्मप्राण ईसाइयों को अप्रिय लगेगा किन्तु कटु सत्य है।

तत्कालीन समाज से उसने सहायता ली है। समाज उसके विकास में सहायक हुआ है। उसे स्थान दिया है। उसे वर्तमान रूप देने में समर्थ हुआ है। वर्त्तमान सनातनी ईसाई जगत् का लौकिकता पर आक्रमण केवल इसलिए

है कि वह प्रगतिशील, विकासशील, बोधगम्य पथ का अनुसरण करने के लिए लोगों को उन्मुख करती है।

आजकल लौकिक विचार स्वयं एक दर्शन तथा विचार हो गया है। सनातनी ईसाइयों ने इसे अनैतिक तथा प्रस्थापित धर्म की संज्ञा दे दी है। उसका उत्तर कोलम्बिका विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्चीनीडर ने अपनी पुस्तक रिलीजन इन ट्वेंटिएथ सेन्चुरी में दिया है—उग्र धार्मिक ईसाई मानव के कल्याण निमित्त लौकिकता को खतरा मानते हैं। चर्चों में लोगों का न जाना, धर्म तथा उसके संस्कार के प्रति अरुचि, गाड़ने के स्थान पर, दाह, बाइबिल के प्रत्येक शब्दों को ब्रह्म-वाक्य न मानना, जगत् को ईसाई न बनाना आदि प्रवृत्तियों का एकमात्र कारण बढ़ती लौकिक दृष्टि को बताते हैं।

मैं दिखा चुका हूँ कि लौकिकता इतिहास की देन है। लौकिकता ने मानव कल्याण निमित्त जगत् को अनुप्राणित किया है। दुःख केवल ईसाई को ही नही होता सभी धर्म के प्राणियों को होता है और उसका निराकरण बिना भेदभाव के करना चाहिए। इस विचार को पुष्ट किया है। इसी बढ़ते विचार के कारण जगत् में अस्पतालों, नाना प्रकार के कल्याणकारी कामों में अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर होता कार्य दिखाई देता है। राष्ट्र, जन-समुदाय एक दूसरे का विरोधी न होकर निकट आता जा रहा है। भारत के जल-प्लावन से पीड़ित लोगों को विश्व के सभी लोगों की सहायता मिलती है। ईसाई या मुसलमान यह कहकर सहायता देने से नहीं हिचकते कि भारत के हिन्दू मूर्ति-पूजक हैं। विधर्मी हैं। उनके धर्म-कर्म से मेल नहीं खाता।

विश्व में ईसाई चर्च ही नहीं हिन्दू, मुसलिम, बौद्ध आदि धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो रहा है। सनातनी, संकुचित सम्प्रदायवादी अपना लड़खड़ाकर गिरता भवन देखकर जैसे व्याकुल हो उठे। पश्चिम में आज का यह उठता संकुचित लौकिकता विरोध अनायास अपने आप समाप्त हो जायगा।

भारत

भारत विश्व का सबसे प्राचीन राष्ट्र इस दृष्टि से है कि उसने अपने साहित्य, संस्कृति, धर्म तथा सभ्यता को हजारों वर्षों के उथल-पुथल के पश्चात् भी बचा रखा है। भारत की वह कौन-सी अद्भुत महा बलवान् शक्ति है? निश्चय ही उस शक्ति का दर्शन बिना किये भारत दर्शन अधूरा रह जायगा।

भारत के मनीषियों ने, स्मृतिकारों ने दो दृष्टियों का आश्रय लिया है—शास्त्र तथा देश। शास्त्र दृष्टि का अर्थ ज्ञान दृष्टि है। अतएव ज्ञान एवं देश यह दो दृष्टियाँ हैं, जिनका प्रवाह अविच्छिन्न गति से भारतीय जीवन, साहित्य, इतिहास, दर्शन एवं मत-मतान्तरों में बहता चला आ रहा है।

वैदिक साहित्य में, पुराण काल में, पुरातन वांग्मय में एवं अभ्युदय तथा पतन काल में भी भारत ने कभी जातीयता, प्रान्तीयता, भाषावार क्षेत्र आदि प्रश्नों पर विचार नहीं किया। उनकी कल्पना करना तो दूर रहा। उसे वे विचारों की संकीर्णता समझते थे।

भारतीय उदारवादी थे। सहिष्णुता उनकी ढाल थी। विवेक उनकी असि थी। मनुष्य की दुर्बलता ही वह शत्रु थी जिसपर वे प्रहार करना चाहते थे। मानवीय दुर्बलता संकीर्णता की अनुगामिनी होती है। संकीर्णता किसी वस्तु को सीमित करती है। सीमा स्वयं एक परिमित लोक बन जाती है। भारतीय सीमित बँधे सरोवर के जल-बिन्दु न होकर, ओर-छोरहीन महान् सागर के बूँद बनना चाहते थे। वे अपने में स्वयं लीन न होकर, सबमें लीन हो जाने की आकांक्षा करते थे। स्वयं अपने को केन्द्र न मानकर, सब को केन्द्र मानकर चलने के इच्छुक थे। वे किसी रूढ़ि, किसी परम्परा, किसी एक विचार पर सन्तोष कर बैठे नहीं रह गये। उनकी विचारधारा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक प्रयोजन में, प्रत्येक कर्म में मुक्त विकसित होती रही।

आक्षेप किया जाता है। भारत धार्मिक देश है। धर्म उसकी प्रत्येक शिरा में प्रविष्ट होकर उसे निष्क्रिय बनाने में सहायक हो गया है। वे निराशावादी हो गये हैं। जगत् को मिथ्या मान बैठे हैं। सब कुछ माया का प्रपंच मानते हैं। ऐहिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक चिन्ता में रत रहते हैं। आध्यात्म

उन्हें जगत् की समस्याओं, उन्हें हल करने के विचारों से दूर हटाता चल गया है। वे अधिदेववादी हो गये हैं। लौकिक भावना उनसे हटती गयी है।

बात कुछ दूसरी है। भारतीय आशावादी हैं। उनके जीवन का एक उद्देश्य है। संसार के आनन्द उपभोग निमित्त भी उन्होंने एक जीवन संहिता बनायी है। उसे एक रूप दिया है। जीवन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विचार किया है। गवेषणा की है। दर्शन को अपने जीवन में उतारना चाहा है। उनका जीवन ही दर्शन हो गया है। वह दर्शन, प्रत्येक मानव में रंग-भेद, जाति-भेद-हीन आत्मदर्शन करने लगा है। उस दर्शन का रूप था—स्वयं मानव। उनके लिए भूतकालिक समस्याएँ, जगत् सृजन, ब्रह्माण्ड योजना, आवागमन आदि चिन्तन की बातें हो गयी। भविष्य की समस्याएं सीमित हो गयी स्तित्व के रक्षा तक।

भारतीयों ने राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति के मौलिक रहस्यों को समझा। उनका प्रयोजन समझा। मानव की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया। भारतीय तथा भारत राष्ट्र किस प्रकार एक सूत्र में बँधकर रह सकता है, इसपर हजारों वर्षों तक अनुसन्धान होता रहा। उनके अनुसन्धान का फल भारत की विभिन्नता में एकता है। इस एकता का दर्शन आज भी मिलता है। वह अलौकिक है। अद्भुत है।

भारत में राज्यसत्ता तथा धार्मिक सत्ता में कभी द्वन्द्व नहीं हुआ। कभी संघर्ष की नौबत नहीं आयी। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट, चर्च और राज्य, खलीफा और बादशाहों में सत्ता के लिए जैसे रक्तपात एवं संघर्ष हुए हैं, भारत में उनकी कल्पना न की गयी। इसका प्रधान कारण यह था कि चर्च जैसे बलशाली तथा देशव्यापी संघटन का भारत में संघटन नहीं किया गया। राज्य के समानान्तर देश में धार्मिक संघटन नहीं खड़ा किया गया। पुरोहित किंवा याजक वर्ग की हाइयार्की भारत में स्थापित न की गयी। धार्मिक कार्य-क्षेत्र पृथक् किये गये। परन्तु उसे साधिकारिक मान्यता पदाधिकारियों तुल्य नहीं दी गयी। उसे न्याय करने, शासन करने का अधिकार न दिया गया।

समस्त भारत का कोई एक आचार्य, एक गुरु नहीं था, जिसके आदेश पर कोई बात उठायी तथा की जाती। भारत में पोप तथा खलीफा जैसा पद न बन सका। याजक एवं पौरोहित पद ऐच्छिक था। समाज पर लादा नहीं

गया था। उसका उद्देश्य समाज के लिए त्याग करना था। सेवा करना था। समाज के सामाजिक जीवन को सन्तुलित रखना था। अधिक से अधिक सर्वतोमुखी योगदान देना था। यह कार्य ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण वर्ग को दिया गया था। यह वर्ग सम्पत्ति की माया से, व्यापार के लोभ से, व्यवसाय की माया से, धन की माया से, संघर्षों से दूर था। इस वर्ग में आर्थिक लाभ, राजकीय शक्ति किंवा सत्ता कभी प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न न हुई।

प्रश्न उठ सकता है। वर्णाश्रम व्यवस्था लौकिक सिद्धान्त के क्या अनुकूल थी ? उत्तर हाँ में दिया जा सकता है। प्रकृतितः मानव प्रवृति, ज्ञानी, संघर्षशील, व्यवसायी एवं श्रमिक होती है। यह प्राकृतिक मानवीय प्रकृति है। जिस प्रकार प्रत्येक मानव की आकृति में अन्तर है उसी प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में भी अन्तर है। इस मौलिक तथा प्राकृतिक प्रवृत्ति के ऊपर वर्ण-व्यवस्था की नींव रखी गयी थी। कालान्तर में उसने जाति का विकारी रूप ले लिया।

आज की वर्ण-व्यवस्था विकार मात्र है। इस वर्ण-व्यवस्था के कारण जब तक भारत में भारतीय हिन्दू राज्य था सुख-शान्ति थी। सब काम एक सुनिश्चित योजना से चलता रहा। मनीषियों ने, स्मृतिकारों ने, ऋषियों ने शायद कल्पना न की थी कि भारत पर आक्रमण होगा। भारत पददलित होगा। वह समय भी आयेगा जब धर्म केवल मुण्ड गिनेगा। विचार तथा चरित्र का महत्त्व गौण हो जायगा। भारत इसके लिए तैयार न था। मुसलमानों एवं ईसाइयों के प्रवर्तक धर्म तथा उसके लिए राज्याश्रय, राजशक्ति प्रयोग की कल्पना वह कभी कर नहीं सकता था। वह सोच नही सकता था कि जबर्दस्ती मुसलमान बनाना, जबर्दस्ती लडकी लेकर विवाह कर लेना, प्रलोभन में धर्म त्यागने के लिए प्रेरित करना भी, मानव कभी सोच सकेगा। भारतीय समाज को जब यह धक्का लगा तो उसे सम्हलने में शताब्दियाँ लग गयीं। जब वह सम्हला तो मुसलिम साम्राज्य लुण्ठित हो गया। अंग्रेज भारत से चल दिए।

दूसरा कारण यह था कि धर्म कभी राज्य के अधीन नहीं हुआ। धर्म प्रचार का राज्य साधन नहीं था। यदि आज कोई ईसाई या मुसलमान होना चाहे तो उसे मिशन किंवा तवलीग अंजुमन से प्रोत्साहन तथा सहायता मिलेगी। जल्दी से जल्दी उसका धर्म परिवर्तन कर उसे पुराने धर्म के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने के लिए शिक्षित कर दिया जायगा। हिन्दू धर्म परिवर्तन में विश्वास

नहीं करता था। उसने इस मौलिक सत्य को गीता से सीखा--"पर धर्मो भयावहः।" अपना धर्म ही श्रेयस्कर है। उससे त्राण मिल सकता है।

अपने घर में खाना मिलता है तो दूसरे के सामने हाथ पसारने से क्या लाभ? बौद्ध धर्म ने तो नियम बना दिया कि माता-पिता की बिना अनुमति के कोई प्रवज्जा नहीं ले सकता। धर्म का सम्बन्ध मानव के व्यक्तिगत जीवन से समझा गया। धर्म का प्रयोजन आत्मविकास समझा गया।

राज्य का प्रयोजन समाज, संगठन, राष्ट्र, संघटन, देश, के योग-क्षेम एवं रक्षा से था। उसका कार्यक्षेत्र मत्स्य न्याय रोककर, समाज में स्थिरता, शान्ति एवं सुख स्थापित करना था। समाज की शक्तियों का सन्तुलन सर्वदा बनाये रखना था। दोनों के कार्यक्षेत्र निर्धारित थे। दोनों अपने अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र थे। अतएव कभी संघर्ष का प्रश्न उठा ही नहीं। दोनों एक दूसरे के पूरक थे। विरोधी नही थे।

तीसरा कारण यह था कि जितने मतों तथा सम्प्रदायों का उदय भारत में हुआ, वे प्रायः सुधारवादी थे। बौद्धधर्म ने भी सनातन धर्म के सुधार की बात उठायी थी। वह वैदिक सिद्धान्त कि आध्यात्मिक और लौकिक क्षेत्र अलग होने पर भी एक दूसरे के पूरक हैं। सभी मतों तथा सम्प्रदायों ने माना। उनका आदर किया। धर्म एवं राज्य के कार्यक्षेत्र ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के हो गये। समाज के ब्राह्मण और क्षत्रिय महत्त्वपूर्ण अंग बन गये। एक का सम्बन्ध देश के आध्यात्म तथा ज्ञान विकास से था तो दूसरा देश के प्रशासन तथा उसके लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए उद्यत था।

क्षात्र धर्म को राज धर्म कहा गया है। देश की परिस्थिति अनुसार नमनीय विधि तथा व्यवस्था निमित्त आपद्धर्म का भी विचार तथा रूप बनाया गया था। राजा का कार्य केवल पद से लिपटे रहना नहीं था।

मनुष्य का जीवन एक-सा नहीं रहता। एक-सी स्फूर्ति तथा शक्ति सर्वदा नहीं रहती। एतदर्थ आश्रम की व्यवस्था की गयी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। अवस्था नैतिक विधियाँ थीं। उन्हें मनवाने के लिए किसी अधिकार की आवश्यकता नहीं थी। प्रशासन में अवसर ग्रहण का समय निश्चित किया गया है। उसके पश्चात् राजसेवा नहीं की जाती। पश्चिम में राजा मृत्यु-पर्यन्त शासनारूढ़ रहता था। यही कारण है कि पदलोलुपता के वशीभूत होकर वहाँ राज-हत्याओं का जोर बढ़ गया था।

भारत ने आश्रम धर्म के द्वारा जीवन के समय का विभाजन कर दिया था। प्रौढ़ावस्था किवा गृहस्थावस्था समाप्त होते ही राजा स्वयं अवसर ग्रहण करता था। वानप्रस्थ आश्रम का निर्वाह करने लगता था। बौद्ध साहित्य तथा हिन्दू साहित्य में इस प्रकार के राजाओं के अनेक उदाहरण मिलेंगे जहाँ राजा स्वत: सिंहासन त्याग कर, वानप्रस्थी होकर वनचारी हुए हैं। समाज में इस प्रकार का त्याग महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। अतएव प्रत्येक व्यक्ति की कामना होती थी कि वह महत बने। सामाजिक शील, व्यवहार के कारण राजसत्ता निरंकुश नहीं हो सकती थी। इन मर्यादाओं के कारण सहिष्णुता, लौकिकता एवं स्वतंत्रता स्वच्छन्द भारत में फलती-फूलती रही। यहाँ तक कहा गया है कि जनता की रक्षा में असमर्थ राजा किवा राज्य सत्ताधारियों को पागल कुत्ते के समान मार डालना चाहिए।

राजा का अधिकार धार्मिक विधि, राजधर्म, आपद्धर्म, कर्म, सामाजिक बन्धन ब्राह्मणों की मन्त्रणा द्वारा नियन्त्रित था। राजा निरंकुश नहीं था। उसका कर्तव्य जनता की बुभुक्षा और विदेशियों तथा आततायियों के आक्रमणों से सेवक तुल्य रक्षा करना था। देश की अराजकता से रक्षा करना था। उसका अस्तित्व, प्रभावशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, अभिजात बल तथा प्रज्ञा-बल पर निर्भर था।

चौथा कारण भारतीय विचारधारा थी। वह राज्य को मानव विकास किवा समाज की व्यवस्था के लिए अनिवार्य समझती थी। राज्य का तन्त्र क्या हो यह बात उतनी महत्त्व नही रखती थी जितना यह महत्त्व रखता था कि देश में अराजकता न फैलने पाये। बिना राज्य शासन के देश के नंगे रूप का दर्शन मिलता है। राजधर्म, देश को परिधान पहनाता है। उसकी सभ्यता की रक्षा करता है। उसकी काया की रक्षा शत्रु के आक्रमण से करता है। गृहकलह से करता है। शान्ति, सुखद वातावरण एवं उत्तम परिस्थितियाँ उत्पन्न कर मानव को विकसित होने का अवसर देता है।

अर्थशास्त्रकारों ने राज्य की महत्ता और उसके लौकिक रूप पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने राजशास्त्र को धर्मशास्त्र एवं त्रयी से अलग किया। राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, स्मृति, दण्डनीति एवं नीतिशास्त्रों को अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया। स्मृतियों ने विधि की प्रधानता स्थापित की है। यह विचार दृढ़ किया कि कानून के सम्मुख सब कुछ बराबर है। चाहे वह विषय धर्म का ही क्यों न हो। धर्म और लौकिक विषयों के लिए दो

प्रकार के कानून अथवा दो प्रकार के न्याय एवं न्याय-कर्ता की कल्पना नहीं की गयी। कानून के प्रति निष्ठा जितनी ही दृढ़ होती गयी सम्प्रदाय किंवा मतों के संकुचित भाव उतने ही घटते गये।

पश्चिम में राजा कानून का स्रोत समझा जाता है। भारत में बात दूसरी ही थी। कानून का स्रोत राजा नहीं था। वह कानून का मुखापेक्षी था। यह कानून राजशास्त्र, राजधर्म, अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों में लिखे थे। उनकी मान्यता चाहे प्राचीन गणतन्त्रीय अथवा राजतन्त्रीय शासन ही क्यों न हो, दोनों को मान्य था। उत्तर वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की जो भावना उदित हुई थी अर्थशास्त्रीय एवं स्मृति काल में वह देशिक एवं राष्ट्रीय राज्य के रूप में ढल जाती है। उसी प्रकार वैदिक काल का सामाजिक-धार्मिक राज्य, अर्थशास्त्र काल में केवल लौकिक राज्य के रूप में स्थित हो जाता है।

पाँचवाँ कारण युग धर्म का सिद्धान्त था। कोई भी कानून एवं व्यवस्था प्रगतिहीन नही हो सकती। वह समय के अनुसार, युगों के अनुसार, परिस्थितियों के अनुसार, बदलती रहेगी। कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि का युग-धर्म, एक नही होता। वह बदलता रहता है। यह चक्र चलता रहता है। सनातन से यह चक्र चलता रहा है। चलता जायगा।

इस युगधर्म के सिद्धान्त ने एक ओर यदि युग किंवा काल से मानव में अरुचि अथवा नैराश्य उत्पन्न नहीं होने दिया तो दूसरी ओर उसे समझाया कि रात-दिन के समान, ऋतुओं के समान, जन्म, मृत्यु के समान, उत्थान-पतन के समान, विश्व में कुछ हो रहा है। यह होता रहेगा। उसके अनुरूप अपने को ढाल लेने में ही त्राण है। उसके साथ चलने में ही बुद्धिमानी है। इस यात्रा का यात्री लोक यात्रिक होना चाहिए। इस यात्रा में मौलिक धर्म, जो सनातन है, नहीं बदलता। उसे पथप्रदर्शक रूप रखकर की गयी यात्रा सफल होगी। वह गन्तव्य लक्ष्य पर पहुँचा देगा। शरीर में जिस प्रकार कफ, पित्त, वायु; सात्विक, राजसिक, तामसिक; भावनाओं का उतार-चढ़ाव होता रहता है, फिर भी शरीर नष्ट नहीं होता है, वह सन्तुलन बनाने की क्रिया निरन्तर करता रहता है। उसी प्रकार राष्ट्र में, समाज में, देश में इस प्रकार की लहरें काल-क्रम से उठा करती हैं। यह एक मौलिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से कोई अछूता नहीं रह सकता।

परन्तु सभी प्रक्रियाओं और क्रियाओं का केन्द्र, मानव है। उसे नष्ट

होने से बचाना है। उसे विकास की ओर ले जाना है। वही लक्ष्य है। वह साधन नहीं है। वह साध्य है। इस दृष्टिकोण ने भारतीय जीवन के प्रत्येक अंगों में व्यष्टिवादी भावना भर दी। भारत में कबीले की, दूध की, जाति की, भावना के विपरीत, मानव की, मानव के कल्याण की, मानव के विकास की भावनाएँ भरने लगी। इस भावना ने भारतीय जीवन का समस्त रूप आदर्श लौकिक राज्य के साँचे में ढाल दिया।

भारत की सहिष्णुता तथा धर्म निरपेक्ष भावना को लाँछित किया जाता है। उनके कारण भारत दुर्बल हुआ है। राष्ट्रीयता में आघात लगी है। वह अत्यन्त व्यष्टिवादी हो गया है। उसमें समूह तथा संघ की भावना नहीं है। यूथ प्रवृत्ति नहीं है।

यूथ प्रवृत्ति विकसित बुद्धि अथवा चरित्र का द्योतक नही है। यूथ प्रवृत्ति प्राणी की अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था को लक्षित कराती है। पशु जगत्, पक्षी जगत्, कीट-पंतगादि यूथ प्रवृति के होते हैं। जहाँ कहीं पशु जायेंगे, एक साथ जायेंगे। पक्षी उड़ेंगे। एक साथ उड़ेंगे। कीड़े चलेंगे। एक साथ चलेंगे। चीटी, मच्छर, मक्खी एक साथ रहेंगी। यूथ प्रवृत्ति जीव की प्रारंभिक अवस्था प्रकट करती है। कबीले वालों की यही प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति में दुर्बलता की भावना होती है। वह अपनी रक्षा दूसरों से चाहता है। उस व्यष्टि की दुर्बलता को यूथ की शक्ति में बदल देता है। यूथ सबल से दुर्बल की रक्षा करेगा यही चेतनता कबीले के पीछे रहती है। वे सोचते हैं यूथ में रहने से उनकी रक्षा होगी। अलग होने से अस्तित्व का लोप हो सकता है।

किन्तु यदि कोई इस यूथ की शक्ति पर निर्भर न होकर अकेला अपनी रक्षा के लिए खड़ा होता है, तो अपनी प्रबल शक्ति का परिचय देता है। उसकी यह शक्ति भौतिक नहीं, आध्यात्मिक होती है। उसकी आत्मशक्ति होती है। वह उसके पूर्ण मानवीय विकास को प्रकट करती है। इस आत्म-विकास किंवा मानवीय विकास को मानव जीवन का अन्तिम परिणाम कहा जायगा। व्यक्ति जितना ही विकसित होता जायगा, उतना ही उसकी यूथ प्रकृति का लय होता जायगा। वह किसी यूथ का न होकर विश्व का हो जायगा। उसकी दृष्टि विश्व दृष्टि होगी।

भारत के इस जीवन दर्शन ने मुसलिम तथा ईसाई प्रचारों के बावजूद; अनेक जाति, उपजाति, अस्पृश्यता, भाषा, जाति, गोत्रादि में विभाजित होने के बावजूद; वह शक्ति दी है; जिसके कारण वह अस्पृश्य, अछूत, एक दूसरे से

अलग रहने पर भी, एक दूसरे से पददलित होने पर भी, एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा किये बिना ही, जहाँ था वहीं, अपनी शक्ति, अपने विश्वास, अपने विचार के बल पर दृढ़ खड़ा रहा।

वह किसी यूथ का न होकर विश्व प्रक्रिया, विश्व रचना का एक अंग बन गया। उसने समझा। यह शरीर नष्ट होता है। उसी प्रकार जैसे एक वृक्ष गिरता है। मिट्टी में मिलता है। उस मिट्टी से पुनः उस जैसा ही वृक्ष अंकुरित होता है। प्रकृति की यह रचना, यह सृजन अनवरत गति से चलती रहती है। ठीक इसी तरह उसका भी किसी न किसी रूप में रूपान्तर होता रहेगा। इस विचार ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मूर्तमान किया। उसके कर्मों का, उसके जीवन का, इस जगत् तक इस जीवन तक ही अन्त नहीं है। उसने जो कुछ अधूरा छोड़ा है, जो कुछ करना चाहता है, वह पुनर्जन्म की परम्परा में कभी न कभी पूर्ण होगा।

उसका विकास इसी जीवन तक सीमित नहीं है। उसका कार्य-क्षेत्र समस्त विश्व एवं समस्त ब्रह्माण्ड है। वह कहीं थक कर रुकेगा नहीं। चलता रहेगा। इस दृष्ट ने उसे विश्व दृष्टि, उदार दृष्टि, मुक्त दृष्टि, मानव दृष्टि दी, जो लौकिकता की आदर्श आधारशिला है।

भाषा के आधार पर विश्व में राष्ट्र बनते रहे हैं। बिगड़ते रहे हैं। जाति के आधार पर राज्य किंवा साम्राज्य जमते और उखड़ते रहे हैं। भाषा के आधार पर भारत का कभी विभाजन नहीं हुआ। भाषा के आधार पर कभी राज्य बने नहीं। स्मृति महाभारत, रामायण, पुराणकारों ने, कूट-कूट कर यही दिमाग में भरा भारत पितृ देश है। पुण्य भूमि है। अखण्ड है। हमारे लिए सब कुछ है। इस पुण्य भूमि की एकता, अश्वमेधादि यज्ञों में, सम्राट् की भावनाओं में, प्रतिलक्षित की गयी। इस एकता के लिए प्रयास करनेवाला महान् माना गया। एकता की यह भावना ही भारतीय राष्ट्र की बोधात्मा है। यह एकता पुण्य कार्य माना गया। उस एकता को खण्डित करनेवाले की घृणित कल्पना की ही न जा सकती थी। वह पाप था।

काश्मीर के गौरांग तथा दक्षिण के श्याम दोनों ने कभी रंग-भेद नही माना। दोनों सहस्रों मील एक दूसरे से दूर रहते हुए जैसे एक स्नेह-सूत्र में, उस सूत्र में, जिसके पीछे किसी संविधान, किसी राजसत्ता की मान्यता नहीं होती, बँधे थे। यह स्नेह-सूत्र इतना सबल था कि विदेशी आक्रमण और विदेशी सत्ताएँ उसे तोड़ न सकीं। इस सूत्र का सम्बन्ध था, भारतीय आत्मा

से। अमर आत्मा तुल्य इस सूत्र के स्तित्व का लोप नहीं हुआ। यह सूत्र लौकिक भावनाओं से बाँटा गया था। लौकिक दृष्टि से ओतप्रोत था। भारत के वक्षस्थल पर वह त्रिसूत्रीय यत्रोपवीत तुल्य सूत्र था। वह सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और समानता बनकर भारतीय राष्ट्रीय भावना को एक ग्रन्थि से दृढ़तापूर्वक बाँधे था।

राजा किंवा सम्राट् निरंकुश नही थे। वे भी स्मृतियों के निर्देशों से बँधे थे। जनता भी उन निर्देशों से बंधी थी। जनता को अधिकार था कि निर्देशों का उल्लंघन करनेवाले राजाओं को वेणु, नहुष, सुदास, सुमुख तथा निमि तुल्य हटा सकती थी। राजपद एक ट्रस्ट किंवा न्यास था। जन रंजन निमित्त था। वह राजा शिवि का आदर्श उपस्थिन करता है। जिसने दूसरे की बुभुक्षा शान्ति निमित्त अपना अंग काट कर देने में हिचक न की। भारत ने त्याग और उत्सर्ग को राज ऐश्वर्य एवं राजपद से सर्वदा अधिक महत्त्व दिया है।

भारतीयों ने मानव को केवल मानव समझा। उनमें भेद न किया। उसके लिए धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर गौण थे। मानव मुक्त पैदा हुआ है। मानव का आदर्श मुक्ति है। सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होना मुक्ति है। संस्कारों मे स्वतन्त्र होना मुक्ति है। विचारों से स्वतंत्र होना मुक्ति है। मुक्ति के इस दर्शन ने भारतीय जनता को सहिष्णु बना दिया। विचार किंवा मत के लिए किसी को ताड़ित करना, किसी पर प्रतिबन्ध लगाना, किसी पर अत्याचार करना उसने जाना ही नहीं। उसके लिए यह सब आश्चर्य की, घृणा की, वस्तुएँ थीं। उसकी प्रकृति सहिष्णु, दयालु तथा मानवीय बन चुकी थी। यही कारण है कि भारत ने विचार स्वातंत्र्य को सर्वदा महत्त्व दिया है।

विचार के लिए, किसी मत के लिए, किसी धर्म के अनुयायी होने के नाते उसने किसी पर आँख न उठायी। उसने विचार न मिलने पर भी, विरोधी विचार वालों का आदर किया। विरोधी धर्मावलम्बियों को स्थान दिया। उन्हें अपना माना। शक, हूण, यवन, ईसाई, पारसी, मुसलमान सब आये। सब ने स्थान पाया। सब ने भारत में किसी प्रकार के बेगानेपन का अनुभव न किया।

धर्म के प्रति, जाति के प्रति, रंग के प्रति असहिष्णुता, राग, द्वेष, पश्चिम की देन है। पश्चिम की इस देन को बिना समझे बूझे लेकर विकट समस्या उपस्थित कर ली गयी है। यह जानते हुए कि हमारी प्रकृति से उसका मेल

नहीं खाता। उसके पीछे दौड़ रहे हैं। अतएव, अद्‌भुत, संकुचित, असंकुचित समस्याएँ, नाना रूप, नाना नाम, से उपस्थित हो गयी हैं। उन्हें हल करने में किस प्रकार भारत सफल होगा, यही देखना है।

भारत का विभाजन हुआ। एक देश से दो देश बने। भाषावार प्रान्त बने। जातीयता की लहर उठी। विघटनकारी शक्तियाँ आती गयीं। उग्र होती गयीं। इनका सामना किस प्रकार किया जाय? क्या केवल एक भाषा, एक धर्मानुयायियों का देश अथवा प्रान्त बन जाने से समस्याएँ हल हो जायेंगी? अंग्रेजी भाषा-भाषियों का क्या एक देश बन सकता है? क्या ईसाई किंवा मुसलमान धर्मावलम्बियों का एक देश बन सका है?

भारत एक मौलिक विचार के साथ एक पथ का पथिक बना है। उसने युगधर्म के सिद्धान्त को रखा। उसने कर्म के सिद्धान्त को रखा। उसने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को रखा। उसने आशामय, आनन्दमय, शुभ, सुन्दर, सत्य जीवन के सिद्धान्त को रखा। उसने मनुष्य को राक्षस नहीं, देव समझा। उसने प्रत्येक मनुष्य को किसी गिरोह, किसी कबीले, किसी जाति, किसी वर्ग का अन्धानुगामी बनने की गोली नहीं खिलाई। उसने अपनी बुद्धि, अपने ज्ञान पर विश्वास करने के लिए अनुप्राणित किया।

उसने कहा--विश्व तुम्हारा है। तुम विश्व के हो। सारा जगत् तुम्हारा है। सारी पृथ्वी तुम्हारी है। तुम किसका लोगे? किसका दोगे? निष्काम भावना जागृत हुई। जब किसी राष्ट्र के जीवन में इस प्रकार की बातें बैठ गयीं तो उस राष्ट्र की दृष्टि स्वभावतः उदार हो जायगी। वह राष्ट्र आक्रामक नही होगा। किसी की वस्तु का अपहरण करना न चाहेगा। अतएव भारत में कभी साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद की लिप्सा उत्पन्न न हुई। उसने किसी देश पर, किसी जाति पर, किसी धर्म पर आक्रमण नहीं किया। उसपर आक्रमण हुआ। उसके देव-स्थान उसकी आँखों के सामने टूटते रहे। परन्तु शक्ति आने पर, बलशाली होने पर भी, प्रतिहिंसा की भावना उसमें उदित न हुई।

प्रतिहिंसा की भावना का अभाव लौकिकता की अन्तिम कड़ी है। भारतीयों की ज्ञान दृष्टि मानव को पशु नहीं, देव समझती है। वह मानव को प्रकृतितः अच्छा समझती है। वह मानव के शरीर को देवालय और उसमें बैठे जीव को देव सनातन समझती है। वह बदला लेना भगवान पर छोड़ता है। यही कारण है कि कबीलेवालों जैसी कठोर जातीयता तथा सनातन प्रतिहिंसा

एवं संघर्ष की बातें, अनेकों जात-पाँत में विभाजित होते हुए भी, भारत के लिए दूर की चीजें थीं। साथ ही उसने जीवन में निराशा उत्पन्न नहीं होने दिया। उसने जीवन को आशामय माना।

उसने कर्म का ठोस सिद्धान्त सम्मुख रखा। मनुष्य कर्म से सब कुछ कर सकता है। वह अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसके कर्म के लिए कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं हो सकता। उसे अपने कर्म का भोग भोगना ही होगा। वह किसी के आशीर्वाद किंवा प्रसाद से क्षमा प्राप्ति न कर सकेगा। अपने कर्म का फल मिलने वाला है ही तो नैराश्य की क्या आवश्यकता? जितना बोयेंगे उतना काटेंगे। यह दृष्टि उसे स्वावलम्बी बनने में, निरपेक्ष भाव रखने में, सहायक हुई है।

उसने विश्व कुटुम्ब, विश्व बन्धुत्व का आदर्श रखा। उसने आत्मविकास उद्देश्य घोषित किया। आत्मविकास का साथी है विवेक। आत्मविकास का साधन है ज्ञान। विवेक एवं ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती। वे वर्षाजल तुल्य मुक्त है। यदि कोई ज्ञान, विवेक तथा आत्मविकास के लिए साधन-रत होगा तो दूसरे के ज्ञान, विवेक, विचार तथा मुक्ति प्रयास का आदर करेगा। इस आदर दृष्टि के कारण विचारों के लिए भारत ने कभी किसी को ताड़ित नहीं किया। विरोधी होने पर भी उसका, उसके विचारों का सम्मान किया।

यदि हम एक कुटुम्ब, एक जाति एवं देश की स्वार्थ दृष्टि द्वारा एक संकुचित दृष्टि से कार्य करना आरम्भ करें, तो दृष्टि संकुचित हो जायगी। संकुचित दृष्टिकोण का आश्रय लेना होगा। उदार भावना का लोप होगा। सहिष्णुता समाप्त हो जायगी। संकुचित भावना के उदय के साथ सहिष्णुता अस्त होने लगेगी। संघर्ष अंकुरित होगा।

सुगन्धित चन्दन की लकड़ी भी हवा पानी के आघात से सड़कर दुर्गन्ध पैदा करती है। अमृत तुल्य दुग्ध भी फट कर बदबू करने लगता है। यही अवस्था भारतीय समाज की हुई। उसमें जाति-बन्धन, वंश-बन्धन, रक्त-बंधन, स्पृश्यास्पृश्य बन्धनादि अनेक प्रकार के बन्धन उत्पन्न हो गये। विदेशी शासन, बाह्य आक्रमण, हजारों वर्षों तक शिक्षा का अभाव, अनेक विरोधी प्रतिक्रिया-वादी शक्तियों के उदय ने हमारे सामाजिक एवं दैशिक ढाँचे को सड़ा दिया है। दुर्गन्ध उठने लगी है। दुर्गन्धित फोड़ों के कारण अंग काट कर नहीं फेंक दिया जाता। कोई मर जाना पसन्द नहीं करता। उसके लिए चिकित्सा

की आवश्यकता है। सेवा की आवश्यकता है। उपचार की आवश्यकता है। चिकित्सा का रूप हमारे भारतीय संविधान में समाविष्ट किया गया है। उस पर एक दृष्टि यथास्थान डालना उचित होगा।

न्याय में जाति, धर्म, मत एवं विचारों के कारण भेद दृष्टि होने पर लौकिकता रह नहीं जाती। राजशास्त्र का उद्देश्य स्मृति, महाभारत तथा बौद्ध साहित्य के अनुसार, मत्स्य न्याय के स्थान पर साधारण न्याय का स्थापन है। मत्स्य न्याय निवारणार्थ ही प्रजापति ब्रह्मा ने राजशास्त्र का उपदेश दिया था। मत्स्य न्याय तिरोहित निमित्त राजा की उत्पत्ति हुई थी। यदि धर्म, मत किंवा साम्प्रदायिक दृष्टि का आश्रय न्याय निर्णयार्थ किया गया तो वह न्याय नहीं, मत्स्य न्याय कहा जायगा। किसी देश में किसी धर्मावलम्बी का बहुमत है। शासन उसके हाथों में है। वह अपने धर्मावलम्बियों को तरजीह दूसरे धर्मावलम्बियों के स्थान पर देता है। इसका अर्थ है बहुमत अल्पमत पर अपनी बात लादना चाहता है। शक्ति का आश्रय लेता है। राज्य को अपनी क्रिया का साधन बनाता है। यह न्याय नही है। मत्स्य न्याय है। बली निर्बल की निर्बलता का अथवा बड़ी मछली, छोटी मछली की निर्बलता का लाभ उठाकर उसे खा जाती है। यह है मत्स्य न्याय। यह है अनाचार। यह है अराजकता। यह है सामाजिक शील, न्याय एवं स्तित्व के मौलिक अधिकारों का अभाव। यह है अनार्य कर्म।

भारतीय संविधान

भारतीय स्वतंत्रता के पूर्व ही भारतीय राजनीतिज्ञ भारतीय संविधान की बात सोचने लगे थे। नेहरू कमेटी का प्रतिवेदन इस दिशा में भारतीयों द्वारा प्रथम प्रयास कहा जायगा। नेहरू कमेटी के प्रतिवेदन और साइमन कमीशन के बहिष्कार के कारण भारतीयों में उत्साह आ गया। आजादी की झलक दिखाई पड़ने लगी। मिल-जुलकर एक साथ चलना चाहिए । एक साथ आजादी के लिए प्रयास करना चाहिए। यही दृष्टिकोण प्रगतिशील नागरिकों का हो गया। लाला लाजपतराय का बलिदान, भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों के उदय और नमक सत्याग्रह ने राजनीति की दिशा बदल दी।

मुसलिम लीग ने इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। भारतीय आजादी और ब्रिटेन के संघर्ष के बीच यह एक तीसरी शक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। यदि काँग्रेस ने ब्रिटिश वस्त्र का बहिष्कार किया तो अनेक मुसलिम व्यवसायी इससे लाभ उठाने लगे। हिन्दू व्यापारी भी विदेशी वस्त्र मुसलिम दुकानदारों से बिकवाकर अपना फँसा रुपया खड़ा कर लेना चाहते थे। प्रत्येक नगर में प्रायः यह स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस आर्थिक कार्यक्रम के दो परिणाम हुए। मुसलिम व्यवसायियों को लाभ होने लगा और ब्रिटिश सरकार और अंग्रेज व्यापारियों के मुसलमान प्रियपात्र बन गये। उन्हें हर तरह की सरकारी सुविधाएँ राजसेवा तथा अन्य स्थानों में दी जाने लगीं।

इसलाम खतरे में है, पाकिस्तान बनाना चाहिए, हिन्दू भारत और मुसलिम भारत की भावनाएँ उदित होने लगीं। राष्ट्रीय मुसलमान मुसलिम जनता को पूर्णतया साथ ले चलने में असमर्थ रहे। मुसलिम लीग मुसलिम जनता को अधिक-से-अधिक स्थान राज्य सेवाओं, विधान सभाओं तथा परिषदों में दिलाने के कार्यक्रम को जोरों से अपनाया। यदि काँग्रेस मुसलिम लीग की माँगों का समर्थन करती तो उसकी नीति का पलड़ा काँग्रेस की ओर झुकता। और यदि ब्रिटिश उसकी बात मानने के लिए तैयार हो जाते तो उनकी ओर निःसंकोच झुक जाते। मुसलिम हित सम्बन्धी माँगों का विरोध राष्ट्रीय मुसलमान भी न कर सके। प्रत्येक बात में हिन्दू मुसलिम सवाल पैदा होने लगा।

परिणाम यह हुआ कि मुसलिम जनता स्वाधीनता संग्राम में उदासीन रही। सीमान्त प्रदेश जहाँ की समस्याएँ पख्तूनिस्तान और पठानों के कारण अपना विशेष स्थान रखती थीं, अपवाद कहा जायगा। राष्ट्रीय मुसलमानों के नेतृत्व में कुछ देशभक्त मुसलमान स्वाधीनता संग्राम में सम्मिलित हुए। उन्होंने आदर्श त्याग किया। सीमान्त प्रदेश ने कुर्बानी का आदर्श रखा। किन्तु शेष भारत में विधान सभाओं के निर्वाचनों में लीग को ही सफलता मिली। पंजाब में यूनियनिस्ट मिनिस्ट्री सर सिकन्दर हयात खाँ आदि के नेतृत्व में कायम रही। मुसलिम लीग का पैर पंजाब में जम न सका। किन्तु पाकिस्तान का प्रदन आते ही स्थिति बदल गयी। वहाँ भी लीग सफल रही। आसाम, बंगाल, पंजाब, सिन्ध, सीमान्त प्रदेश के प्रधान मंत्री मुसलिम हुए। सीमान्त के अतिरिक्त सभी काँग्रेस विरोधी थे। सीमान्त प्रदेश भी डेढ़ प्रतिशत वोटों के बहुमत से पाकिस्तान में जाने के लिए बाध्य हुआ। एक समय था कि सन् १६३५ ई० के विधान के पश्चात् उत्तर प्रदेश में लीग और काँग्रेस ने संयुक्त मोर्चा बनाकर चुनाव लड़ा। वहाँ मन्त्रिमंडल में लीग को जब स्थान न मिला तो वह पुनः पृथक् होकर विरोधी बन बैठी। मुसलिम लीग ने शुद्ध व्यावसायिक नीति से काम लिया।

मुसलिम लीग के साम्प्रदायिक और मजहबी प्रचार विष-वमन के बावजूद काँग्रेस में उदारवादी तथा राष्ट्रीय मुसलमानों का एक दल था जो भारत की सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक एकता में विश्वास रखता था। उनके सम्मिलित प्रयास का परिणाम था कि भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रकार, साधन, उद्देश्यों में अन्तर होते हुए भी दृष्टिकोण शुद्ध लौकिक रहा।

सन् १६२१ ई० के आन्दोलन में मुसलिम जनता ने खिलाफत के प्रश्न के कारण जिस उत्साह, त्याग और निष्ठा से भाग लिया था, उसका निरन्तर ह्रास खिलाफत की समस्या हल होने के साथ-ही-साथ होता गया। वह अपने ह्रासावस्था की पूर्णता को उस समय प्राप्त हो गया जब भारत के दो टुकड़े होकर दो स्थानों पर राजधानियाँ कायम हो गयीं। दो राष्ट्रीय झंडे, दो नेता, दो विरुद्ध राजनीतिक दिशाओं की ओर लोग चल पड़े।

समस्त भारतवर्ष को कैसे एक सूत्र में बाँधकर चलाया जा सकता है, कैसे विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों, धर्मों, भाषाओं को एक निश्चित दिशा की ओर ले चलकर भारतीय एकता को कायम रखा जा सकता है। किस प्रकार भिन्नता में भी अभिन्नता कायम रखी जा सकती है—विचार भारतीय राजनीतिज्ञों, विवेचकों के चर्चा-विषय रह गये।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने आजादी के पूर्व १३ अक्तूबर, सन् १९४५ ई० को ही मत प्रकट किया था कि आजादी मिलने के पश्चात् भारत सरकार का क्या रूप होगा—मैं इस सम्बन्ध में पूरी तरह से आश्वस्त हूँ कि आजाद हिन्दुस्तान की भावी सरकार धर्मनिरपेक्ष होनी चाहिए। इसका मतलब हुआ कि वह सरकार अपने आपको सीधे किन्हीं खास धर्मों से सम्बन्धित नही रखेगी, बल्कि वह सब धर्मों के पालन की पूर्ण स्वतंत्रता देगी। इस धार्मिक स्वतंत्रता का अभिप्राय है कि सब धर्मों के अनुयायियों के प्रति हममें सहिष्णुता हो। अन्य कोई भी नरीका सिर्फ गलत ही नहीं होगा, बल्कि इससे आपसी भेदभाव और तनाव बढ़ेगा तथा कठिनाइयाँ पैदा होंगी। भारत की कोई भी सरकार जो धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करती है, अपने ऊपर एक गंभीर जिम्मेदारी लेती है और दूसरों के लिए बुरी मिसाल कायम करती है।

आजादी मिलने और भारत-विभाजन के पश्चात् विघटनकारी शक्तियों ने जोर पकड़ा। भारतीय एकता की समस्या पुनः उठ खड़ी हुई। भारत में मुसलमानों की रक्षा की गयी। शरणार्थियों के भयंकर विपन्नावस्था के होते हुए भी पं० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान बनने के पूर्व सन् १९४८ में दूसरी अक्टूबर को कहा—हमने यह बार-बार कहा है कि हम इस देश में सांप्रदायिकता को बर्दाश्त नहीं करेंगे और हम एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे हैं, जहाँ प्रत्येक धर्म को पूरी स्वतंत्रता और समान सम्मान दिया जायगा, जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर मिलेंगे। इस पर भी कुछ लोग सांप्रदायिकता और पृथक्ता की बातें करते हैं। मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि मैं इसके पूरी तरह से खिलाफ हूँ और आशा करता हूँ कि आप भी, यदि आपको गाँधी जी की शिक्षाओं में विश्वास है, तो अपनी पूरी ताकत से इसका विरोध करेंगे।

इस पृष्ठभूमि के साथ भारतीय संविधान सभा ६ दिसम्बर सन् १९४६ ई० से जनवरी सन् १९५० ई० तक संसद् भवन के केन्द्रीय सभा भवन में बैठी। भारत के प्रतिनिधियों ने संविधान की रचना की। उन्होंने संविधान की प्रस्तावना विश्व के सम्मुख रखी—

"न्याय दृष्टि के ज्ञापन निमित्त भारतीय संविधान की प्रस्तावना न्याय, स्वतंत्रता, समता और बन्धुता की प्रस्तावना ज्ञापन करती है—

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न

लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतंत्रता,
प्रतिष्ठा और अवसर की समता

प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सब में

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता

बढ़ने के लिए
दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में
आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति
मार्ग शीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छः विक्रमी)
को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित
और आत्मार्पित करते हैं ।

इस प्रस्तावना में ईश्वर तथा धर्मशास्त्र शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। धर्म शब्द भारतीय राजशास्त्र, स्मृति तथा नीतिसार का प्रचलित शब्द, है, परन्तु लौकिक राज्य की दृढ़ भावना-निमित्त एक उद्देश्य की पूर्त्ति-निमित्त त्याग दिया गया है। ईश्वर किंवा किसी अव्यक्त शक्ति की ओर भी नहीं संकेत किया गया है। भारतीय संसद् का अधिवेशन किसी की प्रार्थना द्वारा आरम्भ नहीं होता। भारतवर्ष भारतीय जनता का है। भारतीय जनता ही साध्य है। किसी धार्मिक आदर्श को साध्य नहीं माना गया है। बीसवीं शताब्दी की महान् भारतीय जनता का महान् उठता कदम एक आदर्श की ओर इंगित करता है। विश्व के लौकिक राज्यों में वास्तविक निरपेक्ष दृष्टि भारत की है। रूस तथा चीन के संविधान लौकिक हैं परन्तु उनके कर्णधारों की गति सर्वथा निरपेक्ष नहीं कही जायगी।

भारतीय संविधान की यह प्रस्तावना, अमेरिका स्वातंत्र्य घोषणा सन् १७७६ ई०; अमेरिकी संविधान प्रस्तावना सन् १७८७ ई०; चौथी फ्रान्स गणतन्त्रीय संविधान की प्रस्तावना सन् १९४६ ई०; जापानी संविधान सन् १९४६ ई० की प्रस्तावना तथा बर्मा संविधान सन् १९४८ ई० की प्रस्तावना से मिलती है। एक ही सिद्धान्त लौकिक राज्य के आदर्श को दुहराती है। आयरलैण्ड के संविधान सन् १९३७ ई० की प्रस्तावना "होली ट्रिण्टी" तथा "स्वर्गीय प्रभु ईसा मसीह" के गौरव के साथ ही उन्हें ही अधिकार का मूल स्रोत मानती है। भारत की प्रस्तावना अधिक व्यापक, आधुनिक, मारगर्भित एवं स्पष्ट है।

भारतीय संविधान के लौकिक राज्य के मूल सिद्धान्तों को समझने के लिए उनके रचयिताओं का विचार जानना आवश्यक है। उनसे स्पष्ट होगा कि उनका दृष्टिकोण क्या था। प्रधान मंत्री श्री जवाहरलालजी के अनुसार—धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है, स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक मजहब का फलना-फूलना, परन्तु शर्त यह है कि वे एक-दूसरे के मजहबी मामलों में या राज्य की बुनि-यादी धारणाओं में दखलन्दाजी न करने पाएँ।

उपराष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् जी अपनी पुस्तक "रिकवरी आफ फेथ" में धर्मनिरपेक्ष राज्य के विषय में लिखते हैं—जब हम यह स्वीकार करते हैं कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम किसी अदृश्य-शक्ति की वास्तविकता या मजहब की जीवन से सुसंगति को अस्वीकार कर दें यों कि हम अधार्मिक बातें करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य खुद एक मजहब बन जाता है या राज्य ईश्वरीय अधिकारों को प्राप्त कर लेता है। ईश्वरीय सत्ता में विश्वास यद्यपि भारतीय परंपरा का मुख्य उद्देश्य है किन्तु भारतीय राज्य सरकारें मजहब के साथ न तो इससे कोई सरोकार रखेंगी और न कोई विशेष धर्म इन पर नियंत्रण रखेगा।

"हमारा विश्वास है कि किसी भी मजहब को सर्वोच्च प्रतिष्ठा या विशेष सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए और किसी भी मजहब को राष्ट्रीय जीवन में या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशेष सुविधाएँ न प्रदान की जानी चाहिएँ, क्योंकि ऐसा करना गणतन्त्र के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा और मजहब

तथा सरकार के हितों के खिलाफ होगा। मजहबी मामलों में निष्पक्षता की यह धारणा और धैर्य का प्रभाव राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भविष्य-सूचक होता है। किसी भी नागरिक को इस अनधिकार चेष्टा का अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह अपने लिए ऐसे अधिकार और सुविधाएँ रखे जो वह दूसरों को नहीं देना चाहता। मजहब के कारण किसी भी व्यक्ति के लिए अयोग्यता या भेदभाव नहीं आने दिया जायगा। राष्ट्र के सामान्य जीवन में सभी को मजहब का पूरा लाभ उठाने का मौका होगा। चर्च और राज्य को पृथक् करने में यह मूल नियम निहित है।

"भारतीय राज्य की धार्मिक निष्पक्षता को धर्मनिरपेक्ष राज्य या अनीश्वरवादी राज्य के साथ नहीं उलझा होना चाहिए, जैसा कि भारत की प्राचीन धार्मिक परंपराओं में हुआ है। इसमें एक धर्मावलम्बी लोगों को इकट्ठे करने की कोशिश की जाती है। एक समुदाय की विचारधारा की दूसरे व्यक्ति की निजी विशेषदाताओं पर हावी होने की भावना से नहीं, बल्कि दूसरे को समरूपतापूर्वक समझने के उद्देश्य से किया जाता है।"

अनुच्छेद १६ पर ६-१२-१९४८ को बोलते हुए संविधान सभा में स्वर्गीय लक्ष्मीकान्त मैत्र ने कहा था—धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ, जैसा कि मैं समझता हूँ, यह है कि धर्म के किसी भी रूप में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति को राज्य उसके मजहब के कारण किसी प्रकार की भेद-भाव की नीति से नहीं देखेगा। वस्तुतः इसका यह अर्थ हुआ कि कोई भी मजहब किसी भी प्रकार से राज्य की विशेष संरक्षता प्राप्त नहीं करेगा। दूसरों के अपवर्जन, अभिमान की तुलना में राज्य न तो किसी विशेष मजहब की स्थापना और न किसी धर्म को संरक्षण प्रदान करेगा। राज्य में किसी नागरिक को दूसरे की तुलना में न तो विशेष प्राथमिकता दी जायगी और न उसके विरुद्ध विभेद की नीति इस कारण अपनायी जायगी कि वह किसी विशेष मजहब का व्यक्ति है। दूसरे शब्दों में राज्य के काम-काज के लिए इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जायगा कि किसी व्यक्ति विशेष का क्या मजहब है। मैं समझता हूँ कि धर्मनिरपेक्ष राज्य का सार यही है।

अनुच्छेद २३ पर बोलते हुए वर्तमान लोकसभा के स्पीकर श्री अनंत-शयनम् अय्यंगार ने कहा था—"हम वचनबद्ध हैं कि हमारा राज्य

धर्मनिरपेक्ष होगा। शब्द "धर्मनिरपेक्ष" से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हम किसी धर्म में विश्वास नहीं रखते और हमारे दैनिक जीवन में इससे कोई सरोकार नहीं है। इसका केवल अर्थ यह है कि राज्य या सरकार किसी मजहब को दूसरे की तुलना में न तो सहायता दे सकती है और न प्राथमिकता। इसलिए राज्य अपनी पूर्ण निरपेक्ष स्थिति रखने में विवश है।

सन् १९५१ में हिन्दू कोड पर बोलते हुए संसद् में डाक्टर अम्बेदकर ने कहा था--इस (धर्मनिरपेक्ष राज्य) का यह अर्थ नहीं है कि हमें जनता की धार्मिक भावनाओं का ध्यान नहीं रखना है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि यह संसद् जनता पर किसी विशेष मजहब के आरोपण के लिए सक्षम नही है, केवल यही यह परिसीमा है जिसे संविधान स्वीकार करता है।

संविधान के द्वितीय भाग में नागरिकता का वर्णन है। अनुच्छेद पाँच दोहरी नागरिकता की कल्पना नहीं करता। यथा:—

इस संविधान के प्रारम्भ पर नागरिकता

५. इस संविधान के प्रारम्भ पर प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारत राज्य-क्षेत्र में अधिवास है, तथा—

(क) जो भारत राज्य-क्षेत्र में जन्मा था, अथवा

(ख) जिसके जनकों में से कोई भारत राज्य-क्षेत्र में जन्मा था; अथवा

(ग) जो ऐसे प्रारम्भ से ठीक पहिले कम-से-कम पाँच वर्ष तक भारत राज्य-क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा है;

भारत का नागरिक होगा।

भारतीय नागरिकता भारत-भूमि में जन्म लेने पर जोर देती है। बर्मा के संविधान में नागरिकता के लिए जाति तथा बर्मी रक्त पर अधिक जोर दिया गया है। भारत के पवित्र भूखण्ड पर चाहे वह किसी जाति, धर्म, मत, सम्प्रदाय, रंग का क्यों न हो, केवल जन्म ग्रहण करने से, यहाँ श्वास लेने से ही, अपनी पवित्र जन्मभूमि का नागरिक हो जाता है। लौकिक राज्य के आदर्श सिद्धान्त का बड़ी सुन्दरतापूर्वक निर्वाह किया गया है।

संविधान के भाग ३ में नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन है। इस अनुच्छेद १५, १६, १७, २५–२८ तथा २९–३० में लौकिक सिद्धान्तों का दर्शन मिलता है, यथा अनुच्छेद १५ :–

धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध

१५. (१) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

(२) केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान, अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के अथवा

(ख) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य विधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्धन, अथवा शर्त के अधीन न होगा।

(३) इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबन्ध बनाने में बाधा न होगी।

(४) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद २९ खंड (२) की किसी बात से राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित आदिम जातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी।

अनुच्छेद स्पष्ट है। इस पर किसी प्रकार के भाष्य परिभाष्य किंवा टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना अलम् होगा कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान के संशोधन संख्या १५, १९ तथा अनुच्छेद २ की धारा २ (१); स्विटजरलैण्ड के अनुच्छेद ६०, और ४; आस्ट्रेलिया की धारा ११७; जापान के अनुच्छेद १४ तथा पश्चिमी जर्मनी के अनुच्छेद ३ (३); से अधिक व्यापक लौकिक एवं उदार है।

राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर समता

संविधान का अनुच्छेद १६ राज्य-सेवा के विषय में अधिकार देता है।

१६ (१) राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी।

(२) केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायगा।

(३) इस अनुच्छेद की किसी बात से संसद् को कोई ऐसी विधि बनाने में बाधा न होगी जो (किसी राज्य या संघ राज्य-क्षेत्र की सरकार के या उसमें के किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी प्रकार की नौकरी या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य या संघ राज्य-क्षेत्र के अन्दर निवासविषयक कोई अपेक्षा विहित करती हो।)

(४) इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य के पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध करने में कोई बाधा न होगी।

(५) इस अनुच्छेद की किसी बात का किसी ऐसी विधि के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव न होगा जो उपबन्ध करती हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बन्ध कोई पदधारी तथा उसके शासी निकाय का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का अनुयायी अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ही हो।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का अनुच्छेद ६ धारा ३; बर्मा संविधान की धारा १४; आस्ट्रेलिया संविधान का अनुच्छेद ११६ तथा गवर्नमेण्ट आफ इंडिया एक्ट सन् १९३५ की धारा २७५ तथा २९८ (१) के विचारों का समन्वय तथा और सुस्पष्ट भारतीय संविधान के उत्तम अनुच्छेद हैं।

अस्पृश्यता कलंक मिटाने के सम्बन्ध में अनुच्छेद १७ स्पष्ट कहता है—

अस्पृश्यता

१७. "अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। "अस्पृश्यता" से उपजी नियोग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।

धर्म स्वातन्त्र्य अधिकार भारतीय संविधान देता है। निम्नलिखित अनुच्छेद उस पर प्रकाश डालते हैं:—

धर्मस्वातन्त्र्य का अधिकार

अंत:करण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता

२५ (१) सार्वजनिक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों की, अन्त:करण की स्वतंत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने का समान हक होगा।

(२) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसे वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा राज्य के लिए किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट न डालेगी जो

(क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक, अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निर्बन्धन करती हो,

(ख) सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो, अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो।

व्याख्या १—कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जायेगा।

व्याख्या २—खंड (२) के उपखंड (ख) में हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिख, जैन या बौद्ध धर्म के माननेवाले व्यक्तियों का भी निर्देश अन्तर्गत है तथा हिन्दू धर्म संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही किया जायगा।

सुप्रीम कोर्ट ने रतिलाल पानचन्द बनाम बम्बई राज्य के मुकद्दमे में निर्णय देते हुए सन् १९५४ में कहा है—"इस अनुच्छेद में जिन प्रतिबन्धों को लगाया गया है, उनके रहते हुए हमारे संविधान ने प्रत्येक व्यक्ति को बुनियादी अधिकार दिये हैं कि वह अपने विश्वास और निश्चय के अनुसार न केवल किसी ऐसे मजहब का पालन कर सकता है जिसे वह ठीक समझता हो, बल्कि अपने विचारों और विश्वासों का खुल्लम-खुल्ला उस सीमा

तक प्रदर्शन कर सकता है जहाँ तक उसका मजहब उसको इजाजत देता है और दूसरों के नैतिक उत्थान के लिए वह इसका प्रचार भी कर सकता है। यह विशेष महत्त्व की बात नहीं है कि यह प्रचार कोई व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से करता है या किसी चर्च या संस्था की ओर से करता है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का प्रथम संशोधन सन् १७९१ ई०; आस्ट्रेलिया संविधान की धारा ११६; आयरलैण्ड अनुच्छेद का ४४ (२) सन् १९३७; सोवियत रूस के (१९३६) के संविधान का अनुच्छेद १२४; चौथी फ्रान्सीसी गणतन्त्र की प्रस्तावना; पश्चिमी जर्मनी का अनुच्छेद ४ (१९४८); जापान का अनुच्छेद २० (१९४६); श्रीलंका के संविधान (१९४६) की धारा २९ (२) तथा बर्मा संविधान (१९४८) के अनुच्छेद २० इस विषय पर लगभग एक-सा ही दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतंत्रता का वर्णन अनुच्छेद २६ में किया गया है:—

धार्मिक कार्यों के सम्बन्ध की स्वतन्त्रता

२६. सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को—

(क) धार्मिक और पूर्ति प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का,

(ख) अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करने का,

(ग) जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का, तथा

(घ) ऐसी सम्पत्ति के विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा।

आयरलैण्ड के संविधान (१९३७) का अनुच्छेद ४४ (२) तथा श्रीलंका के संविधानिक आदेश कौंसिल (१९४६) की धारा २९ (२) (डी) इस अनुच्छेद के भारतीय सिद्धान्त के समीप है।

संविधान का अनुच्छेद २७ किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों के देने के विषय में स्वतन्त्रता प्रदान करता है यथा:—

किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों को देने के बारे में स्वतन्त्रता

२७. कोई भी व्यक्ति ऐसे करों को देने के लिए बाध्य नहीं किया जायगा जिनका आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिये गये हों।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान का प्रथम संशोधन (१७९१); स्विटजरलैण्ड संविधान (१८७४) का अनुच्छेद ४० तथा जापान संविधान (१९४६) का अनुच्छेद २२; इस विषय पर प्रकाश डालते हैं।

गत अध्यायों में शिक्षा सम्बन्धी लौकिक भावना, उसके लिए संघर्ष आदि पर यथेष्ट लिखा जा चुका है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद २८ स्पष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है:—

कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतंत्रता

२८ (१) राज्य निधि से पूरी तरह पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायगी।

(२) खण्ड (१) की कोई बात ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू न होगी जिसका प्रशासन राज्य करता हो। किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उसे संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

(३) राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य निधि से सहायता पानेवाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होनेवाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य न किया जायगा, जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क हो तो उसके संरक्षक ने, इसके लिए अपनी सम्मति न दे दी हो।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का प्रथम संशोधन सन् १७९१; आयरलैण्ड संविधान (१९३७) अनुच्छेद ४४ (३); जापान संविधान (१९४३) अनुच्छेद २०; पश्चिमी जर्मनी संविधान (१९४८) अनुच्छेद ७ (२)–(३) तथा बर्मा संविधान (१९४८) की धारा २१ तथा (२२) इस अनुच्छेद से मेल खाते हैं।

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार अल्पसंख्यकों के हितों निमित्त भारतीय संविधान में रखे गये हैं। अनुच्छेद २९ स्पष्ट है।

अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण

२९ (१) भारत के राज्य क्षेत्र तथा उसके किसी भारत भाग के निवासी नागरिकों को किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा।

(२) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पानेवाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जायगा।

बर्मा संविधान (१९४८) का अनुच्छेद २२ हमारे इस सिद्धान्त के प्रायः अनुरूप हो जाता है।

शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यकों का अधिकार

३० (१) धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

(२) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

आयर का संविधान (१९४७)का अनुच्छेद ४४ (२) ४ इस विषय पर प्रकाश डालता है।

अध्याय १६ में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए लोकसभा में स्थानों का संरक्षण, आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व, राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए स्थानों का संरक्षण , कतिपय सेवाओं में आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए, विशेष उपबन्ध, अआंग्ल भारतीय समुदाय के लाभ के लिए शिक्षा अनुदान के लिए विशेष उपबन्ध, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों इत्यादि के लिए विशेष पदाधिकारी, अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन पर तथा

अनुसचित आदिम जातियों के कल्याणार्थ संघ का नियन्त्रण, पिछड़े हुए वर्गों की दशाओं के अनुसंधान के लिए आयोग की नियुक्ति का वर्णन है।

अल्पसंख्यक, अस्पृश्य, पिछड़े वर्ग को समस्तर पर लाना राज्य का कर्तव्य है। वह लौकिक सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं, अनुकूल है। क्योंकि नागरिकों को समान स्तर पर लाने, उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करने का एक प्रयास मात्र है।

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त स्वीकार किये जाने के पश्चात् भी भारत सरकार धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में क्यों कानून बनाती है? इस बात की समालोचना बहुधा की जाती है। कुछ लोग इसे धर्म पर आघात कहते हैं।

बृटिश काल में सन् १९१४ ई० से १९४९ ई० तक लगभग १५ हिन्दू धर्म सम्बन्धी कानून बनाये गये थे। सन् १९५२ ई० से अब तक प्रायः चार कानून बनाये गये हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दू जाति की सामाजिक व्यवस्था तथा व्यवहार से है।

देशी राज्यों तथा राज्य सरकारों ने भी मन्दिर-प्रवेश, धर्मादा आदि कानून पारित किये हैं। बड़ौदा राज्य में सन् १९३७ ई० में ही हिन्दू विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में कानून बन चुका था। मैसूर में धार्मिक सुधार सम्बन्धी कानून सन् १९३३ ई० में बनाया गया था। बम्बई में देवदासी कानून सन् १९३४ ई० में बनाया गया था। इसी प्रकार मदरास, ट्रावनकोर आदि में अनेक कानून सामाजिक सुधार की दृष्टि से बनाये गये थे।

यह भी कहा जाता है कि एकपत्नी-प्रथा का कानून मुसलमानों के लिए नहीं बनाया गया। भारत की जनता में भेद की नीति बरती गयी। एक दृष्टि से यह अनुचित है। विश्व के अन्य मुसलिम राष्ट्रों में बहुपत्नी-प्रथा का लोप हो रहा है। कुछ देशों में तो वह स्थिति उत्पन्न कर दी गयी है कि बिना कानून बनाये ही बहुपत्नी-प्रथा स्वतः समाप्त हो जायगी।

संयुक्त अरब गणतन्त्र में बहुपत्नी विवाह रोकने के लिए कानून बनाया जा रहा है। कुरान चार स्त्री रखने की आज्ञा देता है। कुरान के स्पष्ट आदेश को अक्षुण्ण रखते हुए नेशनल एसेम्बली ने कानून पारित किया है कि कोई भी स्त्री पति को तलाक दे सकती है यदि उसका पति दूसरा विवाह करता है। मुसलिम पति जो वर्तमान मुसलिम कानून के अनुसार मौखिक

तलाक दे सकता है उसके लिए कानून बनाया गया है कि तलाक देने वाला केवल नोटेरी सरकारी अधिकारी, के सम्मुख एक निश्चित प्रक्रिया के अनुसार ही तलाक दे सकेगा, जिसकी रजिस्ट्री कराना आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त पति और पत्नी की आयु के बीच सरकार द्वारा निश्चित किये गये वर्षों से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। यदि दोनों की आयु में अधिक तथा कानूनी अन्तर होगा, वहाँ विवाह अनियमित तथा गैर-कानूनी घोषित कर दिया जायगा। अमीर शेख लोग बहुधा अपनी वृद्धावस्था में युवती से विवाह कर लेते हैं। विवाह एक सम्बन्ध न होकर मुख्यतया वैभव तथा रुपयों का खेल हो जाता है। मुसलिम जगत् में इस सुधार से बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति होने की सम्भावना है।

रोगी को देखकर औषधि देनी चाहिए। भारतीय मुसलिम जनता कुछ पीछे है। आधुनिक उदार विचारों का उनमें प्रवेश हो रहा है। शिक्षा की कमी है। वे किसी बात को व्यवहार किंवा सुधार की अपेक्षा धार्मिक दृष्टि से अधिक देखते हैं। समय आ गया है जब मुसलिम जनता आधुनिक सुधारों का स्वागत करेगी। कानून लादना नहीं चाहिए। यद्यपि यह बात भी स्वीकार की जायगी कि कहीं-कहीं कानून का लादना आवश्यक हो जाता है।

इसका ज्वलन्त उदाहरण सती प्रथा है। सती प्रथा हिन्दू धार्मिक कृत्य का अंग माना जाता था। मुसलमानों तथा अंग्रेजों दोनों ने अपने शासन कालों में उसे कानून से रोका। आज सभी कहते हैं कि यह आवश्यक था।

शारदा बिल के समय में भारतव्यापी आन्दोलन हुआ। महात्मा गान्धी, जवाहरलाल नेहरू आदि सुधारवादी भारतीय नेताओं पर ढेले पड़े। मार पड़ी। प्रदर्शन हुए। किन्तु आज सभी स्वीकार करते हैं कि वह कानून ठीक था। लोग भूल गये हैं। उस समय किस प्रकार भयंकर हिंसक तथा अहिंसक विरोध हुआ था।

विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, अजातियों को दायभाग से वंचित रखना, विदेश गमन, जातिच्युति आदि का भी घोर विरोध प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने भारत में किया था। देश तथा समाज में सर्वदा क्रिया तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों का संघर्ष होता रहा है। प्राणहीन रूढ़ियों, शक्तिहीन कुसंस्कारों से त्राण निमित्त मानव सर्वदा संघर्ष करता रहा है। उसे संघर्ष करना पड़ता है। उसी समाज से जो कुसंस्कारों, कुरीतियों को कायम रखने

के लिए एक दिन लड़ता है। दूसरे दिन उनके लोप होने. पर हर्ष मनाकर उन्हीं की जयन्ती मनाता है जिन्हें एक दिन मारने के लिए तुल जाता था।

लौकिकता का मापदंड है, कोई विचार कहाँ तक मानव को विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है। वह अधिक-से-अधिक कितनी स्वतंत्रता लोगों को देता है। वह लोगों को कितनी सीमा तक सहिष्णुता निमित्त आगे बढ़ा सकता है। संकीर्णता को तिरोहित करने के निमित्त कितनी दूर तक जा सकता है। अपने विचारों को दूसरों पर न लादकर अपने विचारों में आस्था रखकर भी दूसरों के विचारों के लिए कितना आदर प्रकट करता है।

लगभग १३ वर्ष स्वतंत्रता के व्यतीत हुए। विश्व में बहुत कुछ उथल-पुथल हुआ। पाकिस्तान के साथ काश्मीर में सशस्त्र संघर्ष हुआ। पूर्व बंगाल से हिन्दू अभी तक भागे चले आ रहे हैं। पंजाब में पंजाबी सूबा के नाम से पंजाब के बावजूद सूबा होने के आन्दोलन खड़ा किया गया। वह देवाधि-राज का, अलौकिक राज्य का वास्तव में रूप प्रकट करता है जिसमें धर्म और राजनीति को मिलाने का प्रयास किया गया है। यह देश के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। सद्बुद्धि एवं विवेक का आश्रय लेना इस विषय में वांछनीय है।

परन्तु भारत अपनी नीति पर दृढ़ है। पं० जवाहरलालजी ने ५ अगस्त, सन् १९५४ ई० में लौकिक राज्य सिद्धान्तों के विषय में कहा था—

"हम अपने राज्य को धर्मनिरपेक्ष कहते हैं। शायद सेक्यूलर—धर्म निरपेक्ष—शब्द बहुत अच्छा नहीं है, फिर भी इससे बेहतर शब्द न मिलने के कारण हमने इसका प्रयोग किया है। इसका सही अर्थ क्या है? इसका अर्थ है—धार्मिक स्वतंत्रता, अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा के अनुसार काम करने की स्वतंत्रता। इसमें उन लोगों की स्वतंत्रता भी शामिल है, जो किसी धर्म को नहीं मानते। स्पष्टतः इसका यह मतलब नहीं है कि यह एक ऐसा राज्य है, जहाँ पर धर्म पालन को निरुत्साहित किया जाता है। इसका मतलब है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को धर्म-पालन की पूरी स्वतंत्रता, बशर्ते कि वे दूसरे के धर्म में या हमारे राज्य के मूल सिद्धान्तों में हस्तक्षेप न करें। इसका मतलब है कि धर्म की दृष्टि से जो अल्पसंख्यक हैं, वे इस स्थिति को स्वीकार करें। इसका यह भी तात्पर्य है कि बहुसंख्यक लोग इस दृष्टिकोण से, इसका पूरी तरह से महत्त्व समझें, क्योंकि बहुसंख्यक होने के नाते और दूसरे कारणों से भी उनका प्रभाव अधिक है, अतः उनकी जिम्मेदारी हो जाती है कि वे

किसी भी रूप में अपनी स्थिति का इस तरह से उपयोग न करें, जिससे हमारे धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों के पालन में बाधा पहुँचे।

"धर्म निरपेक्ष शब्द का मैं एक और भी अर्थ समझता हूँ, हालांकि यह शब्दकोष में दिया हुआ अर्थ नहीं भी हो सकता। मैं इसे सामाजिक और राजनीतिक समानता के अर्थ का द्योतक भी मानता हूँ। इस प्रकार ऐसे समाज को जिसमें जात-पाँत का भेदभाव हो, सही रूप में धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। किसी भी व्यक्ति के विश्वास में हस्तक्षेप करने की मेरी इच्छा नहीं है, लेकिन जहाँ ये विश्वास जात-पांत का भेद पैदा करते हैं, तो निस्सन्देह इनका प्रभाव सामाजिक ढाँचे पर पड़ता है। इससे हमारे समानता के सिद्धान्त की प्राप्ति और सफलता में बाधा पड़ती है। सांप्रदायिकता की तरह इससे राजनीतिक मामलों में भी अड़चन पड़ती है। हमने सदा सांप्रदायिकता का विरोध किया है और अब भी पूरी ताकत से इसका विरोध करते हैं। वास्तव में यह राष्ट्रीयता का प्रत्याख्यान है। सांप्रदायिकता का मतलब है कि धर्म के लोगों का अन्य धर्म माननेवालों पर प्रभुत्व। यदि यह जाति अल्पसंख्यक है तो यह लोकतंत्र के सब सिद्धान्तों और आदर्शों के खिलाफ हुआ। यदि वह जाति बहुसंख्यक हुई तो भी उसका एक धार्मिक संप्रदाय होने के नाते दूसरों पर प्रभुत्व भी पूरी तरह से अलोकतंत्री हुआ।

"हमारा संविधान धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त पर आधारित है और सब धर्मों को पूरी स्वतंत्रता देता है, यहाँ तक कि एक व्यक्ति को अपना धर्म बदलने की भी स्वतंत्रता है। व्यक्तिगत रूप से मैं धर्म बदलने के प्रयत्नों को पसन्द नहीं करता. लेकिन यह मेरी व्यक्तिगत राय है और इसे दूसरों पर थोपने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।"

१५ अगस्त, १९६० को भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने लाल किले पर झण्डा फहराते हुए लगभग आध घण्टा हिन्दी में भाषण किया। उसमें उन्होंने पुनः लौकिक राज्य नीति के सिद्धान्त को दुहराया और भविष्य के लिए चेतावनी दी। उन्हीं के शब्दों को मैं यहाँ अक्षरशः उद्धृत कर पुस्तक समाप्त कर देना उचित समझता हूँ :—

"अगर हममें से कोई अपने सूबे को सामने रखे, अपने प्रान्त और प्रदेश को, इस सम्प्रदाय या दूसरे सम्प्रदाय को, अपनी जात को, कास्ट को आगे रखें देश को भूलकर, मुल्क की आजादी को भूलकर, अगर हम अपनी भाषा को आगे रखें मुल्क के, तो हम तबाह हो जायेंगे और मुल्क तबाह हो जायेगा।

बाहर से आकर लोगों ने हमको फतह कर लिया, अपनी ताकत से नहीं, हमारी कमजोरी से, हमारी जहालत से वे आये। तो कहीं-कहीं फिर से नजर आती है वही जहालत और कमजोरी। कभी भाषा के नाम से, कभी जबान के नाम से लोग मैदान में आकर लड़ने की कोशिश करते हैं। भूलकर उस असल चीज को, जिसके सामने उनको सिर झुकाना है। वह चीज अपना मुल्क है और मुल्क की एकता है और जो मुल्क को भूल जाता है वह मुल्क को नुकसान पहुँचाता है, चाहे कितनी ही लम्बी-लम्बी बातें कोई करे।

"याद रखने की बात है अच्छी तरह से और महज याद रखने की बात नही है, बल्कि मैं आपसे कहता हूँ कि वक्त आया है कि हरेक हिन्दुस्तानी अपने दिल को टटोले और देखे कि वह कहाँ है, वह अपने मुल्क की तरफ है या किसी गिरोह की तरफ है। इस सवाल का जवाब मुल्क के एक-एक आदमी को, एक-एक औरत को और एक-एक बच्चे को देना है।

"आजादी आयी, इंडिपेंडेंस आयी। किसके लिए आजादी आयी? किसके लिए इंडिपेंडेंस? क्या चन्द लोगों के लिए, क्या जवाहरलाल के लिए आयी, जिसको आपने चन्द रोज के लिए प्रधान मन्त्री बना दिया? जवाहरलाल आयेंगे और जायेंगे और और लोग भी आते हैं और जाते हैं। लेकिन हिन्दुस्तान तो आता ही है, जाता नहीं है और रहेगा। तो फिर सब लोग, जो हिन्दुस्तान के ४० करोड़ आदमी हैं और औरतें और बच्चे हैं, वे हिस्सेदार हैं, वारिस हैं इस आजादी का उनको इस आजादी से पूरा फायदा मिलना है, तब आजादी पूरी होगी।

"सारे हिन्दुस्तान के ४० करोड़ आदमी और औरतें हिस्सेदार हों, हिन्दुस्तान की आजादी में बराबर के हिस्सेदार हों। इसीलिए हम कहते हैं कि हमारा मकसद, हमारा ध्येय समाजवाद है, जिसमें बराबरी हो सबों की। मुश्किल सवाल है। एकदम से नहीं हो सकता, क्योंकि हजार उसमें खाई-खंदकें दिक्कतें, परेशानियाँ हैं, क्योंकि एकदम से आप एक आदमी को बदल नहीं सकते हैं, एकदम से आप ४० करोड़ आदमियों को नहीं बदल सकते, न मुल्क को बदल सकते हैं। लेकिन हर वक्त अगर दिमाग में ये तस्वीर रखें कि किधर हम जा रहे हैं, कि एक समाज बनेगा समाजवादी उसूलों पर, सबों को बराबर का उसमें अधिकार मिले, चाहे वे गाँवों में रहें, चाहे शहर में रहें, सबों को बराबर की तरक्की का मौका मिले और उसके लिए हम काम करें और मुल्क की दौलत अपने परिश्रम से, मेहनत मे बढ़ायें और देखें कि वह ठीक बँटती

है, खाली कुछ जेबों में अटक नहीं जाती, तो यकीनन हम इस मंजिल पर भी पहुँचेगें। जमाना लगता है। ये कोई जादू नहीं है, ये कोई माला जप कर हासिल नहीं कर लेना है। परिश्रम से पसीना बहाकर, कभी-कभी खून बहाकर भी यें बातें हासिल होती हैं।

"याद रखिये कि दुनिया में बहुत सारे ऐब होते हैं, बहुत सारी खराबियाँ होती हैं, लेकिन एक ऐब, एक खराबी, एक गुनाह, एक पाप, एक कमजोरी, जो कुछ कहिए, सब में बड़ी जो है वह डर है। डर से ज्यादा बुरी चीज कोई नहीं है। तो फिर इतिहास करनेवाला लिखे कि हाँ, एकदम से हिन्दुस्तान के लोग ऊपर से लेकर हिमालय से कन्याकुमारी तक, जागे और उठे। सिर ऊँचा हुआ और अपनी पीठ का बोझा उन्होंने बहुत कुछ फेंका और अपने बड़े नेता गांधीजी से सबक सीखकर, आगे बढ़कर उन्होंने हिन्दुस्तान को आजाद किया। सैकड़ों वर्षों बाद हिन्दुस्तान फिर चमका। फिर से उसकी आवाज उठी और दुनिया ने उस आवाज को सुना और उसपर असर हुआ क्योंकि वह हिन्दुस्तान की, भारत की असली आवाज थी, कोई नकली नारे नहीं थे, इधर-उधर से लिए हुए। सुना उसको, उसकी कद्र हुई और फिर क्या ? उसी हिन्दुस्तान के उन्हीं लोगों ने, जिन्होंने हिम्मत दिखायी थी, एक ख्वाब में पड़ गये, स्वप्न में, गफलत में पड़कर आपस में लड़ाई लड़ने लगे। कहीं किसी नाम से, कहीं मजहब का नाम लेकर, कहीं धर्म का नाम लेकर, कहीं जाति और कहीं जबान और कहीं सूबे का नाम लेकर। इन बातों में पड़कर आपस में लड़ रहे हैं और दुनिया ने सोचा कि क्या तमाशा है। क्या हमें धोखा हो गया था, इनका अंदाजा करने में ?

"तो यह क्या बात है कि लोग एक दूसरे से डरते हैं, असम में या बंगाल में, हमेशा के रहनेवाले। क्या बात है कि उस स्थान में, उस विचार में पड़कर परेशान होकर वह भूल जाते हैं कि असम और बंगाल से एक चीज ज्यादा बड़ी है और भारत है, हिन्दुस्तान है और जो लोग भारत को भूलते हैं, वे न बंगाल की सेवा करते हैं, न असम की सेवा करते हैं। जो लोग आज के दिन भी भूल जायें कि उनका पहला धर्म और कर्तव्य क्या है, उन्होंने अपने मुल्क के साथ वफादारी नहीं की धोखे से, गलती से। यह बात समझनी है और आज के दिन हम सबों को समझनी है और इस बात का पक्का इरादा करना है कि हम ऐसी कमजोरियों को हटायेंगे अपने मुल्क से।

"सब बातें अच्छी हैं। हमारा शहर है, हमारा सूबा है, मुहल्ला है। मुबारक हो हमको। हमारा खानदान है, परिवार है, प्रेम है हमें उससे। लेकिन जहाँ हमने अपने परिवार को मुल्क से ऊपर रखा, जहाँ हमने शहर को, प्रदेश को, भाषा को, सम्प्रदाय को, किसी चीज को हमने अपने देश के ऊपर रखा, तो देश फिर से गिरने लगा और यकीनन गिरेगा। मैं आपको याद दिलाता हूँ इसलिए कि इस बात को याद दिलाने का मौका आया, वक्त आया, क्योंकि हम भूल जाते हैं, इन बातों को, भूल जाते हैं कि किस तरह से ४०–५० बरस की मेहनत, परिश्रम, बलिदान, कुरबानी से हमने अपने देश को ढाला। हमने—मैंने तो नहीं—हमारी कौम ने गांधीजी के नीचे देश को ढाला और ढालकर उसको मजबूत बनाया। उसको एक बड़ा हथियार बनाया, शान्तिमय हथियार जिससे हम स्वराज्य लें।"

—:०:—

अनुक्रमणिका

अ

अक्कद ३, ९
अगेद ३
अमरफेल ४
अब्राहम लिंकन ५, ९८, २०१
अफ्रिका ७
अग्नि ७
अबीसीनिया ९, १०
अक्टेवियस सीजर १०
अकबर १२, ९२, ९३, ११६, १२४, १२९, १३०, १३३, १४२, १४९
अगास्टस सीजर १२-१३
अरस्तु १५, ३०, ४६, ४९, ५६
अरिस्टाटल १९, ३०, ३५
अमोराइत १९
अलेक्जेण्डर २६
अभिजात तंत्र २६, ३०, ३२, ३३, ६१, ८०, १०८, १६१
अरिस्टोक्रेसी २६
अभिजात तंत्रीय गणतंत्र २६
अलसी दमस २८
अधिनायक तंत्र ३०
अलारिक ४०
अमेरिका ५२, १६९, १७२
अफरीका ५२, ११२
अटलांटिक महासागर ७१
अरमीनियन ७१
अमोनाइट ७१
अरब ७१
अल्लाह ७२, ७३, १२५
अल फरवी ७३
अलम् ७७
अमीरुल मोमनीन ७९, ८७
अब्बासी-वंश ८०, ८१
अलबेरूनी ८१, १११
अँग्रेज ८३
अलमोराबी-वंश ८४
अमीरुल मुसलमीन ८४
अलमोराबी ८४
अलमोहद ८४
अल्तमश ८५, ८६, ११२, ११३
अलाउद्दीन मसूदशाह ८६
अमीर खुशरो ८६, ११३, ११४, १२३
अबुल अब्बास अहमद ८८
अलमालिक अलमुय्यद ८९
अलेप्पो ९२
अब्दुल हमीद प्रथम ९३
अब्दुल अजीज ९३
अब्दुल हमीद द्वितीय ९३, ९४
अबुल मजीद ९४
अल इसलाम ९५
अल अजहर विश्वविद्यालय ९५
अमीर अमानुल्ला ९५
अफगानिस्तान ९५, १०९, ११२, १२५
अरब एकता ९५
अलसपार अल कबीर १००
अबूबक्र १००
अहल अल किताब १०१
अहद १०१
अमान १०१
अशोक १०६, १०७, ११६, १३०, १६०
अन्तर्राष्ट्रीय १०७, १५८
अलप्तगीन १०९
अनंगपाल ११०, १११
अलाउद्दीन खिल्जी ११३, ११४

अल इमाम उल आजम खलीफाई-रब्बुल आलमीन ११४
अजमेर १३०
असीरगढ़ १३०
अहमद नगर १३०
अन्तर्जातीय विवाह १३१
अर्जुनसिंह १३५, १३६
अहमदाबाद १३६, १४७
अँगुली १३६
अकाताहिर १३८
अली कुली बेग १३८
अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मद-साहब किराने-द्वितीय १४१
अलीकुली १४५
अमृतसर १४७
अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद-औरंगजेब बहादुर आलमगीर-बादशाह गाजी १४९
अहमदशाह अब्दाली १५४
अनीश्वरवादी १५७, १६३
अज्ञेयवादी १५७, १५९
अलीगढ़ विश्वविद्यालय १६५
अंतर्राष्ट्रीय संयुक्तराष्ट्र संघ १६८
अन्तर्राष्ट्रीयता १६८
अनुदार दलीय १७१
अश्वौनास्तिक १७३
अल्थूथस १८२
अनंत-शयनम् अय्यंगार २२३
अम्बेदकर २२४

आ

आर्य ३
आदम ६, ४०, ४१, ५८
आचार-संहिता १४
आरकन २६
आरकन सोलोन २६
आर्क बिशप हिन्कमर ४५
आगस्तिन तीनफो ४७
आस्ट्रेलिया ५२, ११२, १६९, १८४
आल्थूसियस ५८
आनुवंशिक ७१
आस्ट्रिया ९३, १६६, १६७
आबू हनीदा १०१
आर्यधर्म १०३
आमू दरिया १०९
आगरा १२४, १३०, १४३
आलमखाँ १२५
आलमगीर जिन्दापीर १५१

इ

इरिद् ३
इरेच ३
इन्द्र ७
इनका १२
इसराइल २२, ७१
इकलीसिया २७
इपिकुरियन ३१
इपिकूरस ३५
इन्नोमेण्ट (पोप) ४७
इगिदियस कोलोन्ना ४८
इल्जरनोन सिडनी ५९
इराक ७१, ९६
इमाम ७२, ७८
इबेहाह ७२
इब्नखलदून ७३
इलहामी धर्म ७६
इमाम हसन ७९
इमाम हुसेन ७९
इजकील ८०
इब्नखलदून ८१
इज़मा ९५
इकदेशिया १०९
इब्राहिम लोदी १२५, १२६
इब्राहिमशाह सूर १२९
इसलाम कुली १४५
इटली १६६, १६७
इस्टेब्लिशड-चर्च १७०
इमरसन १७३
इसलामी राज्य १८४

ई

ईरानी साम्राज्य १०
ईसामसीह २१, २२, ३६, ३८, ७६, १६०, १७०, १७१
ईसाई २३, ७७
ईश्वरवाद ३५, १७३
ईरान ७१, १०९
ईसाडोर डी० सेविले ९८

उ

उर ३
उटोपिया ५०
उम्मा ७३.
उम्मैया शासन ८२
उम्मैया-वंश ९४
उलमा ९५
उलगूखाँ ११४
उदयपुर १३०
उदयभान १४५
उपयोगितावादी १५७

ए

एपरथीड ५
एन्टोनियो १२
एमोनाइट २२
एथेन्स २६, २७, ३०, ३३, ४२
एलिफेन्टा ३८
एविग्नोन ४८
एडोमाइट ७१
एरनाल्ड ७८
एन्टी ओच १०५
एसोसिएनिस्ट स्कूल १५८
एस्टोनिया १६७
एकलिजियास्टिकल विभाग १७१
एकेश्वरवाद १७३
एंजिल १८०
एँगलिकन चर्च १८६
एजूकेशन अधिनियम १८६
एम्सटर्डम २०३
एम० एम० टामस २०३

ऐ

ऐन्द्रजालिक ७
ऐक्यसूत्र ११०

ओ

ओसरिस १२
ओल्ड टेस्टामेन्ट २१
ओलम्पिक गेम २५
ओकम के जान ४९
ओरछा १२५
ओरिजिन एंड नेचर आफ-सिक्युलरिज्म १७६
ओरटेस १८०

औ

औरङ्गजेब ९०, ११६, ११८, १२३, १२४, १२७, १२९, १३०, १३२, १३३, १३८, १४०, १४२, १४७, १४८, १४९, १५०, १५३
औरङ्गाबाद १४४

क

कन्फ्यूसस १५, १६
कम्युनिज्म २९
कन्स्टैनटाइन ३९
करा युसुफ ९१
कमालपाशा ९५
कदा १०२
कलिंग १०७
कर्डोबिया ११२
कन्नौज ११८
कबीर १२०
कनाडा १२२, १६९
कन्धार १२५
कड़ा १५०
कराची कांग्रेस १६५
कम्युनिस्ट घोषणा पत्र १७३
कम्बोडिया १९४
क्वाकर बैपटिस्ट १९८
काशीपति विश्वनाथ ११, १३२

काइनिक ३१
काण्ट ३४
कामनवेल्थ ३५, ४०
कालविन ५५
क्वाकर ५८
क्रामवेल दल ५८
कामन ला ६३
काफिर ७२
कादिर ८२, ८३
कायम ८३
कालापहाड़ ९०
काबुल ११०
काँगड़ा ११२
कानुआ १२०
कामरान १३५
काँगड़ा दुर्ग १४१
काश्मीर १४७, २१३
कामवक्स १५४
कार्ल मार्क्स १७३, १७९, १८०
कारलाइल १७३
क्रामवेल काल १८५
किश ३
किलयोपार्टा १०
किताबिया १००
किकोबाद १२४
किलकौरी १२४
किरतपूर १४७
क्रीट १०
क्रीमिया ९३
कुरान हदीस ७०, ७८
कुरानशरीफ ७०, ७३, ७५, ७७, ७८, ९५, ९८
कुथा ३
कुंग १६
कुलीन तंत्र ३३
कुस्तुनतुनियाँ ४०, ५३, ९१, ९२ ९३, १०५
क्रूसेड ५७, ७१, ८४, ९७, १६२
कुवन ९३
कुतुबुद्दीनऐबक ८५,१११,११२,१२३
कुतुबुद्दीन मुबारक शाह ८६
कुफ्र ९७, १२७
कुर्रम ११०
कुतुबमीनार ११२
कुबते इसलाम ११२
केथेराइन द्वितीय ९३
केरेल १०४
केरेन १७१
कैथोलिक ६१, १७०
कैरों १०४
कोलम्बिया विश्वविद्यालय २०५
कौन्सिल-प्रणाली ३२
कौन्सिलियर सिद्धान्त ५०
कौटिल्य १०७

ख

खलीफा ६९
खलीफा ममून ७९
खलीफा मुवतदिर ८२
खलीफा नासिर ८३
खलीफा मुवतदी ८४
खलीफा मुस्तान्सेर ८५
खलीफा मन्तसिर ८५
खलीफा मुस्तकफी ८७
खलीफा मुस्तैन ८९
खलीफा ममलूक ८९
खलीफा मुत्तादिद खेल्लाही ८९
खलीफा मुतवक्किल ८९, ९२, १०२
खलील सुल्तान ९१
खलीफा उमरइब्न अब्दुलअजीज १०१
खलीफा अल मंसूर १०२
खालइन ७४, ८१
खातिब ८२
खाँकान ९३
खारिजी सम्प्रदाय १००
खालिद इब्न अलवलीद १००
ख्वाजा मुहम्मद इरानी १३८
खिज्रखाँ ८७, ११८, १२१
खिलफतुल मुअज्जम ९४

खिलफतुल महफूज ९४
खिलाफत ९५
खिराज ११६, १३१, १५४
खिजरी १२४
खुतवा ८२
खुसरूखां ११४
खुरासान १३८
खुर्रम १४०
खुसरो १४०
खैबर १२५

ग

गणतंत्रीय शासन-प्रणाली ५९
गधरिव ८५
गयासुद्दीन बलबन ८६, ११३
गजनी १०९, ११०
गयासुद्दीन तुगलक ११४, ११५, ११६
ग्वालियर १३०
गयासवेग १३८, १३९
गणतंत्रीय सिद्धान्त १६०
गणतंत्र १६०, १६४
गाजा १०
गाजी १२६
गान्धीवाद २०३
गान्धी-अरविन समझौता १६५
ग्रिगोरी ४६
गिबन १७३
ग्रीक सनातनी चर्च १४
ग्रीस १९०
गुजरात १०९, ११०, १४७
गुलाम १२४
गुरु ग्रन्थसाहब १३६
गुरु हरगोविन्दजी १४७, १५१
गुरु अर्जुनदेवजी १५१
गुरु तेगबहादुर १५१
गुरुद्वारा शीशगंज १५१
गुरु गोविन्दसिंह
गैलेली सागर २०
ग्लेडस्टन १७०, १७६
गैरीबाल्डी १६७
गोत्रीय १९
गो-वध १३१
गोबिन्दवाल १३६
गोलकुण्डा १४५
ग्रोटियस १८२
ग्लौसियस (पोप) ४२

घ

घजानखाँ ८९, ९०
घुमन्तू जाति १९, ७४

च

चन्द्र ७
चन्द्रवंश १२
चंगेजखाँ ८९, ११३
चम्पतराय १४६
चर्च आफ इँगलैण्ड १८५
चार्ल्समेन (सम्राट) ४७
चार्ल्स द्वितीय ५७
चार्ल्स मारटेल ७१, १०९
चाल दिहान ९१
चाँदबीबी १३०
चार्ल्स साउथ विल १५८
चार्ल्स ब्राडला १५८
चार्लस बाट १५८
चाणक्य १६३, १८०
चार्टिस्ट १७३
चांगकाई शेक १९३
चाओ-एन-लाई १९३
चित्रलिपि २, ११
चित्तौड़ ११४, १३०
चिनाब १४५
चिन्तामन मन्दिर १४७
चीन १९२
चुनार १३७
चेकोस्लोवेकिया १६६, १६७
चैतन्य महाप्रभु १२०
चौवंश १५

छ

छत्रसाल १४५, १४६, १५२
छत्रपति शिवाजी १५२, १५४

ज

जन-इच्छा ६०
जजिया ७०, ७९, १३१, १५४
जलक्का ८४
जलालुद्दीन फिरोजशाह द्वितीय ८६
जकार्त्ता ९४
जयपाल १०९, ११०
जहाँगीर ११६, १२४, १२९, १३०
१३२, १३४, १३७, १३९
१४२, १४५
जफरनामा ११८
जयचन्द १२५
जर्मनी १६६, १६७
जरमी बेन्थम १५८
जनरल डगलस मैकार्थर १८८
जॉनलॉक ६०
जाजू की लड़ाई १५४
जार्डन १६७
जान स्टुअर्ट मिल १७६
जार्ज मेसन १९८
जार्ज वाशिंगटन १९९
जिराल्ड विन्सटेनली ५९
जिम्मी ६९, १०१, १०२
जिहाद ९७
जीन बोदिन ५६
जुझारु सिंह १४५
जेलेशियन सिद्धान्त ४२
जेम्स प्रथम ५६
जेहाद ९८, १६२
जेक्सार्टस १०९
जेम्स मिल १५८
जैनुल आबदीन ११९
जैफरसन् १९९
जोन ५९
जोधाबाई १३०, १३७
जौहर ११४
जौनपुर १३०

झ

झेलम १२५

ट

टरट्लेन ४२
ट्यूनीशिया १०५
टामस होब्स ५८
ट्रूलाआफ फी मानर्की ५६
टोडरमल १३२

ड

डा० जोसेफ पारकर १७५
डा० सनहूरी ९५
डिमाक्रेसी ३०
डिओक्लीशियन ३७
डिसकोर्स ५०
डिग्गर्स ५९
डिसरैली १७१
डेड सी २१

त

तरवेज ८९
तकावत नामिरी ११३
तर्माशिरी ११५
तयशाह अब्बास १४०
तही मुराद १४१
तानाशाही ३०
ताई ८३
तिगमा १२७
तुर्की ७०, १६७
तुजून ८३,
तुघ्रिल ८३
तुघ्रिल इब्न अर्सलन ८३
तुर्किस्तान १०९, ११०, १२१
तुगलक १२४
तुगलक फिरोजशाह ११७
तुगलक अबूबक्र ११७
तुगलक मुहम्मद द्वितीय ११७, ११८
तुगलक सिकन्दर ११७
तुगलक महमूद ११७
तुगलक नसरत ११७
तुलसीदास १२०
तुगलकाबाद १२४

तेलंगाना ११३
तैमूरलंग ८७, ९१, ११७, १२२
त्रिपोलिया १०५

थ

थसाडाइडस २८
थानेश्वर १११, ११२
थामस कूपर १५८
थामस पेटर्सन १५८
थाईलैण्ड १९४
थियोक्रैसी २३
थियोडोर पार्कर १७७
थीब्स १०, ११
थुतमोस तृतीय १०
थेमली २५

द

दश्मिक ८०, ९२
दक्षिणी यमन ८५
दारुल हरब ६९, ९६, १०१, १४२
दारुल इसलाम ६९, ९५, १०१, ११५
दाउद डेविड २२
दाँते ४८
दादी खलीफा ८२
दारुल खिलाफत ९३
दारुल अहद १०२
दारुल सलह १०२
द्वारसमुद्र ११३
दारा ११६
दाराशिकोह १२३
दावरबख्त १४१
दानियाल १४१
दियोदोरस ३४
दिरहम १०१
दिग्विजय १०६
दिल्ली ११५, १३०
दिलावरखाँ १२५
दिपालपुर १२५
दीनइलाही १३३, १३४
द्वितीय विश्वयुद्ध १८९
दुर्जनशाल १४५
दुर्गाभान १४५
देवाधिराज २३, १४९, १६९, १८४
देवाधिराजतंत्र २३, ६९, ७०, ७६ ९०, १४९, १६१
दैवी २०
दौलतखाँ १२५

ध

धर्मतंत्र ६१
धर्मविजय ९७, १०६
धर्मशाली १०६
धर्मकमत् १०६
धर्मानुशषि १०६
धर्मघोष १०६
धर्मभेरी १०७
धर्मनिरपेक्ष ११३
धर्मयुद्ध १६२

न

नरेमसेन ३
नरसिंह ३
नबी २२
न्यायस्रोत ३८
नन ५७
नसफी ९४
नसरत खाँह ११८
नवाब बाई १५४
नास्तिकवाद ३५, ५७
नासिरुद्दौला ८३
नारमन १०४
नामदेव १२०
नानक १२०
नार्वे १६७
निजाम-ए-अरुदी ८१
निपुर ३
निरकुंशतंत्र ३३, ६१
निरकुंशराजतंत्र ८०, १३२
नियल्तगीन ११२
निजामुल मुल्क १५४
नील नदी ८
नुबिया ९

नरुद्दीन ८५
नूरुद्दीन उमर ८५
नेपल्स ६०
नेहरू कमेटी २१९
नैनवह ३
नैपोलियन १०, १६६
नैपोलियन साम्राज्य १८८
नौमोक्रेसी ७७
नौनाशाह ११०

प

पंचांग ९
प्लेटो १५, २८, ३०, ३५
पटैनियस ३२
प्लीवियन ३३
पगान ३७
प्लेटोनिक सिद्धान्त ४५
प्लोलेमी ४७
प्रभुसत्ता सम्पन्न ५०
परिच्छेदवाद आन्दोलन ५५
परशियन ६९, ८०
प्रशान्त महासागर ७१
पंजाब ११०
पद्मिनी ११८
पर्शिया १२१, १६६
परबेज १४०
प्रथम यूरोपीय महायुद्ध १६७
पं० जवाहरलाल नेहरू १७५
पगानिज्म २०४
पख्तूनिस्तान २१९
पाल देवानन्दम् २०३
प्राकृत जनतंत्र ३३
पादुआ ४९
पारलौकिक राज्य ५०
पाकिस्तान संविधान ७०
प्राग ७१, १२०
पाकिस्तान ७८, ९५, ९६, १७०
पान इस्लामिक ९५
पाटलिपुत्र १०७
पानीपत ११३, १२६
पाकिस्तान राष्ट्र १६७
पाक्सरोमना १६९, १७०
पाक्स ब्रिटानियाँ १७०
प्रिन्स बिस्मार्क १८०
पिरामिड १०
प्रिन्स ५०
पृथ्वीराज १११, ११२
प्रिन्स इतो १८७
पीरियूदे बोइस ४८
पुर्तगाल ३८
पुराण १०७
पुष्कर १३८
पेन १५८, १७३
पेनस्वाइल्वेनिया १९८
प्रोटेस्टेण्ट १४, १७०, १७२
प्रोटेस्टेण्ट विचारधारा ५४
प्रोटोगोरस २८
पोलेवियस ३२, ३३
पोलैण्ड १६६, १६७
पौलिटिक्स ४६

फ

फरोहा १०, १२
फ्यूडल ३९
फमाह ७२
फ्यूडलिज्म १०३, १०४
फरिस्ता १११
फतेहपुर सीकरी १२७, १४३
फरुखसियर १५४
फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति ६३, १६६, १२२, १७२
फ्रान्स १०५, १६७, १७२
फ्रान्सिस विलियम न्यूमैन १७७
फारमोसा १९२
फिलस्तीन ९, १०, २१, २४, १६७, १६८, १६९
फिलिप ३६, ३०
फितना ७६
फिरोजशाह तुगलक ८७, ९०, ११५, १३८

फिरोज तुगलक ११५, ११८
फिनलैण्ड १६७
फिडेलफिया २००
फ्रेडरिक द्वितीय १०५
फ्रैंक ८५
फ्रैंकलिन १९९
फोनीशिया २
फोनीशियन २५
फोनीशियन लिपि २६
फोरम ८२

ब

बलगेरिया ७०, १६७, १९०
बहिम्त ७७, १२६
बहुदेववादी १००
बनीशियन १०५
बंगाल विजय ११४
बर्मा १३३, १७१, १९४
बहादुरशाह १३३, १५४
बन्दा बैरागी १५४
ब्रह्मा १७७
बाइबिल ४, ६, ९, १९, ३६, ५३
बाइजेनटाइन ३९
बारबेरियन ७४
बाबर ८८, १२३, १२४, १३९, १४२
बाजौर १२५
बालहत्या १३०
बांडुंग सम्मेलन १९३
बुरहानपुर १३६
बुन्देलखण्ड १४५, १४६
बुन्देल-विद्रोह १४५, १४६
ब्रिटेन १२२, १६१, १७२
बिहिस्त ८८
बृहस्पति १६३
बिस्मार्क १६७
बीबी फातमा ७९
बीबी का रौजा १४४
बेबलोन २, ३, ९, ११, १८, १९, २८
बेबलोन सभ्यता ३
बेन्थम १७३
बैपटिस्ट ५८
बैरमखाँ १२९, १३०
बोसुएत ४१
बोसनिया ९३
बौद्ध २३, १६३, १७१
बौद्ध दर्शन १०७, १७६
बौद्ध धर्म १६०, १६१, १६३
बौद्ध संघ व्यवस्था १६१

भ

भगवान बुद्ध १, ६२, १०७, १६०
भगत सिंह २१८
भारत ९, ७८, ८५, ९६, १०२, १०७, ११०, १२५, १६७, १७०, १७१
भारतीय महासागर ७१
भारमल १३०
भारतीय राष्ट्रीयता १६७, २१८
भारतीय संविधान १७२
भारतीय राजनीति सिद्धान्त १७७
भीम १०९
भूपाल १२७
भ्रूणहत्या १३०
भेरी घोष १०६, १५२

म

मजीद ८०
महात्मा गान्धी १, १०७, १३४, १६४, १७५
महाभारत ६, १०७, २१३
महात्मा मूसा ९
मरियम अथवा मेरी २२
महात्मा सुलेमान २२, ४२
मर्कस औरिलियस ३६
मलाया ७०, ९६
मदीना ७२, ७९, ८०, १०९, १४७
मवर्दी ८१
मराठे ८३

महमूद गजनी ८४, ११०, ११२
मंगोल ८८
ममलूक ८८
मालिक काफूर ९०
महाबतखाँ ९०
ममलूक सुल्तान ९१
मक्का ९५, १०९, १४७
महीपाल ११२
मदुरा ११३
मलाबार ११३
मकबूल ११६
मलफुसोत तिमूरी ११७
मलूकदास १२०
मराठा १२४
महरौली १२४
महमूदशाह आदिल १२९
महाराणा प्रताप १३०
महोबा १४६
मनु १७७
मलिक १०१
महायान पंथी १९४
मशयूसेट्टस १९७, १९९
माता ११
मातृ सत्तात्मक ११
मानटेक्स ३२
मार्शिलियो ४९, ५८
मान्टीनिगो १६६
मार्शलपेता १८९
मित्र २, ६, ८, ९, १०, १२, १९, २२, ३२, ७१, ८५, ९६, १२०
मिथरिज्म ३७
मिल्टन ५९
मिल्लते इसलाम ६९, ७१
मिल्लत ७२
मिनावर ८२
मिलो १७३
मिस कोलेट १७५
मीराबाई १२०
मीर सैयदअहमद सैयदबहारी १४७
मुस्तकफी ८३
मुसलिम धर्म ६९
मुसलिम जाति ५
मुसलमान २३
मुहम्मद पैगम्बर ५२, ६९, ७३, ७५, ७६, ८०, ८७, ९४, ९५, ९९, १०९, १४७
मुसलिम राज्य ७७
मुआविया ८०
मुसोपटामिया ८२
मुक्तकी खलीफा ८३
मुक्ती ८३
मुवैय्या ८४
मुश्तदी ८४
मुहम्मदशाह नसीरुद्दीन ८६
मुइजुद्दीन कैकोबाद ८६
मुहम्मद इब्नतुगलक ८७
मुवारिजउद्दीन मुहम्मद इब्नमुजफ्फर ८७
मुहम्मद द्वितीय ९१
मुजफ्फरशाह द्वितीय ९२
मुस्तफा पाशा ९३
मुकातिला १०२
मुहम्मद गोरी १११, ११२
मुबारक ११४
मुहम्मद तुगलक ११५
मुलतान ११५, ११८
मुहम्मद खिल्जी ११६
मुगल १२४
मुल्ला मुर्शीद १२५
मुर्त्तजाखाँ १३७
मुहम्मदखाँ तकलू १३८
मुमताजमहल १४१, १४४
मुहज्जम १५२
मुसलिम लीग १६४, १७०
मुसोलनी १६७, १६८
मूर्त्तिपूजक ३७
मेनस् १०
मेम्फिस १०
मेदम (meydum) १०
मेनसस १७

मेकियाबेली ५०
मेजनी १६७
मेदिनीराय चन्देरी १२६, १२७
मेवाड़ १३०
मेसिडोनियाँ २६, ३०
मेसोपोटामिया १८
मेहरुन्निशा १३९
मोरमन चर्च २०१
मोबेक्रेसी ३३
मोन्क ५७
मोआबी ७१
मोसल ८३, १०४
मोरक्को ८४
मोन्टीनिग्रो ९३
मोती मसजिद १४३
मौलाना नसीरुद्दीन ११८
मौलाना आजाद १६५

य

यम ७
यहूदी ९, २१, २२, २३, ३६, ७७
यरूसलम ४०, ४२, ९५, १०३ १०४, २०३
यमन ८५
यमी तुलखिलाफल नासिर—— अमीतुल मुमनिन ८६
यमीन उव खिलाफत नासिरी—— अमीर उल मोमनीन ११४
यार्दन नदी २१
यार्दन ७१
यार्क बिशप सग्गी १७७
यार्क विशप ब्राडला १७७
यूनान २, २२, २५, ७०, १६१
यूनानी गाथा ६
यूनानी ९, ३६
यूसुफ इब्न तशद्बीन ८४
यूरोप ६, ९, ११२, १६६
यूरी पाइडस अरिस्टोफेन्स २५
यूथोपिया-अबीसीनिया १०२
यूगोस्लाविया १६७
यूकलिड १७७
यूनिफार्मेटी एक्ट १८५

र

राणाकुम्भा १२०
राजपूत १२४
राजा विक्रम १२६
राणा साँगा १२६, १२७, १२८, १३०, १३८
रक्त-मय-संघर्ष ५१
रसलिद ८५
रघुबंश १०७
रविउल आलमीन १५३
रविउल मुसलमीन १५३
रयाल चिल्टन १७३
रानी जिद्दा १०९
रामानुज १२०
रामानन्द १२०
राजिक ९५
राजा इल्खान ८९
राष्ट्र संघटन ५५
राजा खुफु १०
राहेल १९
राजतंत्र २३, २६, ३०, ३२, ६१, ७४
राष्ट्रीय राज्य ५०, १६६ १६७
राज्य-क्रान्ति ७६
रेनाँसा ५२, ५३, ५४, १८२
रेवरेण्ड श्री डब्ल्यू० एन० मत्सवर्थ १७५
रैदास १२०
राष्ट्रनिष्ठा १३४
राजा भगवानदास १३५
राजौर १३८
राजा जयसिंह १५१
रामराज १५१
राजसिंह १५२, १५३
राठौरवीर दुर्गादास १५२, १५३
राजा-राजौरी १५४
राजा अजीतसिंह १५४

राष्ट्रीय जागरण १६८
राबर्ट ओवन १७३
राज लोकतंत्रीय क्रान्तियाँ १८४
रामायण २१३
रिदानियाँ ९२
रिफार्मेशन ५२
रिवत १०१
रिचार्ड कार्टेल १५८
रुमानियाँ ९३, १६६, १९०
रूसो ५९, ६१
रूस १६६, १९०
रोजर शरमन १९८
रोमन २ ९, २२, ३२, ६९, ८०, १६१
रोमन कैथोलिक १४, १९८
रोड्स ३३
रोमन ३९
रोमन कैथोलिक चर्च ५०, १६९, १७२
रोमन ला ६३

ल

लग्श ३
लसे ३
लटेविया १६७
लक्ष्मीकान्त मैत्र २२३
ला २९, ३०
लावन्स ६१
लाल सागर १०५
लाहौर ११५, १२५
लार्ड रीडिंग १७०
लाला लाजपत राय २१८
लुथानियाँ १६७
लूक्रिटियस ३५
लूथर ५५
लेबनान २१, ७१, १६७
लेनिन १९०
लेनिनग्राद १९०
लोकतंत्रीय २३
लोकतंत्र ३२, ७७, १६१
लोकतंत्रीय उग्रवादी ५८
लोकतंत्रीय राजतंत्र ६१, १६५
लोदी बहलोलखाँ ११८
लोदी सिकन्दर ११८, ११९
लोदी इब्राहिम ११८
लोदी १२४
लौकिकवाद १५७
लौकिकता १६४
लौकिक-आन्दोलन १७८

व

वरुण ७
व्यष्टिवादी ७, ३९, ७३, १७६
वजीर ११
वजीर इकबाल ११८
वदखशां १२५
वरजीनिया १९८
वाल्डविन प्रथम १०४
वाल्डविन द्वितीय १०४
वामपन्थी ५८
वाराहमूर्त्ति १३८
वाटरलू १६६
वाक्सर १९२
विलियम मोएरवेक ४६
विलियम आकम ४७
विम्बसार १०७
विष्णुपर्वत १११
विष्णु मन्दिर १११
विधवा विवाह १३१
विक्रमाजीत १४५
विलियम मिल्टन १५८
वियना कांग्रेस १६६
विक्टर एमानुएल द्वितीय १६७
विलियम पेन १९८
विश्व चर्च कौन्सिल २०३
वीरसिंह बुन्देला १४५
वीयतनाम १९४
वुवाहिद ८३
वेल्लम जस्टुस ९८
वेजन्टाइन १०५

वेलजियम १६६
वोर सेवा ३

शरीअह ९५
शस्त्रहीन संघर्ष १००
शमशुद्दीन ११९
शहरयार १३९, १४०, १४१
शंकराचार्य १०६
शाम २
शामी २, ३, ६९
शाहरुख ८७, ९१
शाहशुजा ८९
शाहजहाँ ९०, ९३, ११६, १२९ १३७, १४०, १४१, १४२, १४३. १४५, १४७
शाहइस्माइल ९१
शाह आलम द्वितीय ९३
शाह इस्माइल द्वितीय १३९
शाह इस्माइल १४०
श्यामदेव १४५
शाहजहाँनामा १४७
शाहआलम बहादुरशाह १५४
शाहूजी १५४
शिन्तो १८८
शिया ८३, १००
शिर्क ९८
श्री हेल वेट्स १८३
श्री गण ३
श्री जियाम वलिस्ता विसो ६०
श्री जिन्ना १६४
श्री ओन् जैकव होली ओक ६५ १५८, १७२, १७३, १७५. १७६, १७९
श्री मेजनी १७५
श्री हरजेन १८०
श्री वाकुनिन १८०
श्री डोन्स्कोट्स १८२
श्री फोन्टेला १८३
श्री मान्टेसक् १८३
श्री मेडिसन १९८
श्रुति ७६
शुक्र १६३
शेख अली अब्द अलरजाक ९५
शेरशाह सूरी १२८, १२९, १३०
शेख इब्राहिम १३७
शेख अहमद सरहिन्दी १३७
शेर अफगन १३९
शैवानी १००
शैली १७३

स

सरगन ३
सन्तपाल २६
सन्त एम्बरोस ३७, ३८
सम्राट वेलेन्सियन ३७
स्पेन ३८, ८०, १०९, ११०
सन्त अगस्ताईन ४०, ४१, ४५, ९८
सन्त थामस एक्विना ४६, १८२
सर टामस मूर ५०, ५८
स्काटलैण्ड ५६
सलादिन ७१, ८४, ८८, १०४, १०५
सहावा ७६
सलजुक ८३
सय्यद ८३
सलीम ९२
सरविया ९३, १६६, १९०
संयुक्त राष्ट्रसंघ ९५
सवी १००
स्तवेवोनिक १०४
ससानी सम्राट १०९
सम्राट बलबन ११२
सलीमशाह सूरी १२९
सतीप्रथा १३१
सन्तमारिनो १६६
स्वीडन १६७
संयुक्त राष्ट्रसंघ अमेरिका १६७
स्ट्रास १७३
स्पेन्सर १७६
सम्राट जिम्मू प्रथम १८७

सम्राट मेजी १८७
सनयात सेन १९२
साल २२
साम्राज्यवादी ४०, १०७
सामन्तशाही ५७, ८३
स्वाधीनता की विधि ५९
सारडीनियाँ ७१
साउथवेल १७३
स्टालिन १८०
स्चीनीडर २०५
स्विसराष्ट्र १९६
सिय्यर ३
सिनाई ९
सिकन्दर १०, ३०
सिनेट प्रणाली ३२
सिसियो अफरीकन्स ३३
सिसरो ३३, ३४, ९८
सिन्धुनदी ७०
सिसली ७१, १०४
सिविटास ७२
सिन्ध १०९
सिद्धराज ११०
सिकन्दर लोदी ११६, ११८
स्थिथोनोजा १८२
सियालकोट १२५
सिकन्दरशाह सूर १२९
सिकन्दरा १४३
सिहोर दुर्ग १४५
सिक्यूलर १५७, १६५
स्विट्जरलैण्ड १६७, १९६
सीरिया ७१, ९६, १०९
सिख १२४
सुधार आन्दोलन ५४
सुकरात १५, २८, ३०
सुमेर १, ३, ९, १८
सुमेरु जाति २
सुरेरु लिपी ३
सुन्नी ८३, १००
सुलतान अलाउद्दीन खिल्जी-मुहम्मद शाह प्रथम ८६
सुलतान ऐबक ८८
सुलतान मुराद द्वितीय ९१
सुलतान सलीम प्रथम ९१
सुलतान कनशर धुरी ९२
सुलतान तुमानबेग ९२
सुलेमान ९२, ९३
सुलतान इब्राहिम ९३
सुलतान मुहम्मद षष्ठ बाहिदउद्दीन ९४
सुबुक्तगीन ११०, ११२
सुधार विधेयक (ब्रिटेन) १५८
सेमेटिक ३, ६९, ७१, ९९, १०३
सेमुअल २२
सेलिक गण्डोवादियन ४५
सेल्सबरी के जान ४७
सेनागाग १०२
सेलजुग तुर्फ १०३
सेखुल नबी १३४
सेलकम १५७
सेकुलराईजड १५७
सेकुलरिज्म १५७
सेकुलर एडुकेशन १५७
सैफुद्दौला ८३
सैय्यद उस्सलातीन ८७
सैयद खिज्रखाँ ११८
सैयद मुबारक ११८
सैयद मुहम्मद ११८
सैयद आलम ११८
सैयद १२४
सै युलरिस १५७
सैनिक अधिनायकतंत्र १७०

ह

हदीस ८०, ९५, १००
हम्मुरवी ३, ४, ५
हम्मुरवि शिलालेख ४
हरमोनपर्वत २१
हक्को ४७
हजरत अबूबक्र ७९
हजरत उमर ७६, ७९, ८२, १००, १०४, ११८

हजरत उसमान ७९, ८२
हजरत अली ७९, ८०, १००
हजरत आदम ८०
हलाकू ८८, ८९
हमजाबेग ९१
हरगोविन्द ९३
हजरत अली चौथा १००
हरबी १०१
हरिवंश १०७
हल्दीघाटी १३०
हसनखाँ मेवाती १२६
हरममरा १४५
हालैण्ड १६६
हाब्स ३१, ५८, ६१, १८२
हिन्दुकुश ११०
हिन्दुत्व १६१
हिटलर १६८, १८०
हिगेल १७९
हिन्दू ५, २३, १०८
हिरोडोटस १०
हित्तीन १०४
हिब्रू २२, २३
हिजरी १०९
हिरोहितो १८७, १८८
हिन्दू कोड २२४
हुमायूँ १२९, १४२
हूकर ५८
हेनरी अष्टम ५५, १७१
हेजाज १०१
हेलेन २५
हेलेनिक काल २५
हेरिगटन ५९
हेलिफेक्स ५९
हेण्डरिक वान लून ६२
हेमू १२९
हीनयानपन्थी १९४